॥ ओ३म् ॥

दर्शनानन्द ग्रन्थसंग्रह ।

ईश्वर विचार

(१)

विचारशील महात्माओ! प्रमाणादि से सत्य की परीक्षा करने वालो! आप कृपा करके मेरे इस लेख पर दृष्टि देकर विचार करें, यद्यपि मेरा विचार आप लोगों के सामने बुद्धिमत्ता का न होगा, तथापि आप अपनी सद्वृत्ति के अनुसार मेरे दोषों को मिटायेंगे। महाशयो! जब हम संसार में किसी पदार्थ को देखते हैं तो हमें उसमें दो प्रकार के पदार्थ प्रतीत होते हैं, एक परिणामी दूसरे अपरिणामी, जितने साकार पदार्थ हैं वे सब परिणामी और जितने निराकार पदार्थ हैं वे अपरिणामी हैं परन्तु जब हम इन साकार पदार्थों में प्रथम मनुष्य के शरीर को देखते हैं जो माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है बढ़ता है घटता है अन्त को नष्ट हो जाता है इस से हमें क्या अनुमान होता है कि जो पैदा हुआ है वह नष्ट होगा, जिस में परिणाम है वह पैदा हुआ है जब परिणामी पदार्थों को उत्पत्तिवाला सिद्ध कर लेते हैं तो हम व्यष्टि पदार्थ अर्थात् एक व्यक्ति को छोड़ कर समष्टि जगत् को विचारते हैं तो यह ही परिणाम प्रतीत होता है क्योंकि जिस अवयवी के अवयव परिणाम को प्राप्त होते हैं वह अवयवी भी परिणामी होता है क्योंकि सम्पूर्ण अवयवों का नाम अवयवी है जब हम इस प्रकार सूक्ष्म विचार करते हैं तो हमें जगत परिणामी प्रतीत होने लगता है हम जगत के परिणामी होने से उसकी उत्पत्ति का अनुमान कर लेते हैं यद्यपि मध्य अवस्था में उस की उत्पत्ति का बोध अनुमान के बिना नहीं होता तथापि शब्दप्रमाण से जगत उत्पन्न हुआ और जगत, संसार, सृष्टि इसके पर्याय वाचक जितने शब्द दिये जाते हैं

सब के अर्थ उत्पत्ति वाले के हैं जब हमने जगत को उत्पत्ति वाला अनुभव किया तो हमारा विचार यह होता है यह उत्पत्ति स्वाभाविक है या नैमित्तिक ? दूसरे हम जिस पदार्थ की उत्पत्ति जिस पदार्थ से देखते हैं उस का लय भी उसी पदार्थ में होता है इससे कार्य्यरूप सब पदार्थों में अनित्यता और कारणरूप पदार्थों में नित्यता का बोध होता है जब हम पंचभूतों में अर्थात् पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश में सब पदार्थों का लय देखते हैं तो उन्हीं पञ्च पदार्थों से इस जगत की उत्पत्ति का विचार करते हैं यद्यपि कार्य्यावस्था इन पदार्थों की अनित्य है परन्तु कारणावस्था में यह नित्य होते हैं जब हम जगत के उपादान कारण पंचभूतों को जान चुके तो हमको यह विचार होता है कि जगत भूतों के स्वभाव से उत्पन्न हुआ वा इसमें कोई निमित्त भी है ! अथवा जगत पंचभूतों ही से उत्पन्न हुआ व इन के विना कोई और भी पदार्थ है ? जब हम पृथ्वी को विचारते हैं तो जड़ प्रतीत होती है जल भी ज्ञान शून्य है आकाश ज्ञान से हीन है इस प्रकार के विचार से हम सम्पूर्ण भूतों को ज्ञान से रहित पाते हैं परन्तु हम संसार में जो सोने के बने भूषणों में सोने के गुण और चांदीके में चांदी के गुण पाते हैं हमको बोध होता है कि कारण गुण के अनुकूल कार्य्य में गुण रहते हैं जब भूतों में ज्ञान गुण नहीं है तो भूतों के कार्य्य रूप जगत में भी ज्ञान नहीं हो सकता और जगत में मनुष्यों को ज्ञान से युक्त देखते हैं तो शीघ्र विचार उत्पन्न होता है कि यह ज्ञान गुण किसका है ? बहुत से लोग यह कहते हैं कि पृथक् भूतों में तो चैतन्य नहीं किन्तु संयोग से उत्पन्न होता है परन्तु जो गुण एक में न रहे वह संयोग से उत्पन्न नहीं होता जैसे मैदे में मधुरता नहीं तो मैदे और जल के संयोग से मधुरता नहीं उत्पन्न होती चीनी में मधुरता है जल में मिलने से उत्पन्न हो जाती है दूसरे रेल के अञ्जनमें पृथ्वीहै जलहै अग्नि है वायुहै आकाशहै परन्तु ज्ञानशक्ति नहीं है मृतक शरीर में पांचों भूत हैं परन्तु ज्ञानशक्ति नहीं इससे निश्चय होता है कि ज्ञानशक्तिका आधार कोई दूसरी वस्तुहै जब हम इस प्रकार सृष्टिमें जड़-चैतन्यको दो स्वरूप करके विचार लेते हैं तो हमको सृष्टि में इनका संयोग और

सृष्टि में स्वभाव से संयोग है या निमित्त से ? यह विचार उत्पन्न होता है।। जब हम बाजार जाते हैं तो हमको कभी कहीं बेतरतीब ईंटें पड़ी पाती हैं तो हम जानते हैं कि यह स्वाभाविक गिरी होंगी परन्तु यदि दश एक स्थान में गिनकर ऊपर नीचे रक्खी हों तो विचार होगा कि गिन के किसी ने रक्खी हैं इससे यह सिद्ध होता है कि जहां पर नियम है वह नैमित्तिक और जो बे नियम है वह स्वाभाविक है जब सृष्टि में नियम को देखते हैं तो इसके हर एक पदार्थ में नियम प्रतीत होता है मनुष्य स्त्री के संयोग से लड़का उत्पन्न होता घोड़े घोड़ी के संयोग से घोड़ी, घोड़ी और गधे के संयोग से खच्चर इसी प्रकार सब पदार्थ नियमानुसार प्रतीत होते हैं गरमी में दश घन्टे की रात्रि होती है सर्दी में १४ घन्टे की, जिधर देखो नियम बंध रहा है फिर इसे किस युक्ति से स्वाभाविक मानें दूसरे जो स्वाभाविक गुण हैं वे सर्वदा एक रस रहते हैं वे विना किसी निमित्त के बदलते नहीं जैसे जल का स्वभाव शीतस्पर्श वाला है विना अग्नि संयोग के उष्णता न होगी सो वह उष्णता अग्नि की है न कि जल की यदि भूतों का स्वभाव उत्पत्ति मान लें तो विनाश किस का गुण होगा क्योंकि एक पदार्थ में दो विपरीत गुण तो रह नहीं सकते यदि भूतों में किसी का गुण उत्पत्ति मानलें किसी का विनाश तो भी व्यवस्था ठीक न होगी क्योंकि संयोग के समय वियोग बाधक होगा वियोग के समय संयोग जब इस प्रकार से विचार करते हैं तो भूतों के स्वभाव से जगत की उत्पत्ति नहीं होसकती इसका निमित्त कारण ज्ञानशक्तिसम्पन्न सर्वशक्तिमान् अवश्य मानना पड़ेगा जब इस प्रकार ईश्वर को मानेंगे तो यह शंका उत्पन्न होगी "लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्नतु प्रतिज्ञा मात्रेण" अर्थात् लक्षण और प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होती है ईश्वरमें प्रमाण का अभाव है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं प्रत्यक्ष के अभाव में व्याप्ति न होगी व्याप्ति के अभाव में अनुमान भी नहीं हो सकता निराकार और अनुपम होने से उपमान भी न होगा बाकी रहा शब्द प्रथम तो आप्तोपदेश से शब्द को प्रमाण माना जाता है आप्त उसको कहते हैं जो धर्म से धर्मी का लक्ष करके कहे जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसमें शब्द भी न होगा॥

उत्तर यह है कि यदि इस प्रकार प्रमाणके अभावमें ईश्वरकी सिद्धि नहीं तो प्रमाण की परीक्षा के समय प्रमाण में भी प्रमाण होना चाहिये यदि कहो प्रमाण में भी प्रमाण है तो उसका प्रमाण किस प्रमाण से है इस प्रमाण-अनवस्था दोष में पड़ जाओगे यदि कहो प्रमाण में प्रमाण नहीं तो उसकी असिद्धि है तो आपका प्रमाण जो स्वयम् साध्य कोटि में है वह दूसरे की सिद्धि में कैसे हेतु होगा यदि "मूलेमूलाभावादमूलं मूलम्" इस प्रकार प्रमाण विना प्रमाण के मान लोगे तो तुम्हारे सिद्धान्तकी हानि होगी। यदि कोई शङ्का करे कि ईश्वर ने जगत उत्पन्न किया है तो ईश्वर को किसने उत्पन्न किया है तो उसका उत्तर यह है कि परिणामी पदार्थ कार्य्य होते हैं उनको कारण की अपेक्षा होती है जब ईश्वर परिणामी हो तो उसका भी कारण हो परन्तु ईश्वर नित्य है अपरिणामी है उस का कर्त्ता नहीं होसकता यदि कोई कहे ईश्वर कहां है तो उत्तर यही ठीक है कहाँ पद एकदेशी के लिये होता है विभु के लिये नहीं बहुत लोग उस को देखना चाहते हैं परन्तु ज्ञान चक्षु के अभाव से देख नहीं सकते जैसे तिलों में तेल है परन्तु पीडने के विना दीख नहीं पड़ता, दधि में घी है परन्तु मथने के विना नहीं मालूम होता इसी प्रकार जगत् में आत्मा व्यापक है परन्तु योगाभ्यास के विना नहीं जान पड़ता जैसे दीपसलाका में आग है परन्तु घिसने के विना नहीं मालूम देती जैसे गुड़ में मिठास है परन्तु खाने के विना प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार जगत्में परमात्माहै परन्तु हमारे मिथ्या ज्ञानसे छिप रहा है प्रतीत नहीं होता।

प्यारे पाठको! अब विचार करके देखो यदि एक अन्धा रूप को देखना चाहे कौन दिखला सकताहै जब तक चक्षुका सुधार न हो। इसी प्रकार जबतक ज्ञान चक्षु न हो क्यों कर परमात्मा को देख सकते हैं यदि कोई बहरा राग सुनना चाहे कौन सुना सकता है? जब तक उसके कान ठीक न किये जायं। यदि कोई गूंगा मिठाई का स्वाद लेना चाहे कौन दिला सकता है? जब तक उसकी जीभ दुरुस्त न हो यदि जिसकी नासिका में दोष से गन्ध ग्रहण करने की शक्ति न हो कौन विना नासिका के बने फूल सुंघा सकता है इसी कारण हे पाठको! जब तक हमारे पास वह वस्तु नहीं जिससे परमात्मा जाना जाता है तो

हमको कोई भी उसका दर्शन नहीं करा सकता जब हमारी ग्रहण की शक्ति ठीक होगी तो हम देख सकेंगे, हे पाठकों ! जिस धारणावती उग्र बुद्धिसे परमात्मा देखा जाता है जब तक वह बुद्धि उत्पन्न न हो तब तक परमात्मा को कोई कभी जान नहीं सकता वह बुद्धि वेदादि शास्त्रोंके पढ़ने से शुद्ध होती है जैसे अञ्जन से चक्षु ठीक होकर देखने का काम देता है अब बहुत से महात्मा यह कहेंगे कि तुमने मन से मान लिया कि ईश्वर है क्योंकि दो वस्तुओं के संयोगसे जीव उत्पन्न होजाता है जैसे गोबर और दहीके मिलनेसे बिच्छू पैदा होते हैं फिर ईश्वर को मानना व्यर्थ है परन्तु जो लोग इसको विचारते हैं उनको ज्ञात होगाकि प्रथम तो दही भी ज्ञानवान् के निमित्त से उत्पन्न हुआ है पृथिवी से दही नहीं उत्पन्न होता, दूसरे गौ के गोबर में छोटे जीव रहते हैं वह दही से पल जाते हैं जैसे भूमि में घास की जड़ रहतीहै वह वृष्टि से बढ़ जाती है परन्तु ऊसर में घास नहीं होती इस से सिद्ध है जो वस्तु होती है वही उत्पन्न होती है पहिले कारणरूप में रहती है फिर कार्य में बदल जाती है जैसे घटके आकार का ज्ञान कुम्हारको है घट बनने की शक्ति मृत्तिका में है तब घट उत्पन्न होता है यदि कुलाल न हो या मृत्तिका न हो तो घट नहीं बनता है, पाठको ! बिना उपादान और निमित्त कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती इससे आप जगत् का कर्त्ता ईश्वर को माने बिना विचार को बढ़ा नहीं सकते परमात्मा आपको धारणावती बुद्धि दे जिससे आप तत्वज्ञान को प्राप्त होकर संसार के दुःख जाल से छूट जायें ॥ इति ॥

---:o---

ईश्वर विचार ॥

(२)

प्रिय पाठकवृन्द ! ईश्वर विचार के प्रथम भाग में ईश्वर का अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया गया है उस पुस्तक में वेद और शास्त्रों के प्रमाण इस हेतु से नहीं दिये कि उसका सम्बन्ध नास्तिकों से है और नास्तिक किसी पुस्तक को प्रमाणिक नहीं मानते ॥

अब हम ईश्वर विचारका दूसरा भाग आपके समक्ष भेंट करते हैं जिस में " ईश्वर साकार है वा निराकार " इस विषय पर विचार किया गया है।

ईश्वर का लक्षण सच्चिदानन्द है और इस शब्दमें तीन पद अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) और आनन्द हैं तीन काल में रहने वाले को सत् कहते हैं और ज्ञान वाले को चित् और तीनों काल में दुःख के अत्यन्ताभाव को आनन्द कहते हैं अब वह साकार होगा वा निराकार तात्पर्य यह है कि सत् मूर्तिमान् है या अमूर्तिमान् है ? यदि कहा जाय कि मूर्तिमान् है तो वह मूर्ति संयोग से बनी है या तत्वस्वरूप है अर्थात् सावयव है या निरवयव, यदि कहाजाय सावयव अर्थात् अनेक वस्तुओं से मिलकर बनी है तो यह प्रश्न होगा कि भौतिक है या अभौतिक यदि भौतिक है तो अवश्यमेव वह सत् भूतों का कार्य होगा जब कार्य हुआ तो किसी काल में कारणसे उत्पन्न हुआ होगा और अपनी उत्पत्ति से पूर्व काल में नहीं होगा इस से प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो उत्पन्न हुआ वह नष्ट भी अवश्य होगा और नाशानन्तर नहीं रहेगा तात्पर्य यह कि भौतिक मूर्ति होने से आदि और अन्त में न रहा केवल मध्य अवस्था में हुआ परन्तु सत् तीनों काल में रहने वाले को कहते हैं अतएव जो वस्तु एक काल में रहे वह सत् नहीं हो सकती–यदि कहा जाय अभौतिक मूर्ति है तो हो नहीं सकती–क्योंकि अभौतिक मूर्ति में दृष्टान्तका अभाव है और प्रत्यक्ष का विरोधी होने से इसमें अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और शब्द प्रमाण भी नहीं हो सकता है–यदि कहें कि निरवयव मूर्ति है तो सत् परमाणु धर्म वाला होगा और परमाणु एक देशी है अतएव सत् भी एकदेशी होगा यह भी असम्भव है क्योंकि कोई सान्त पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता अतएव सत् से सारे जगत्के नियम नहीं चल सकते परन्तु परमात्मा सारे जगत् का नियन्ता है इसलिए सत् को अमूर्त मानना पड़ेगा अब रहा चित् यह कभी मूर्ति वाला हो ही नहीं सकता क्योंकि मूर्तिमान् पदार्थ भौतिक हैं और भौतिकजड़ अर्थात् ज्ञान शून्य पदार्थ हैं चित् जो ज्ञान का अधिकरण है वह किस प्रकार जड़ हो सकता है।

द्वितीय भौतिक पदार्थ अनित्य हैं यदि चित् अनित्य है तो सत् के साथी तीन कल में किस प्रकार रह सकता है अतएव चित् भी मूर्ति वाला नहीं हो सकता—अब रहा आनन्द वह भी तीन कालमें सत्के साथ रहता है अतएव उसको भी मूर्तिवाला नहीं कह सकते।

पाठक वृन्द! उपर्युक्त लेख से सिद्ध होगया कि सच्चिदानन्द साकार नहीं प्रत्युत निराकार है और ईश्वर सर्व शक्तिमान् है साकार वस्तु सीमाबद्ध होगी और जो सीमाबद्ध होगी उस के गुण तथा शक्ति भी वैसी ही होगी और जिस की शक्ति सीमाबद्ध होगी वह सर्व शक्तिमान् नहीं हो सकता—इससे ज्ञात हुआ कि निराकारही सर्व शक्तिमान् होसकता है इसका प्रयोजन यह नहीं कि प्रत्येक निराकार सर्व शक्तिमान् है किन्तु सर्व शक्तिमान् अवश्य निराकार है बहुत से महाशय कहेंगे कि जिसका रूप नहीं वह वस्तु ही नहीं परन्तु स्मरण रहे कि वायु रूप रहित है क्या वह वस्तु नहीं बुद्धि, सुख, दुःख, गरमी, सरदी, काल, दिशा, आकाश यह सारी वस्तुयें आकार से रहित हैं क्या ये नहीं हैं?

प्रिय पाठक! ईश्वर अजन्मा और जगत् का कर्त्ता है परन्तु साकार पदार्थ स्वयं परमाणु संयोग से बना हुआ है वह किस प्रकार जगत् का आदिकारण हो सकता है, ईश्वर अमृत है परन्तु साकार पदार्थ सावयव होने से नाश वाला होता है अतएव वह अमृत नहीं हो सकता, ईश्वर सर्व व्यापक है और अनन्त है। अनन्त दो प्रकार का होता है, एक देशयोग से दूसरा कालयोग से परन्तु साकार पदार्थ सावयव और जन्य होने से कालयोग से तो सान्त ही है और सीमा वाला होने से देश योग से भी सांत होगा इस कारण कोई साकार पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता और ईश्वर अनन्त है इस कारण वह साकार नहीं।

ईश्वर निर्विकार है परन्तु साकार पदार्थ सावयव होनेसे ६ प्रकार के विकारों अर्थात् जन्म वृद्धि स्थिति परिणाम घटने और नाश होने से बच नहीं सकता अतएव ईश्वर निराकार है—ईश्वर सर्वाधार है साकार पदार्थ एक देशी होने से सर्वाधार हो नहीं सकता और दूसरे उसको स्वयं आधार

की आवश्यकता होगी–साकार मानने वालों ने स्वयं स्वीकार किया है। किसी का मन्तव्य है कि ईश्वर सिंहासन पर विराजमान है और उसी सिंहासन का आधार देवता है किसी का मन्तव्य है कि क्षीर सागर में परमात्मा शेष की शय्या पर शयन करते हैं किसी ने उसका स्थान वैकुण्ठ माना है परिणाम यह है कि साकार मानने वाले स्वयं उसको आधार की आवश्यकता मान रहे हैं।

महाशय! जब मनुष्यों में यह अज्ञान आगया कि परमेश्वर साकार है तो उसी समय उसको एकदेशी समझ कर उसके प्रबन्ध के वास्ते सहायक ढूंढने आरम्भ किये किसी ने कहा फरिश्तों के द्वारा उसके कार्य होते हैं और दुनियां में पैग़म्बर का होना तसलीम कर बैठे इतना विचार न हुआ कि पैग़म्बर के अर्थ पैग़ाम लाने वाले के हैं और पैग़ाम कुछ दूरी से आया करता है क्या कोई बतला सकता है कि परमेश्वर और मनुष्य के बीच में कितना अन्तर है जिसके कारण पैग़म्बरों की आवश्यकता हुई–नहीं २ किन्तु पैग़म्बरों पर वही फरिश्तों द्वारा प्रकट होना स्वीकार करना पड़ा अर्थात् परमेश्वर को बिलकुल असमर्थ सा बना दिया दूसरी तरफ किसी ने साकार मान कर उसको बेटा बना लिया और उसको खुदा के दक्षिण हाथ की ओर जा बिठलाया और यह न सोचा कि दायां बायां सीमाबद्ध पदार्थ का होता है सीमाबद्ध पदार्थ नाशवान् होता है अतएव परमेश्वर भी नाशवान् हो जायगा और प्रायः लोगों ने उसका सिंहासन उसके गण उसके स्त्री आदि बातें कल्पना करलीं उन्होंने वास्तव में गृहस्थी मनुष्य बना दिया है और इस प्रकार की चिन्ताओं में ग्रस्त कर दिया है कि वास्तविक उसको ईश्वर की पदवी से गिरा दिया जब यह दशा हुई तो सारे संसार में पाप विस्तीर्ण हो गया मनुष्य लोग ईश्वर से अधिक राजा और कुटुम्बियों का भय खाने लगे उन्होंने समझ लिया कि ईश्वर किसी स्थान पर होगा।

महाशयो! इस समय जो पाप संसार में विस्तीर्ण हुआ दृष्टिगत हो रहा है यह सब ईश्वर के साकार मानने से फैल गया है यदि ईश्वर को निराकार माना जाता तो संसार में पाप फैल ही नहीं सकता था

क्योंकि यह तो हम दृष्टिगत करते हैं कि जीव फलप्रदात्री शक्तिसे नित्य भयातुर होता है जैसे यदि कहीं पुलिस विद्यमान हो वहां कोई चोर चोरी नहीं करता जब पुलिस को स्वप्न में अथवा दूर समझता है तब पाप करता है कोई मनुष्य अपने माता पिता के सन्मुख व्यभिचार नहीं करता इससे ज्ञात होता है कि यदि मनुष्य को इस बात का निश्चय हो कि परमात्मा प्रत्येक स्थान में विद्यमान है और संसार की अन्धेरे से अन्धेरी गुफा परमात्मा से शून्य नहीं है तो इस दशा में वह किसी प्रकार और किसी स्थान में भी छिप कर पापकर्म नहीं कर सकता परंतु साकार मानने से तो ईश्वर एक देशी होगा और उस को सब स्थान में विद्यमान किसी प्रकार नहीं मान सकते और समीप वस्तु से बच कर निकलने के लिये मनुष्य की आत्मा कोई न कोई मार्ग निकाल लेती है जैसे ससीम राजा की ससीम शक्ति से बचने के लिये देश से भाग कर अन्य देश में चला जाना प्रथम उपाय है द्वितीय पुलीस को घूस देकर बच जाने का प्रयत्न करना द्वितीय उपाय है असत्य वादी साक्षियों से मिथ्यासाक्षी दिलाकर और अन्य मनुष्यों के असत्यवचन से लाभ उठाने का यत्न करना तीसरी युक्ति है और वकीलों के द्वारा न्यायकारियों को भ्रम में डालने का यत्न करना चतुर्थ मार्ग है इसी प्रकार अन्य भी अधिकमार्ग जो ससीम शक्ति के दण्ड के निवृत्यर्थ वर्ते जाते हैं यह सब साकार दशा में हो सकते हैं निराकार और चैतन्य शक्ति को सर्वान्तर्यामी होने की दशा में इस प्रकार का कोई यत्न लाभदायक नहीं हो सकता उस दशा में मनुष्य पाप करके सुख प्राप्ति की आशा नहीं रख सकता और दुःख की आशा रखकर कोई कार्य किया ही नहीं जाता इस से स्पष्ट विदित होता है कि निराकार के मानने से मुक्ति है साकार से नहीं क्योंकि मुक्ति ईश्वर ज्ञान के अतिरिक्त हो ही नहीं सकती और ईश्वर के साकार मानने से भी मुक्ति नहीं होसकती अतएव साकार ईश्वर में मुक्ति दाता होना जो ईश्वर का गुण है रह नहीं सकता अतएव ईश्वर निराकार है ।

महाशयगण ! युक्तियों से तो आप समझ गये होंगे कि ईश्वर

साकार नहीं क्योंकि साकार पदार्थ अनित्य और जन्य होते हैं और सर्व शक्तिमान और सच्चिदानन्द भी नहीं हो सक्ते। अब शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर निराकार है।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार मीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥
श्वेताश्वतरो०

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥ श्वेताश्वतरो०

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
सवेत्तिवेद्यंन च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम् १८
श्वेताश्वतरोप०

उससे परे बड़ा ब्रह्म है जो अशरीर सब जीवों में छिपा हुआ है सारे संसार को आच्छादन करने वाला जो एक परमात्मा ईश्वर है इसके ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

अतएव वह सबसे बड़ा है और वह सबसे रहित और अनादि है अर्थात् निराकार है और जो लोग उसको जानते हैं वह लोग अमृत्यु होते हैं और जो इसके ज्ञान से शून्य है वह सब संसार में दुःख ही भोगा करते हैं ॥ १० ॥

उस ईश्वर के हस्तपाद नहीं परन्तु वह गमन करता और पदार्थों को धारण करता है और वह चक्षु रहित है परन्तु वह देखता है और श्रोत्र रहित होकर सुनता है वह सर्व संसार का ज्ञाता है और इसका यथावत् जानने वाला कोई नहीं उसीको श्रेष्ठ तथा व्यापक पुरुष कहते हैं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
कठ०

वह परमात्मा एक है और सारे जगत् में व्यापक और सर्व प्राणियों का अन्तर्यामी जिस ने प्रकृति से इस नाना प्रकार के जगत को नाना

प्रकार के रूपों में किया और जो आत्मा में रहने वाला है जिसको धीर पुरुष प्रकृति के अन्दर व्यापक देखते हैं वही मुक्ति अर्थात् निर्विकल्प सुख को प्राप्त करते हैं अन्य नहीं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ क० । ५ । १३

वह परमात्मा नित्य पदार्थों में नित्य है अर्थात उसमें स्वरूप से अथवा ज्ञान से परिणाम नहीं है वह चैतन्य जीवों से भी चैतन्य है अर्थात् जीव अल्पज्ञ है और वह सर्वज्ञ है जो एक होकर अनेकों के अर्थ पूर्ण करता है अर्थात् संसार में कर्मों का फल प्रदाता है उस जीवात्मा में रमण करने वाले को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है अन्यों को नहीं ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु०

वह परमात्मा सब में व्यापक शीघ्र कारी शरीरसे रहित और नाड़ी आदि के बन्धन से शून्य शुद्ध और पाप से शून्य है तीन काल के ज्ञाता अन्तर्यामी और जगत में व्यापक उस परमात्मा ने निरन्तर सुखों की प्राप्तिके लिये वेदों द्वारा प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रदान किया है ।

ईशावास्यमिदँ सर्वयत्किञ्च जगत्याञ्जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यह सारा जगत और जगत के प्रत्येक पदार्थ सब ईश्वर का निवास स्थान है और ईश्वर ने सब अच्छादन किया हुआ है जो इस परमात्माको छोड़ते हैं वह जन्म मरण रूपी महा क्लेश को भोगते हैं. ईश्वर फलदाता सब का अन्तर्यामी प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है इसलिये हे जीव ! तू किसी का धन लेने की इच्छा न कर यदि तू ईश्वर को त्याग अन्य वस्तु लेगा तो अवश्य दुःख पावेगा ।

महाशयो ! जब प्रमाणों से भी सिद्ध हो गया कि ईश्वर निराकार और जगत में व्यापक है इसमें भोले भाले भ्राता यह प्रश्न करते हैं कि यदि ईश्वर निराकार है तो उसका ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता मानो उनके विचारानुसार साकार निराकार का ध्यान नहीं कर सकता अब निराकार साकार का विचार करना चाहिए कि जीवात्मा साकार है अथवा निराकार चूंकि जीवात्मा भी निराकार है अतएव निराकारका ध्यान निराकार ही करता है और जो साकार पदार्थ है उसमें निराकार गुण का ही जीवात्मा ग्रहण करता है जैसे फूल को जब देखते हैं तो प्रथम रंगका ज्ञान होता है जो निराकार है द्वितीय गन्ध का ज्ञान होताहै वह भी निराकार है तीसरे परिमाण का ज्ञान होता है वह भी निराकार है इस प्रकार जीवात्मा गुणोंके अतिरिक्त किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त नहीं करता और गुण निराकार है और जो लोग कृष्णादि महात्माओं की मूर्ति में भी ध्यान लगाते हैं वह भी निराकार गुणों का ही ध्यान होता है जैसेकि काला रंग आकार और गुण यह सब निराकार पदार्थ हैं इन्हीं का ज्ञान होता है। महाशयो ! चूंकि मनुष्य का उद्देश्य संसार में मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति दृष्टपदार्थ से हो नहीं सकती जैसा कि महात्मा कपिल जी अपने सांख्यसूत्र में बतलाते हैं।

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ १ अ० २

अर्थात दृश्य पदार्थों से अत्यन्त दुःख निवृत्ति प्राप्त नहीं होती क्योंकि दृश्य पदार्थ के संयोग से जो दुख दूर होता है वह इस पदार्थ के वियोग से फिर उत्पन्न हो जाता है यह नित्य प्रति का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है अतएव उपनिषदों में लिखा है कि देवता लोग परोक्ष अर्थात जो पदार्थ आंखों से नहीं दृष्टिगत होते अर्थात जिन को ज्ञान इन्द्रियों से न जानने योग्य पदार्थ समझते हैं अर्थात् विद्वान् लोग आत्मा जो इन्द्रियों से नहीं जाना जाता उसका प्यार करतेहैं और प्रत्यक्ष जो प्राकृत पदार्थ है उनसे घृणा करते हैं क्योंकि प्रकृति दुःख स्वरूप है अतएव इससे मिथ्या ज्ञान से राग व द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग से वस्तु की प्राप्ति का यत्न उत्पन्न होता है और इस यत्न से धर्म अधर्म दो प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं और मनुष्य

पाप और पुण्य करता है और उस पाप और पुण्यका फल दुख सुख भोगने के अर्थ जन्म मरण धारण किया जाता है जो महा दुःख रूप है महाशयों ! इससे आपको विदित हो गया कि निराकार ईश्वर और साकार प्रकृति है और साकार के संयोग से दुःख और निराकार मे सुख लाभ होता है अतएव आप ईश्वर को निराकार मानकर शान्ति की प्राप्ति करें।

ईश्वर विचार (३)

इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि विना प्रयोजन कोई मूर्ख से मूर्ख आदमी भी किसी काम को आरम्भ नहीं करता और बुद्धिमान तो सदैव अन्वेषण करके काम आरम्भ करते हैं इसलिये विचारना यह है कि ईश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये विशेष कर उन लोगों पर जो कर्मों की फिलासफी के कायल (मानने वाले) हैं जिनका सिद्धान्त यह है कि ईश्वर कर्मों का फल देते हैं और कर्म के विना कुछ नहीं मिलता आवश्यक है कि वह इस मसले (विषय) को स्पष्ट करें कि ऐसी दशा में ईश्वर की उपासना से कुछ हो सक्ता है या नहीं—प्यारे पाठक गण ! इससे पहिले कि इस विषय पर विचार किया जावे यह बात आवश्यक विदित होती है कि हम इस शब्द के अर्थ जान जावें कि ईश्वर उपासना किसे कहते हैं और वह किस प्रकार हो सकती है ईश्वर शब्द के अर्थ सब का मालिक (सर्वेश्वर) या ऐसी शक्ति के हैं कि जो सतचित्त और आनन्द के शब्द से व्यवहृत की जाती है और उपासना के अर्थ पास या समीप बैठने के हैं यहां प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या ईश्वर हमसे दूर है जिससे हमें उसकी उपासना करना चाहिये दूरी का आधार तीन दशाओं पर निर्भर होता है एक स्थान सम्बन्धी दूसरी काल सम्बन्धी तीसरी ज्ञान सम्बन्धी जैसे हमसे सूर्य लोक करोड़ों कोस दूर है तो उसको स्थान की दूरी कहते हैं या पांडवों के पांच सहस्र वर्ष पश्चात् हम लोग उत्पन्न हुये इसे काल की दूरी कहते हैं या बहुत बार हम अपने को भूल जाते हैं, या समीपकी वस्तुओं को भ्रान्ति के कारण नहीं देख सकते इस को ज्ञान की दूरी कहते हैं अब देखना चाहिये कि ईश्वर में और हममें किस प्रकार की दूरी है क्योंकि उपासना शब्द में यह सिद्ध करना हैं कि किसी

न किसी प्रकार की दूरी अवश्य है जिसके दूर करने के लिये उपासना की आवश्यकता है बहुत से मनुष्य ईश्वर और मनुष्यों में देश की दूरी मानते हैं और वह इस दूरी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं और ऐसे ही मनुष्यों ने ईश्वर के लिये किसी स्थान विशेष को नियत कर लिया है परन्तु बुद्धिमान मनुष्य ईश्वरको महदूद [परिमित] नहीं मान सक्ता क्योंकि महदूद वस्तु की शक्ति भी महदूद ही होती है इसलिये अपरिमित के साथ स्थान की दूरी तो हो नहीं सकती। यदि काल की दूरी मानलें तो भी नहीं क्योंकि समय का भेद अनित्य पदार्थों में होता है और जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य पदार्थ हैं इन में काल का फर्क भी नहीं किंतु नित्य पदार्थ की किसी वस्तु के साथ कभी कालकृत दूरी नहीं हुआ करती अब रही ज्ञान दूरी सो यह प्रत्येक मनुष्य को मानना पड़ता है क्योंकि हर एक मनुष्य ईश्वर के ज्ञान से पूर्ण परिचय नहीं रखता और जब यह सिद्ध हो गया कि ज्ञानकृत दूरी है तो अब हमें ईश्वर के ज्ञान को प्राप्त करना ही उसकी उपासना विदित होती है अब सोचना चाहिये कि दुनियां में उपासना किस की और क्यों की जाती है हम देखते हैं कि जब किसी आदमी को सर्दी सताती है तो वह गर्मी के लिये अग्नि और वस्त्र की उपासना करता है और जब गर्मी सताती है तो वह जल और ठंडी वायु और इस प्रकार की ठंडी वस्तुओं की उपासना करता है इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब हमें किसी वस्तु की उपासना से कष्ट पहुंचता है तो उसके दूर करने के लिये उसके प्रतिकूल शक्ति की उपासना करते हैं या जिस वस्तु को हम सुखदायक समझते हैं। वह जहां से मिले उसकी उपासना की जाती है। अब तो आप स्पष्ट समझ गये होंगे कि उपासना दुख से बचने और सुख को प्राप्त करने के लिये की जाती है प्यारे पाठक गण! अब सोचना यह है कि हमको दुख किस किस वस्तु से प्राप्त होता है ताकि हम उसके प्रतिकूल शक्ति की उपासना करें। जिससे दुख दूर हो जावे। जब हम संसार की वस्तुओं की ओर देखते हैं तो उनमें बहुत सी शक्तियों के होते हुये केवल दो प्रकार की शक्तियों से हमारा सम्बन्ध है। एक तो ज्ञात शक्ति है दूसरी अज्ञात शक्ति है जिन वस्तुओं का हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है वह सब की

सब अज्ञात हैं इन शक्तियों के समूह को प्रकृति के नाम से पुकारते हैं और जितनी इच्छायें हैं वे सब उत्पन्न होकर कष्ट का कारण होती हैं वह सब इसी संघात का कारण है प्रत्येक दुःख का कारण प्रकृति है परन्तु यदि विचार किया जावे कि हम ज्ञाता होते हुए भी इस अज्ञात संघात के से क्यों हो जाते हैं इसका उत्तर यह है कि हमारा ज्ञान निर्बल है; और संघात भिन्न २ प्रकार की दशाओं में दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि हमने इस को प्रथम किसी दशा में अस्वीकार भी किया हो परन्तु नूतन दशा में उसके पश्चात् हममें फिर उसकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार हम सदैव अपनी ज्ञान शक्ति को ढिलमिल दशा में देखते हैं जिससे सदैव हमको कष्ट होता है यथा एक मनुष्य ने उत्तम फल खाया जो उदर में जाकर पुरीष, मूत्र, रुधिर, अस्थि, मांस मज्जा, वीर्य इत्यादि की भिन्न २ दशाओं में परिवर्तन हो गया हमें इन वस्तुओं से पूर्ण घृणा होगई परन्तु जब यह वस्तुयें पुनः पृथिवी के नीचे से दूसरे फल के रूप में उत्पन्न होवें तो हमारा मन जो पहिली दशा हैं घृणा करता था फिर ललचाने लगा इसी भांति के व्यवहार प्रतिदिन हमारे सन्मुख प्रत्येक वस्तुओं में दृष्टि-गोचर हुआ करते हैं परन्तु हम प्रकृति के मूल कारण से परिचित नहीं इसीलिए उसकी आनन्दप्रद दशा पर आनन्दित होकर जीवन को उसके प्राप्त करने में व्यय किया करते हैं इससे न तो इच्छा ही पूरी होती है और न ही दुःख दूर होता है और हम को मन, इन्द्रिय, और शरीर की निष्फल सेवा करनी पड़ती है।

पाठकगण! अब आप समझ गये होंगे कि हमारे दुःखों का कारण प्रकृति की जड़ को न जानना है और संसार में कोई ऐसा मनुष्य नहीं कि जिसने अपनी ही अन्वेषणा (छानबीन) से प्रकृति की सम्पूर्ण दशा का ज्ञान उपार्जन कर लिया हो; अतः प्रकृति की जड़ और उसकी विरुद्ध शक्ति के न जानने से संसार में हमको दुःख हो रहा है इस कारण हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसी वस्तु को जो प्रकृति के प्रतिकूल गुणों से आने वाली हो जानने का प्रयत्न करें। और उसकी उपासना से प्रकृति से उत्पन्न हुये दुःखों को दूर करें, प्यारे पाठकगण! जब प्रकृति की दशाओं को हम देखते हैं तो विदित होता है कि प्रकृति सर्व व्यापक अपरिणामिनी और

जड़ है अतः प्रकृति की दशा से वही परिचित हो सकता है जो सब व्यापक और चेतन हो अतएव कोई जीवात्मा तो सर्वव्यापक हो नहीं सकता इस कारण सर्वव्यापक ज्ञाता एक परमात्मा है और उसी को प्रकृतिका यथार्थ ज्ञान है अतः जीव प्रकृति का यथार्थ ज्ञान उसी से मिल सकता है, दूसरे जीवात्मा दुःख सुख दोनों से रिक्त है और परमात्मा आनन्द स्वरूप है तो अब दुःख का आधार प्रकृति के सिवाय और कौन हो सकता है, जीवात्मा संसार में दुःख को छोड़ना अपने जीवन का उद्देश्य समझता है और दुःख प्रकृति के सम्बन्ध से पैदा होता है और प्रकृति के व्यापक और नित्य होने से जीवात्मा का प्रकृति से सदैव सम्बन्ध रहता है जिससे जीवात्मा सर्वदा दुख पाता रहता है दुख स्वरूप प्रकृति के विरुद्ध परमात्मा आनन्द स्वरूप शक्ति है, जिस की उपासना से जीव दुःख से छूट सकता है इस कारण जीव को परमात्मा की उपासना करनी योग्य है।

प्यारे पाठक गण! हमारे वहुत से मित्र वहुधा यह प्रश्न करते हैं कि हम ने एक वार परमात्मा को जान लिया अब प्रतिदिन उपासना कर ने की क्या आवश्यकता है। परन्तु उनको स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार सर्दी के दिनों में कोई मनुष्य अग्नि और कपड़े के कारण सरदी से छूट जावे जब उसका शरीर गर्म हो जावे तो वह अग्नि और कपड़े को फेंक दे तो अवश्य थोड़ी देर में उसे फिर सरदी सताने लगेगी और उसे दुवारा अग्नि और वस्त्र की आवश्यकता होगी इसी प्रकार नित्यप्रति ईश्वर की उपासना की आवश्यकता है। कुछ तो उपासना प्रकृतिने स्वतः ही नियत कर दी है जिससे जीव संसार में जीवित रहता है। यदि यह उपासना न होती तो पापी जीवात्मा दुःख के बोझ से पीड़ित हो जाता। परन्तु परमात्मा की कृपा से कुछ देर इसी ईश्वर को विना जाने उपासना करनी पड़ती है जिससे उसके सम्पूर्ण दुःख नष्ट होकर उसे पुनः काम करने की शक्ति आजाती है इस उपासना को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं जब कि जीव के बाह्य ज्ञान के साधन मन इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि बाह्य सम्बन्धों से दुःख पाते पाते थक जाते हैं और वह अधिक दुःख उठाने के योग्य नहीं रहते। तो वह थक कर अपना काम छोड़ देते हैं उनके काम छोड़ने से जीवात्मा से प्रकृति का सम्बन्ध छूट जाता है जीवात्मा का यह

नियम है कि वह किसी न किसी वस्तु की उपासना ज्ञान व प्रयत्न द्वारा करता रहे। इस कारण प्रकृति की उपासना के साधनों के न होने से वह अपने भीतर जाकर परमात्मा की उपासना आरम्भ करता है जिससे वह सम्पूर्ण दुखों को भूल कर आनन्द में ऐसा मग्न होता है कि उसे किसी की सुध नहीं रहती परन्तु परमात्मा की उपासना से शान्ति होकर जीव के मन, इन्द्रिय इत्यादि उस थकावट से विश्राम प्राप्त कर लेते हैं तब वह जीव को पुनः प्रकृति के पदार्थों की उपासना में लगा देते हैं-- प्यारे पाठक गण! हमारे बहुत से मित्र प्रश्न करेंगे कि इन्द्रियों को क्या आवश्यकता पड़ी कि वह आत्मा को परमात्मा से हटा कर प्रकृति की ओर लगाते हैं--उसका उत्तर यह है कि ब्रह्मानन्द सुषुप्ति इत्यादि दशाओं से प्राप्त होता है वह इन्द्रियों को अनुभव नहीं होता वह उनका विषय नहीं। और विषय का आनन्द इन्द्रियों को अनुभव होता है जिस प्रकार जगत में बहुत से दलाल व्योपारी को झूठी दूकान पर ले जाते हैं कभी सच्ची दूकान पर नहीं ले जाते क्योंकि सच्ची दूकान से उन्हें दलाली मिलने की आशा नहीं और झूठी दुकानों से दलाली अवश्य मिलती है इस लिये वह व्योपारी के हानि को जान कर भी उसे योंहीं झूठी दूकान पर ले जाते हैं ऐसे ही आत्मा के दुःख को अनुभव करके भी मन और इन्द्रिय जीवात्मा को प्रकृति के विषयों में ही लगाना चाहती है। हमारे बहुत से मित्र जो सुषुप्ति को तमोगुण की वृत्ति मानते हैं हमारी सुषुप्ति को ईश्वर उपासना मानने के विरुद्ध युक्ति प्रदिष्ट करेंगे और हमारी बात को मन घड़ंत बतलावेंगे परन्तु उनको स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा कपिल मुनि ने अपने सांख्य शास्त्र में भी इस बात को माना है वह महात्मा कहते हैं

"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" अ० ५।११६

अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द है। जीव सत् चित् है और जीव की तीन दशाओं में ब्रह्म के सम्बन्ध से आनन्द की प्राप्ति होती है अर्थात् सत चित आनन्द होता है वह तीन दशाओं में एक समाधि, दूसरी सुषुप्ति और तीसरी मुक्ति है--हमारे पाठक गण इस बात पर शंका करेंगे कि जब इन तीन

दशाओं में जीव में आनन्द आजाता है तो जीव ब्रह्म में भेद नहीं रहता ?
परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि आनन्द ब्रह्म का स्वाभाविक गुण
है। और जीव को नैमित्तिक अर्थात् ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है
जैसे गरमी के दिनों में वायु में गरमी आजाती है परन्तु गर्म स्पर्श वाली
होने से भी वायु अग्नि नहीं हो जाती इसी भांति ब्रह्म की उपासना से
जीव में—आनन्द आजाता है परन्तु जीव ब्रह्म नहीं होजाता प्यारे पाठक
गण ! आप कहेंगे कि इन ३ दशाओं में क्या भेद है ? इसका उत्तर यह
है कि जब ज्ञान रहित और शरीर सहित जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध
होता है उसे सुषुप्ति कहते हैं और जब ज्ञान और शरीर सहित जीव का
ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है तो उसे समाधि कहते हैं और जब ज्ञान सहित
और शरीर रहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो उसे मुक्ति कहते हैं अब आप
सोच सकते हैं कि जिस सुषुप्ति में ज्ञान के न होने पर भी ब्रह्म की उपासना
सम्पूर्ण दुखों को दूर करती है। क्या उस ब्रह्म की उपासना जीव को
दुःख से छुड़ाने के लिये न करनी चाहिये बहुधा मनुष्य हमारी समाधि और
सुषुप्ति की तुलना पर शंका करेंगे परन्तु स्वामी शङ्कराचार्य भी लिखते हैं
(शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो) अर्थात् प्रश्न था सुखसे कौन सोता है?
उत्तर दिया गया कि जो समाधि में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करता है।

प्यारे पाठकगण ! आप नित्य स्नान कर शरीर के मैल को दूर करते हैं
जो थोड़ी देर में पुनः लग जाता है या नित्य वस्त्र धुलवाने में जो फिर मैला
हो जाता है इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति के सम्बन्ध से सदैव अज्ञान
और पाप के मैल को प्राप्त करता है इस कारण प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष का
काम है कि इस प्रकृति से उत्पन्न होने वाले अज्ञान और पाप को दूर करने
के लिये सदैव शुद्ध विज्ञान वाले परमात्मा की उपासना किया करें,
जिससे ये मैल जमने न पाये क्योंकि यदि नित्य शरीर शुद्ध
किया जावे तो बड़ी सुगमता से मैल उतर जाता है परन्तु
मैल अधिक देर का हो जाने से बहुत कठिनता से दूर
होता है, इस भांति जब तक पाप का स्वभाव पुष्ट नहीं हो जाता तब तक
थोड़ी देर तक उपासना करने से भी जीव के मन के भाव बुराई की ओर
कम चलते हैं परन्तु उनके स्वभाव बुरे होगये तो बहुत कठिनतासे यह पाप की

टेव छूटती है प्यारे पाठकगण ! चूंकि प्राकृत नियम है कि वस्त्र बिना परिश्रम के मैला हो जाता है परन्तु उसके शुद्ध करने के लिये परिश्रम की आवश्यकता है अब आप समझ गये होंगे कि प्रकृति और विषयों का सम्बन्ध तो जीव को सदैव स्वयं होता रहता है जिससे जीव को सदा दुःख ही प्राप्त होता है अब इस दुःख से छुटने के लिये जीव को पुरुषार्थ कर के परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। प्यारे पाठकगण! यह भी आपको विदित रहे कि मन किसी न किसी पदार्थके साथ सम्बन्ध अवश्य रखताहै यदि परमात्मा की उपासना न करेंगे तो प्रकृतिकी उपासनासे अवश्य दुःख मिलेगा, चूंकि मन प्रकृति की प्रत्येक वस्तुको इयत्ता पर पहुंच जाताहै इस कारण वह प्रकृति की उपासना से शांत नहीं होता और एक वस्तु को छोड़ने दूसरी को प्राप्त करने में जो पुरुषार्थ होता है उसके मन के विचार थक जाते हैं परन्तु परमात्मा की इयत्ता को मन किसी प्रकार भी नहीं जान सकती इस कारण परमात्मा की उपासना में मन को छोड़ना और ग्रहण करना नहीं पड़ता इस कारणमन इस गहरे समुद्र में डूब जाता है जहां उसे तनिक सी भी थकावट और दुःख का अनुभव नहीं होता।

प्यारे मित्रो! अब आप समझ गये होंगे कि ईश्वर की उपासना के बिना मनुष्य अपने अभीष्ट स्थान को कभी प्राप्त नहीं कर सकता और न ही संसार के दुःखों से छूट सकता है यद्यपिबहुत से मनुष्य विषयों में भी सुख मानते हैं परन्तु यह उनकी भूल है क्योंकि विषय में तनिक भी सुख नहीं है हमारे बहुत से मित्र कहेंगे कि यदि विषयों में सुख नहीं तो लोग किस प्रकार विषय सुख मानते हैं, इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार कुत्ते के मुंह में हड्डी होती है और उसके मुह से जो रुधिर निकलता है वह उसको समझता है कि यह रुधिर हड्डी से मिल रहा है इस प्रकार जब विषय में कुछ समय मन एकाग्र होता है तो मनुष्य को सुख अनुभव होता है यथार्थमें सुख तो मनके एकाग्र होने सेमिला था परन्तु मनुष्य समझते है कि विषय में सुख मिला है

प्यारे मित्रो। संसार में प्रकृति और परमात्मा के सिवाय जीव का सम्बन्ध किसी वस्तु से नहीं होता है और प्रकृति से दुःख मिलता है और

परमात्मा से सुख प्राप्त होता है इस कारण जीवात्मा को सदैव परमात्मा की उपासना अर्थात उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जब जीवात्मा और परमात्मा को जान जावोगे तो पाप कर्मों से स्वयं घृणा हो जावेगी जब पाप से घृणा हो गई तो कष्ट कभी उत्पन्न न होगा इस लिये संसार में मनुष्य का बहुत भारी कर्तव्य परमात्मा को जानना है जिसके जानने से फिर दुःख की आशा नहीं रहती, फिर पाठकगण आप विचार कर लीजिये कि मनुष्य को कहां तक ईश्वर उपासना की आवश्यकता है और इस उपासना से कितने लाभ होवे हैं, हमारे बहुत से लोग कहते हैं कि जब ईश्वर उपासना से किये हुये कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है तो फिर उपासना से क्या होगा। परन्तु उन को स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर उपासना से यद्यपि पाप को फल भोगते हुये भी कष्ट नहीं अनुभव होता क्योंकि दुःख का अनुभव करने वाला मन परमात्मा की उपासना में लगा है इस लिये कष्ट किस को अनुभव हो।

इति शम्।

ईश्वर प्राप्ति (१)

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्॥
तमेव विदित्वा ऽतिमृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय
(यजु० ३ ॥ १८)

इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीवों को मोक्ष के साधन का उपदेश करते हैं, और बतलाते हैं कि संसार में मोक्ष के बहुत से साधन नहीं किन्तु जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा साधन नहीं हो सकता और नहीं सरदी को दूर करने के लिये गरमी के अतिरिक्त और वस्तु से काम चल सकता है इसी प्रकार संसार में मनुष्य के जीवनोद्देश्य अर्थात दुःखों से छूटने का या आगे को दुःख न उत्पन्न होने का नाम मोक्ष बतलाते हुये उसके एक साधन को (क्योंकि दूसरा हो ही नहीं सकता) उपदेश करते हैं कि—तुम सर्वव्यापक परमात्मा को जानो जो परमात्मा सूर्यवत् प्रकाशमय है जिससे किसी प्रकार के अज्ञान या

दोषादि का सम्भव ही नहीं; जो सर्व प्रकार के दूषणों से पृथक् है। उसी परमात्मा को जानने से ही मृत्यु का अति क्रमण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष के लिये कोई दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता। वेद के इस मन्त्र को सुनते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि—

"लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न तु प्रतिज्ञामात्रेण

अर्थात् जब तक किसी वस्तु का लक्षण न कहा जावे और उसकी सत्ता के लिये कोई प्रमाण न उपस्थित किया जावे तब तक उसकी सत्ता प्रतिज्ञामात्र से सिद्ध नहीं हो सकती इस कारण जब तक ईश्वर का लक्षण न किया जावे तब तक "उस के जानने से मुक्ति होती है और परमात्मा के जानने के अतिरिक्त मोक्ष नहीं हो सकता प्रतिज्ञा मात्र ही है,, इस सिद्धान्त को लेकर महात्मा व्यास जी अपने वेदान्तदर्शन में ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—

जन्माद्यस्य यतः" । वे० द० १ । १ । २

अर्थ—जिस से इस संसार का जन्म स्थिति और नाश होता है वह ईश्वर है अर्थात् जो इस सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला और नाशकरनेवाला है वह ईश्वर है इस लक्षण को सुनते ही वादी शंका करता है कि तुम्हारा यह ईश्वर का लक्षण ठीक नहीं क्योंकि यह संसार अनादि है जब तक जगत की उत्पत्ति सिद्ध न की जावे तब तक ईश्वर का यह लक्षण किस प्रकार ठीक हो सकता है इस कारण से कि वादी का दावा जगत को अनादि मानने का है इस पर यह प्रश्न होता है कि जगत स्वरूप से अनादि है,या प्रवाह से ? यदि यह कहो कि जगत स्वरूप से अनादि है यह तो किसी दशामें सत्य हो ही नहीं सकता इस दशा में जगत को अविकारी अर्थात् ६ विकारों से पृथक होना आवश्यक है। वह विकार ये हैं कि "जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमते क्षीयते विनश्यति,, जिस वस्तु में इन ६ विकारों में से कोई पाया जावे वह अनादि नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्ष में भी इन ६ विकारों का उत्पत्तिशील वस्तु में ही होना पाया जाता है। जैसे एक बालक उत्पन्न होता है, बढ़ता है युवावस्था पर्य्यन्त बढ़कर बढ़ना बन्द हो जाता है, फिर मूंछ डाढ़ी का निकलना, शरीर में भोजन

का आना फिर पक कर निकल जाना आदि विकार होते रहते हैं पश्चात वृद्ध होना अर्थात् घटना आरम्भ होता है और अन्त को मर जाता है यही दशा एक वृक्ष की है, वह बीजसे छोटा सा अंकुर निकलकर उत्पन्न होता है फिर बढ़ता है, फिर एक अवधि तक बढ़कर बढ़ना बन्द हो जाता है फिर पतझड़ और बसन्त के कारण कभी हरा भरा होकर फल लाता है कभी शुष्क होकर नंगा हो जाता है । अन्त को नाश हो जाता है यह आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु में छहों विकार एक साथ ही हों किन्तु अपने अपने समय में एक या दो ही रहते हैं। जो उस वस्तु में अपने दूसरे सहचारियों के होने को सिद्ध करते हैं जब कि हम सम्पूर्ण जगत को विकार वाला अनुभव करते हैं तो उसको किस प्रकार अनादि स्वीकार कर सकते हैं ? अनादि वस्तु के लिये निर्विकार अर्थात् बढ़ने घटने से पृथक होना आवश्यक है। जब कि यह सृष्टि किसी प्रकार भी विकार रहित सिद्ध नहीं होती तो किसी प्रकार यह स्वरूप से अनादि नहीं कहला सकती । यदि कहो कि प्रवाह से अनादि है तो इस प्रवाह के चलाने वाले का होना (अर्थात् जो किसी समय बनावे और किसी समय न बनावे उचित है।) इस पर वादी यह कहता है कि यद्यपि जगत में भिन्न भिन्न वस्तुयें दशा बदलती हुई दीख पड़ती हैं परन्तु समष्टि सृष्टि की दशा नहीं बदलती इस कारण सृष्टि को स्वरूप से अनादि मानना ठीक है। यहां पर हम वादी से पूछते हैं कि वास्तव में सृष्टि इन सब वस्तुओं के समूह का नाम है या कोई दूसरी वस्तु है ? यदि कहो कि वस्तुओं के समूह का नाम सृष्टि है तो जिस समूह के अवयव दशा बदलते हैं वह समूह विकार रहित नहीं हो सकता जैसे एक मनुष्य के हाथ, पांव, उदर, शिर आदि सम्पूर्ण अवयव निर्बल होगये यदि वह कहे कि मेरा शरीर निर्बल नहीं हुआ उसे मूर्ख ही कहना पड़ेगा क्योंकि इन अवयवों के समूह के अतिरिक्त शरीर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस कारण सृष्टि के सम्पूर्ण अवयवों को विकारी मानकर सृष्टि को समष्टिरूप से निर्विकार बतलाना सर्वथा अज्ञानता है यदि वादी कहे कि इन वस्तुओं के समूह के अतिरिक्त सृष्टि कोई दूसरी वस्तु है तो उस की सत्ता का प्रमाण देना चाहिये। वादी कहता है कि यदि सृष्टि के प्रत्येक वस्तु के

उत्पत्तिमान होने से और उस का नाश देखने से सृष्टि को उत्पत्तिशील ही स्वीकार किया जावे तो भी उस का कर्त्ता ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि स्वभाव से उत्पन्न होती है स्वभाव के अतिरिक्त सृष्टि का उत्पादयिता कोई नहीं। वादी की इस शंका में भी "कि सृष्टि का उत्पन्न करने वाला स्वभाव है" यह वादी की प्रतिज्ञा है। इस कारण इस प्रतिज्ञा की परीक्षा आवश्यक है इस स्थान पर यह प्रश्न होता है कि स्वभाव द्रव्य है या गुण है? यदि वादी कहे कि स्वभाव द्रव्य है तो उस के गुण क्या हैं? यदि कहे गुण है तो किस द्रव्य का है? दूसरे, गुणों से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि द्रव्य है इसका कारण कोई द्रव्य ही हो सकता है। वादी कहता है कि स्वभाव गुण है जो प्रकृति में रहता है प्रकृति के विशेष मिलाप से सम्पूर्ण वस्तुएं उत्पन्न हो जाती हैं अब हम वादी से कहते हैं कि अभ्युपगम सिद्धन्तानुसार हम स्वभाव को प्रकृति का गुण मान कर उस से सृष्टि की उत्पत्ति मान लेवें तो नाश किससे होगा क्योंकि उत्पन्न होना और नाश होना ये दो विरुद्ध गुण हैं जो किसी एक जड़ वस्तु में रह ही नहीं सकते अब वादी इसका उत्तर देता है कि प्रकृति में संसार के नाश और उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है उत्पत्ति संयोग या मिलापसे होती है प्रकृति के अन्तर्गत जल है जिसका गुण संयोग है और दूसरी वस्तु प्रकृति में अग्नि है जिसका काम विभाग करना है इस कारण जल से मिलाप होकर वस्तुओं की उत्पत्ति और अग्नि से अवयव छिन्न भिन्न होकर वस्तुओं का नाश हो सकता है। इस कारण अग्नि और जल दो प्रकार की वस्तुयें प्रकृति के अन्तर्गत होने से विरुद्ध गुणों की एकता का दोष इस स्थान पर नहीं घटता" वादी के इस उत्तर को सुन कर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रकृति में उत्पन्न करने और नाश करने की शक्तियें तीन दशाओं रह सकती हैं या तो उत्पन्न करने की शक्ति अधिक और नाश करने की शक्ति न्यून हो या दोनों सम हों। परन्तु प्रकृति से जगत की उत्पत्ति आदि का होना इन दशाओं में असम्भव है। चौथी कोई हो ही नहीं सकती। यदि वादी उत्पन्न करने की शक्ति अर्थात् संयोग को अधिक मानेगा तो प्रत्येक वस्तु बढ़ती ही चली जायगी। कोई वस्तु घटेगी नहीं क्योंकि जिस क्षण में संयोग की शक्ति की अधिकता

से उस वस्तु में पाँच परमाणु मिलेंगे उस क्षण में विभाग अर्थात् घटने की शक्ति के कम होने से चार परमाणु पृथक होंगे अर्थात् प्रति क्षण एक परमाणु बढ़ता जायगा घटने का अवसर कभी आवेगा ही नहीं परन्तु यह प्रतिज्ञा सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि सृष्टि में वस्तु घटती बढ़ती दोनों दशाओं में पाई जाती है जो ऐसा मानना असम्भव है इसलिये यह प्रतिज्ञा स्थिर नहीं हो सकती कि प्रकृति में उत्पन्न करने की शक्ति अधिक हो। दूसरे यदि नाश करने की शक्ति अधिक मानी जावे और उत्पन्न करने की शक्ति न्यून तो उस दशा में जिस क्षण में पांच परमाणु पृथक होंगे और चार मिलेंगे तो इस दशा में प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु से एक परमाणु घटता ही चला जायगा कोई वस्तु बढ़ेगी नहीं। परन्तु यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध प्रतीत होती है। क्योंकि जगत में बहुत वस्तुयें बढ़ती हुई दृष्टिगत होती हैं। तीसरी दशा यह है कि दोनो शक्तियें तुल्य स्वीकार की जावें उस दशा में जिस क्षण में एक वस्तु में पांच परमाणु संयुक्त होंगे उसी क्षण में पांच ही वियुक्त होंगे क्योंकि दोनो शक्तियें अव्याहत और तुल्य काम कर रही है इस दशा में सृष्टि की कोई वस्तु न बढ़ेगी और न घटेगी किन्तु सर्व सृष्टि एक ही दशा में रहेगी यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से स्पष्ट असत्य है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु सृष्टि में एकसी नहीं दीखती सब बढ़ती घटती हुई पाई जाती है जैसा दिन कल था वैसा आज का दिन नहीं है क्योंकि उस से अनुमान डेढ़ मिनट के अधिक होता है आज की रात कल की रात के बराबर नहीं कि वह उस से न्यून होगी इस प्रकार विचार करने से भली प्रकार बोध होता है कि स्वभाव से उत्पत्ति का होना असम्भव है। दूसरे संयोग और वियोग दोनों गुण कर्म से उत्पन्न होने वाले हैं और कर्म्म प्रकृति का स्वभाविक धर्म्म है या नैमित्तिक यह प्रश्न होता है? यदि कर्म प्रकृति में स्वभाविक धर्म मान लिया जावे तो कोई वस्तु स्थिर नहीं पावेगी क्योंकि स्वाभाविक धर्म किसी वस्तु का रुक नहीं सकता परन्तु यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि हम बहुत वस्तुओं को स्थिर देखते हैं। अब वादी कहता है कि कर्म प्रकृति का स्वभाविक धर्म है परन्तु जिन वस्तुओं को हम स्थिर देखते हैं उनको की आकर्षण शक्ति ने रोका हुआ है यह प्रतिज्ञा भी प्रत्यक्ष के

विरुद्ध होगी फिर कोई आकृत वस्तु चलती हुई नहीं दीखेगी क्योंकि पृथिवी की आकर्षण शक्ति उस पर भी प्रभाव डालती है जैसे एक गाड़ी चल रही है दूसरी स्थिर है पृथिवी की आकर्षण शक्ति दोनों पर तुल्य प्रभाव रखती है। प्रकृति में कर्म को स्वाभाविक धर्म माननेसे एक का चलना और दूसरी का न चलना किस प्रकार सम्भव हो सकता है उक्त दोषों के अतिरिक्त पृथिवी भी प्रकृति से बनी है वह भी गति वाली होने से किसी नियम के आधीन नहीं हो सकती उसका प्रत्येकपरमाणु गति शील है इस कारण उनका संयोग होही नहीं सकता क्योंकि पृथिवी के प्रत्येक परमाणु में उनका स्वभाविक धर्म जो कर्म है उसे पृथक करने के लिये उपस्थित है जिस से पृथिवी काआकर्षण भी नहीं हो सकता इस पर वादी कहता है कि प्रकृति का प्रत्येकपरमाणु गतिमान है और पृथिवी का आकर्षण उनको रोके हुए है जिसको दूसरी शक्ति अर्थात अग्नि आदि से सहायता मिलती है वह पृथिवी की शक्ति को दबाकर चली जाती है जिसको सहायता नहीं मिलती वह रुकी रहती है।अबफिर प्रश्न होता हैकि दूसरी शक्ति जिसकी सहायतासे एक गाड़ी चलतीहै और दूसरी उसकी सहायतान होनेसे रुकी हुईहै यह सहायता देना उस शक्तिका स्वाभाविकधर्म है या नैमित्तिक? यदिकहो स्वाभाविक धर्म है तो उस को दोनों गाड़ियों को सहायता देनी चाहिये जिस से दोनों गाड़ियां चलेंगी या स्थिर रहेंगी एक का चलना एक का न चलना दोनों असम्भव हैं इस कारण जगत को उत्पत्तिमान और ईश्वर को उस का उत्पन्न करने वाला मानने के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से व्यवस्था होही नहीं सकती। इसी अवसर पर वादी फिर शङ्का करता है कि यदि यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि कोई जगत का कर्त्ता है तो उस के होने में प्रमाण क्या है? क्योंकि यदि उस के होने में कोई प्रमाण होतो उसके जानने से मुक्ति हो सकती है परन्तु जिसके होने में कोई प्रमाण ही नहीं तो उसको किस प्रकार जान सकते हैं? क्योंकि ईश्वर का तीन काल में प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं और जिसका प्रत्यक्ष न हो उसे अनुमान से कैसे जान सकते हैं? क्योंकि प्रत्यक्ष से व्याप्ति अर्थात सम्बन्ध को जान कर फिर उसके अनुसार अनुमान होता है और जिसका प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से

ज्ञान न हो उस के लिये शब्द प्रमाण होही नहीं सकता जब ईश्वर को प्रमाण से जान नहीं सकते इस लिये ईश्वर का होना सत्य नहीं और न हीं उसके जाननेसे मुक्ति ही हो सकतीहै परन्तु जब वादी से पूछते हैं कि क्या जिन वस्तुओंका इन्द्रियोंसे ज्ञान न होवे वह नहीं होती, यदि ऐसा मानो तो जिन इन्द्रियोंसे न दीखने से तुम ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हो उन इन्द्रियों को किस प्रमाण से जानते हो ? यदि कहो इन्द्रियों को इन्द्रियों से देखते हैं तो आत्माश्रयदोष है अर्थात् स्वयं ही दृश्य वस्तु और स्वयं ही देखने का साधन नहीं हो सकता यदि कहो हम दर्पण में अपनी आँख को देखते हैं इस लिये आंख का होना आंखसे ही प्रतीत होता है परन्तु यह कथन सत्य नहीं क्योंकि दर्पण में आंख नहीं दीखती किन्तु आंख का आभास उससे अनुमान के द्वारा जानना तो मान सकते हैं परन्तु यह कहना कि आंख से आंख को देखते हैं सत्य नहीं किन्तु आंख से आंख के आभास को देख कर उससे आंख के होने का अनुमान करते हैंकि यह सत्य होगा अस्तु आंखका तो अनुमानसे ही ज्ञान होगया परन्तु रसनेन्द्रिय का किससे ज्ञान होगा ? न तो वह रूप है जो आंख से दीखे और न शब्द है जिस का कान से ज्ञान हो प्रयोजन यह है कि रसना इन्द्रिय का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं हो सकता ऐसे ही अन्यइन्द्रियों की दशा है जिन इन्द्रियों से न दीखने के कारण परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते वे तुम्हारी इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष नहीं तो तुम्हारा सिद्धान्त स्वयमेव खंडित होता है इस के अतिरिक्त जो पुरुष ऐसा विचार रखते हैं कि प्रत्यक्ष ही सब प्रमाणों का मूल है और जिस वस्तु का प्रत्यक्ष न हो उसका अभाव है वे बहुत ही भ्रान्ति में पड़े हैं क्योंकि प्रत्यक्ष से किसी वस्तु का अनुमान के बिना ज्ञान होही नहीं सकता प्रत्येक वस्तु के एक ही भाग का प्रत्यक्ष होता है शेष का अनुमान से ज्ञान हुआ करता है। जब केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जावे तो किसी वस्तु का भी ज्ञान न होगा, दूसरे अनेक ऐसी दशा हैं कि जिनके कारण वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता प्रथम अति समीप होने से जैसे नेत्र में सुर्मा होता है परन्तु वह नहीं दीखता दूसरे बहुत दूर होने से जैसे लन्दन यहां से नहीं दीखता तीसरे अति सूक्ष्म होने से जैसे

परमाणु दृष्टि में नहीं आते चौथे=अतिस्थूल होने से जैसे हिमालय पहाड़ सम्पूर्ण नहीं दीखता पांचवे=वस्तु और इन्द्रिय के बीच में व्यवधान होने से जैसे आंख पर हाथ रखने से कोई भी वस्तु नहीं दीखती अथवा भित्ति (दीवार) के दूसरी ओर की वस्तुएं नहीं दीखती छठे=इन्द्रियों में दोष हो जाने से जैसे अन्धे को रूप का ज्ञान नहीं होता और बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता इत्यादि सातवें=मन के अव्यवस्थित होने से भी नेत्रों के सामने चली जाने वाली वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता जब कि इन सात दशाओं में विद्यमान वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं होता तो प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करना सत्य नहीं किन्तु ईश्वर के होने में अनुमान और शब्द प्रमाण विद्यमान हैं। वादी शङ्का करता है कि अनुमान किस प्रकार हो सकता है क्योंकि जब तक व्याप्ति का ज्ञान न हो तब तक अनुमान नहीं हो सकता और व्याप्ति प्रत्यक्ष से ग्रहण की जाती है ईश्वर का प्रत्यक्ष हुआ नहीं इस लिये व्याप्ति के न होने से अनुमान नहीं हो सकता परन्तु वादी का यह कथन सत्य नहीं क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि प्रकृति में क्रिया नहीं जब तक चेतन उसको क्रिया देता है तब तक ही क्रिया होती है। जिसका प्रमाण मृतक और जीवित शरीर को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है अर्थात जब तक क्रिया देने वाला चेतन क्रिया दे रहा था तब तक यह शरीर क्रिया कर रहा था और जब चेतन पृथक हो गया तब वह शरीर जो प्रकृति से बना था क्रिया शून्य हो गया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राकृतिक वस्तु में क्रिया चेतन के बिना नहीं हो सकती दूसरे जिस क्रिया में नियम पाया जावे वह तो किसी प्रकार नियम बनाने वाले के बिना हो ही नहीं सकती। घड़ी १२ घण्टे के पश्चात् अपने उसी स्थान पर आ जाती है और जो घड़ी एक सप्ताह में चाबी लेती है वह एक सप्ताह में, इन उदाहरणों के होने से सम्यकतया विद्वान घड़ी बनाने वाले का होना प्रतीत होता है कोई मनुष्य भी जिस की बुद्धि हो घड़ी को उत्पत्तिमती मान कर किसी अचेतन वस्तु से बनाई हुई नहीं जानता यद्यपि घड़ी बनाने वाले को घड़ी बनाते हुए प्रत्यक्ष नहीं देखा परन्तु अनुमान से घड़ी के कर्त्ता का होना उसे निश्चय हो जाता है क्योंकि स्वाभाविक क्रिया वाली वस्तु में लौट कर उसी स्थान पर आने का नियम हो नहीं सकता जैसे कि

इञ्जन में भाप के होते हुए आगे चलना और किसी कल के बिगड़ जाने से रुक जाना भी सम्भव है परंतु अपने स्थान पर लौट आना किसी प्रकार सम्भव नहीं जब तक कोई चेतन न लौटावे। इस लिये जिन वस्तुओं की कुछ दिनों के पश्चात् फिर उसी स्थान पर आने की शक्ति है, वह अवश्य ही चेतन के नियम से बंधी हुई हैं इस लिये सृष्टि के सम्पूर्ण भूगोल नियम के आधीन देखने में आते हैं चन्द्रमा सूर्य पृथिवी और तारागण सब के बीच में नियत क्रिया के अतिरिक्त और किसी प्रकार का नियम प्रतीत नहीं होता जिस के नियमों की परीक्षा हम सौ वर्ष पहिले से ही कर सकते हैं कि अमुक तिथि में इतने बजे सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण होगा जिस प्रकार हम घड़ी को देख कर प्रतीत कर सकते हैं कि इतनी देर के पश्चात् घड़ी की सुइयें अमुक स्थान पर मिल जायेंगी ऐसे ही सूर्य और चन्द्र ग्रहण भी नियम के आधीन होने से हमें पहले से प्रतीत हो सकते हैं जब कि घड़ी को बनाने वाला चेतन मनुष्य हमें सृष्टि में दीखता है जिस से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को जान कर हम कह सकते हैं कि इस नियम पूर्वक जगत् को बनाने वाला चेतन परमात्मा है जिस प्रकार घड़ी को नियम पूर्वक चलती हुई देख कर उस के बनाने वाले को जो पाताल यानी अमेरिका आदि में हो भारत वर्ष में कभी आया ही नहो दूर होने के कारण न देख कर हम यह कभी नहीं कहते कि इस घड़ी का कर्त्ता कोई नहीं यह अनादि है।

ऐसे ही यद्यपि अति समीप होने के कारण तथा अति सूक्ष्म होने के कारण हम प्रकृति जन्य आंखो से परमात्मा को नहीं देख सकते तो उसके नियम से कामों को देख कर उस की सत्ता की प्रतिती होती है इस अवसर पर वादी यह कहता है कि यदि तुम अनुमान से ईश्वर को जगत् कर्त्ता बतलाओ बहुत से दोष आवेंगे प्रथम ईश्वर राग अर्थात् इच्छा से सृष्टि उत्पन्न करता है वा इच्छा के बिना यदि कहो इच्छा से तो इच्छा दुःख से छूटने और सुख की प्राप्ति की होती है या न्यून वस्तु को सम्पूर्ण करने की जब ईश्वर में इच्छा होगी तो वह अपूर्णकाम हो जायगा जिस से कि ईश्वर और सांसारिक मनुष्यों में कोई भेद नहीं रहेगा यदि कहो राग अर्थात् इच्छा नहीं तो विना इच्छा के कोई काम नहीं हो सकता क्योंकि इस के लिये सृष्टि में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जो जैनी इस प्रकार

की शङ्का करते हैं हम उन से यह प्रश्न करते हैं कि तुम्हारे जिन तीर्थङ्करों ने तुम्हारे शास्त्र बनाए हैं वे राग अर्थात् इच्छा वाले थे वा इच्छा रहित थे यदि कहो इच्छा वाले थे तो राग द्वेष आदि मिथ्या ज्ञान के कार्य हैं जैसा कि न्यायदर्शन में लिखा है—

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ अ० १ सू० २ आ० १ ॥

अर्थ—यहां पर प्रश्न यह था कि तत्वज्ञानसे दुःखका विरोध है या नहीं यदि तत्वज्ञान और दुःखमें विरोध नहीं तो तत्वज्ञान से दुःख का नाश किस प्रकार होगा ? क्योंकि नियम यहहै कि जो विरोधी होताहै वह नाश करने वाला होता है अन्धकार का नाश करने वालासूर्य के प्रकाश से अतिरिक्त और कोई नहीं होता इस के उत्तर में महात्मा गौतमजी कहते हैं कि तत्वज्ञान मिथ्या ज्ञानका विरोधी है जब तत्वज्ञान होगा तो मिथ्या ज्ञान का नाश हो जायगा और मिथ्या ज्ञानके नाशसे उससे उत्पन्न होने वाला दोष अर्थात् राग और द्वेष नहीं होंगे इस सूत्रसे स्पष्टप्रकटहैकि राग द्वेष मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं जहां मिथ्या ज्ञान है वहीं राग द्वेष होंगे । अभिप्राय यह है कि राग द्वेष का होना मिथ्या ज्ञान के होने का प्रमाण है कोई मिथ्या ज्ञान के विना राग और द्वेष वाला हो ही नहीं सकता यदि आप के तीर्थङ्करों में राग द्वेष था तो वे मिथ्या ज्ञानी हुए जिस से उन की बनाई पुस्तकों का प्रमाण ही नहीं हो सकता यदि कहो वे राग से शून्य थे तो उन्हों ने पुस्तक कैसे बनाई यदि कहो जो कर्म अपने लिए किया जाता है उस में राग द्वेष की आवश्यकता है परोपकार सम्बन्धी कर्मों में राग द्वेष की आवश्यकता नहीं इस लिये तुम्हारे तीर्थङ्करोंने तुम्हारे उपकार के लिये रचे हैं जब एक मनुष्य परोपकार के लिये विना राग कर्म कर सकता है तो सर्व शक्तिमान् परमात्मा सब के उपकार के लिए सृष्टि क्यों नहीं रच सकता दूसरे हमें विना राग द्वेष के ही अयस्कान्त (चुम्बक पत्थर) आदि लोहे को खींचने का काम, या लोहे का चुम्बक पत्थर की ओर चले जाने का काम होता हुआ प्रतीत होताहै जिस से विना राग के कर्म का होना स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ वादी कहता है यदि तुम ईश्वर को परोपकार के कारण

रागके विना सृष्टि कर्ता कहोगे तो यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति से बहुत से जीवों को दुःख होता है जिस से तुम्हारा ईश्वर न्यायकारी और दयालु सिद्ध नहीं होता किन्तु निर्दय और पक्षपाती पाया जाता है यदि दयालु होता तो किसी को दुःख क्यों देता ? यदि वह न्यायकारी होता तो सब को समान बनाता किसी को मनुष्य का जन्म और भोगने के उत्तम सामान दिये, किसी को अन्धा लूला लङ्गड़ा, बनाया किसी को सिंह वृकादि दांतों वाले निर्दय शरीर दिये और किसी को गाय, भैंस आदि निर्वल शरीर दिये जो दांतों वाले मांसाहारियों का भोग बन गए किसी को चींटी मच्छरादिकोंके बहुत ही तुच्छ शरीर दिये प्रयोजन यह है कि सृष्टिको विचार कर देखने से सम्यक्तया बोध होता है कि कोई इस सृष्टि का उत्पादक हो तो वह निर्दय और पक्षपाती है। इस का उत्तर यह है कि यदि ईश्वर अपनी इच्छा से जीवों की नाना प्रकार की दशायें करता तो निःसन्देह निर्दय होता परन्तु ईश्वर तो कर्मों के फल देता है जिससे यह भेद सङ्गत होता है जब वह अपनी इच्छा से शरीर में कुछ भेद नहीं करता तो वह किस प्रकार पक्षपाती कहला सकता है और न उसे निर्दयकह सकते हैं क्योंकि उसने न्याय किया है। अर्थात् जीवके बुरे ही कर्मों का बुरा फल दिया है जैसा जीव ने बोया है वैसा ही ईश्वर ने फल दिया है। इस दशा में उस पर पक्षपात और निर्दयता का कलङ्क लगाना प्रत्यक्ष अज्ञान है वादी कहता है कि यदि कर्मों के फल से यह भेद है तो ईश्वर के होने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि कर्म स्वयं ही फल देते हैं। वादी की यह शंका भी सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि निर्वल सवल को बांध नहीं सकता, और न कोई अचेतन वस्तु चेतन को बांध सकती है। अब प्रश्न यह होता है कि कर्म चेतन हैं या जड़ ? और वह जीव से निर्वल हैं वा प्रबल। यह तो सर्वसम्मत बात है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण से निर्वल होता होता है और यह भी सिद्धान्त है कि कर्म चेतन नहीं किन्तु जड़ है और न कोई उत्पन्न होने वाली वस्तु चेतन हो सकती है इस दशा में "कर्म स्वाभावतः फल देते हैं अर्थात् कर्ता चेतन को [जो कि क्रियावान्

तथा प्रबल है] बांध लेते हैं" किस प्रकार सत्य हो सकता है? क्या किसी मनुष्य ने कभी देखा है कि किसी चोर ने चोरी की और चोरी ने ही उस चोर को कारागार में डाल दिया? इस कारण यह सर्वथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है और इसीलिये सर्वथा असत्य है, क्योंकि-समयानुसार शासक [हाकिम] चोरोंके लिये कारागार बनाते हैं और वे ही दण्ड देते हुए दिखाई देते हैं। इस अवसर पर वादी यह कहता है जो मनुष्य मद्य पीता है वह अपने इस कर्म से मूर्छित हो जाता है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मद्यपान रूप अपने कर्मने ही यह फल दिया परन्तु वादी का यह कथन भी उसकी निर्बुद्धि का प्रमाण है क्योंकि मद्य जो कि एक द्रव्य है उसने मनपर परदा डालाहै जिससे ऐसा विदित होता है इस लियेकि मन सूक्ष्म है और मद्य स्थूल है, सूक्ष्म पर स्थूल का परदा पड़ जाना प्रत्यक्ष के अनुकूल है जो देखने में भी आता है निर्बल कर्म अपने करने वालों को कदापि नहीं बांध सकता कर्म का फल देने वाला परमेश्वर है वही फल देता है जो संसार में व्यवहार से प्रतिक्षण ज्ञात होता है उससे सम्यक्तया ईश्वर का होना सिद्ध है और मानसिक प्रत्यक्ष से भी ईश्वर जाना जाता है। जैसा कि उपनिषद में लिखा है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्यु माप्नोति यइह नानेव पश्यति। कठ० ४।११

यह परमात्मा योगी के मन से ही जाना जाता है इस जीवात्मा के अन्तर्गत परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है तात्पर्य यह है कि जीवात्मा में केवल परमेश्वर ही है क्योंकि यह नियम है कि स्थूलके अन्दर सूक्ष्म रह सकता है परन्तु सूक्ष्म में स्थूल नहीं रह सकता। वादी यहां पर पुनः शंका करता है कि सूक्ष्म आकाश में स्थूल मृत्ति का और जल आदि कैसे रहते हैं इस कारण जो ऊपर कहचुके हैं कि "सूक्ष्ममें स्थूल नहीं रह सकता" ठीक नहीं। परन्तु वादी का यह विचार आशय को न समझने के कारण है क्योंकि आधार दो प्रकार से होता है एक व्याप्य व्यापक के सम्बन्ध से दूसरा आधार और आधेयके सम्बन्ध से हमारा प्रयोजन व्याप्य और व्यापक के सम्बन्ध से था। वादी का दृष्टान्त आधार और आधेय के सम्बन्ध से है इस लिये प्रत्यक्ष ही मिथ्या है। और शब्द प्रमाण

से भी ईश्वर का ज्ञान होता है जब कि इतने प्रमाण ईश्वर के होने में विद्यमान है तब यह कहना कि ईश्वर के होने में कोई प्रमाण नहीं, कैसे ठीक हो सकता है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि "यदि ईश्वर का होना मान भी लिया जावे तो उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि प्राप्त वह वस्तु होती है जो कि पहिले दूर हो अब सोचना चाहिये कि ईश्वर हम से दूर है वा नहीं। यदि कहो दूर है तो उसकी प्राप्ति हो सकती है वा नहीं ? यदि दूर ही नहीं तो प्राप्ति का क्या तात्पर्य है जहां तक देखा गया है दूरी तीन प्रकार की होती है एक देश की दूरी, दूसरी काल की दूरी, तीसरी ज्ञानकी दूरी, ईश्वर सर्व-व्यापक है इस लिये किसी वस्तु से भी देश [स्थान] की दूरी नहीं। वह नित्य है इस लिए काल की दूरी भी नहीं हो सकती। इस लिये "कि जीवात्मा उसे जानता नहीं" ज्ञान की ही दूरी हो सकती है। बस ज्ञान की दूरी ईश्वर को जानने से ही दूर होगी। इसी का नाम "ईश्वर प्राप्ति" है इस पर वादी कहता है कि ईश्वर को जानना तो किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं क्योंकि उपनिषदों में लिखा है कि:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य देव तद्विदितादथो अविदितादधि। (केनोपनिषद्)

अर्थ– उस परमात्मा तक आंख नहीं जाती अर्थात् उसे आंख नहीं देख सकती क्योंकि वह रूप नहीं, और न वाणी उसे कह सकती है क्योंकि उसके गुणों की अवधि नहीं और न यह इन्द्रियें उसे जान सकती हैं क्योंकि ब्रह्म को अन्दर माना है और इन्द्रियें बाहर देखती हैं इस कारण 'ब्रह्म इस प्रकार का है' ऐसा जानना सम्भव ही नहीं। किन्तु वह जाने हुए और न जाने हुए से भी पृथक है।। इसका उत्तर यह है कि उपनिषदों में यह भी लिखा है कि:—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।। कठ ४ । ११

अथ— मन से ही यह ब्रह्म जान जाता है इस आत्मा के अन्दर केवल ब्रह्म ही रहता है और दूसरा कोई नहीं, वह बार २ जन्म मरण के दुःखों को प्राप्त होता है, जो आत्मा जीव के अन्दर नाना वस्तुओं को देखता (समझता) है। इस कथन पर प्रश्न उठता है कि एक स्थान पर तो उपनिषदों ने लिखा कि परमात्मा मन से नहीं जाना जाता और दूसरे स्थान पर यह लिखा कि वह मन से ही जाना जाता है, यह दोनों विरुद्ध बातें कैसे सत्य हो सकती हैं? इस से तो उपनिषदों का अप्रमाण होना सिद्ध होता है क्योंकि महात्मा गोतम जी ने न्याय दर्शन के शब्द परीक्षा प्रकरण में कहा है किः—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्यः।

अर्थ— जिस शब्द में तीन प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष पाया जावे वह शब्द अप्रमाण होता है। वे तीन प्रकार के दोष ये हैं कि— पहला अनृत दूसरा— व्याघात, तीसरा पुनरुक्ति। जब उपनिषदों में व्याघात दोष है तो वे अप्रमाण होंगी? इस का उत्तर यह है कि इस स्थल में व्याघात दोष नहीं किन्तु मन की दो दशाओं के होने का प्रमाण दिया है अर्थात् जब मन मलिन होता है तब उस मन से और दूसरे इन्द्रियों से परमात्मा को जान लेना असम्भव है। परन्तु जब मन शुद्ध हो जाता है तो उस से जीव और आत्मा का दर्शन हो सकता है और दूसरे यह बात है कि मन से परमात्मा नहीं जाना जाता किन्तु जैसे शुद्ध दर्पण से नेत्र अपने अन्तर्गत सुरमे और अपनी दशा को देखते हैं ऐसे ही जब मन शुद्ध हो जाता है तो उस से जीवात्मा अपने स्वरूप और अपने अन्तर्व्यापक परमात्मा के स्वरूप को जानता है। जब तक मन शुद्ध न हो तब तक उस से ब्रह्म का आनन्द उपलब्ध नहीं होता जैसे सूर्य का आभास समस्त पृथिवी मात्र पर पड़ता है परन्तु शुद्ध जल वा शुद्ध दर्पणादि के अतिरिक्त सर्वत्र नहीं दीखता। ऐसे ही यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है परन्तु मन के मलिन होने से प्रतीत नहीं होता ब्रह्म को जानने के लिये जो मनुष्य मन की शुद्धि के विना ही परिश्रम करते हैं उन का परिश्रम निष्फल जाता है और वे मनुष्य ब्रह्म के स्वरूप (भाव) से विरुद्ध हो

जाते हैं जैसे किसी मनुष्य के नेत्र में सुर्मा है अब उसे प्रतीत नहीं होता वह जब दूसरे मनुष्य से सुनता है कि नेत्रों का अञ्जन दर्पण से प्रतीत होता है तव जब वह दर्पण लेकर देखने लगता है तो दर्पणके मलिन होने से उसे प्रतीत नहीं होता तो वह उस मनुष्य को (जिसने बतलाया था कि दर्पण से अंजन प्रतीत होगा) झूठा समझता है। यह उस की मूर्खता है क्योंकि शुद्ध दर्पण में प्रतीत होता है मलिन में, नहीं इस लिये जब तक मन की मलिनता दूर न हो तब तक ईश्वर का दर्शन कैसे हो सकता है।

अब यहां प्रश्न होता है कि " मन में मलिनता क्या है " इसका उत्तर यह है कि दूसरों को हानि पहुंचाने का विचार (चिन्तन) ही मलिनता है यदि विचार किया जावे तो सम्प्रति प्रत्येक मनुष्य इस चिन्ता में है कि कोई नेत्रों का अन्धा और गांठ का पूरा मिल जावे यदि दूकानदारों की ओर जावें तो यही उनकी जिह्वा में है कि " हे शिवजी महाराज ! कोई नेत्रों का अन्धा और गांठ का पूरा भेज, प्राड्विवाक (वकील) लोग भी फौजदारी के संकट में फंसे हुये निर्बुद्धिधनी की आशा करते हैं वैद्य भी ऐसे ही रोगियों के अन्वेषक हैं घूंस ग्राही अहल्कार भी यह ही चाहते हैं। प्रयोजन यह है जिस को देखो इस चिन्ता में लगा है ऐसे ही मन में मैल रखने वाले ईश्वर के भाव (हस्ती) से इनकार करते हैं। अब प्रश्न होता है कि हम कैसे जान सकते हैं कि मन अब शुद्ध हो गया। इस का उत्तर यह है कि जब निष्काम कर्म करने से तीन प्रकार की एषणा दूर हो जावे अर्थात् लोकैषणा [प्रतिष्ठादि की इच्छा] पुत्रैषणा (पुत्रादि सन्तान की अच्छा) वित्तैषणा। [धन की इच्छा] तब समझ लेना चाहिये कि अब मन शुद्ध हो गया। वादी कहता है कि ऐसे अनेक जन संसार में वर्त्तमान हैं कि जो दूसरों का निष्काम उपकार करते हैं और उन को यह एषणा भी नहीं परन्तु ईश्वर उन को भी नहीं प्रतीत होता। इसका उत्तर यह है कि जैसे दर्पण के मलिन होने से उस में नेत्र और तद्गत अञ्जन प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार दर्पण के हिलते हुए होने से भी अभास प्रतीत नहीं होता बस जहां मन के मलिन होने से जीव और ईश्वर का ज्ञान नहीं होता वहां वहां मन के चञ्चल होने से भी परमात्मा का ज्ञान नहीं होता जैसे हिलते

हुये दर्पण को, आंख और अञ्जनको देखने के लिये ठहराना आवश्यक है ऐसे ही जीव और ईश्वर के जानने के लिये मन की चञ्चलता को दूर करना आवश्यक है। जिसका प्रतीकार केवल उपासनाकाण्ड हैं। योग के आठ अँग हैं। १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान, ८ समाधि॥

प्र०—यम किसे कहते हैं?

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः योगदर्शन २। ३२

उ०—अर्थ—अहिंसा अर्थात् किसी को न मारना और न किसी प्रकार का दुःख देना। सत्य भाषण अर्थात् अपने ज्ञान के विरुद्ध कभी न कहना। चोरी का त्याग अर्थात् किसी का स्वत्व (अधिकार) लेने का प्रयत्न न करना। ब्रह्मचर्य ब्रह्मचारी रहकर अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके वैदिक शिक्षा का लाभ करना हठ, आग्रह और पक्षपात से पृथक होना, ये पांच यम कहलाते हैं।

प्र०—नियम किसे कहते हैं?

उ०—शौचसन्तोषतपःस्वध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः योगद०। २। ३२

ईश्वर प्राप्ति। (३)

(१) प्रथम—शुद्धि (शौच) चार प्रकार की होती है जैसे कि मनु जी ने लिखा हैः—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

मनु० ५। १०६

अर्थात्—जलसे शरीर के अङ्ग शुद्ध होते हैं स्नान आदि समस्त कर्म बाह्य शुद्धि के हेतु हैं। मन "सत्येन" अर्थात् सत्य भाषण सत्यकर्म करने, एवं सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की आज्ञा पालन से शुद्ध होता है विद्या

और तपसे जीवात्मा शुद्ध होता है, तथा बुद्धि अर्थात् जीवात्माका ज्ञान वेद से शुद्ध होता है।

(२) द्वितीय— सन्तोष अर्थात् जो कुछ भोग वश प्राप्त हो उसी से प्रसन्न रहना अधिक प्राप्त करने की इच्छा न करना।

(३) तृतीय—तप अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकने में जो कष्ट होता है, अथवा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि का दुःख धर्म सम्बन्धी कृत्य करने में सहना पड़ता है उसे सहन करना किसी समय में भी चित्त इन्द्रियों के (विषयों के) अधीन न होने देना।

(४) स्वाध्याय नियम पूर्वक वेद वेदाङ्गों का अध्ययन किसी दिन को पढ़ने से शून्य न जाने देना, वेद वेदाङ्गों और उपाङ्गों के अतिरिक्त दूसरी शिक्षा का नाम स्वाध्याय नहीं।

(५) ईश्वर पर पूर्ण विश्वासी होकर यह निश्चय रखना कि जो कुछ ईश्वर करता है वह अच्छा ही करता है, जो किया अच्छा ही किया, जो जो करेगा, अच्छा ही करेगा क्योंकि ईश्वर दया और न्यायके अतिरिक्त कुछ नहीं करता और दया तथा न्याय दोनों जीवों की भलाई के लिये हैं यद्यपि पापीको न्याय बुरा प्रतीत होता है (जो वास्तव में तो बहुत ही उत्तम है) इस पर एक गाथा है कि:—

एक राजाके मन्त्रीके चित्तमें दृढ विश्वास होगया कि ईश्वर जो कुछ करता है, सब अच्छा ही करता है एक दिन आखेट (शिकार) के समय दो अंगुलियें कट गईं। मन्त्री भी सङ्ग में था उसने कहा कि जो कुछ ईश्वर ने किया उसमें कुछ लाभ ही होगा मन्त्री का यह कथन महाराज को बहुत बुरा लगा, उसने मन्त्रीको निकाल दिया। जिस समय मन्त्रीके समीप निकल जानेकी आज्ञा पहुंची तब उसने अति प्रसन्नता पूर्वक कहा कि ईश्वर जो कुछ करता है उसमें कोई लाभ ही होगा।

जब महाराज ने इस कथन को सुना तो चित्त में विचारा कि वास्तव में मन्त्री की बुद्धि बिगड़ गई क्योंकि उसे प्रत्येक हानि मात्र, लाभ प्रतीत होता है।

निकल जानेसे प्रथम तो मन्त्री नित्य महाराजके सङ्ग रहा करता था। अब महाराज अकेले मृगयार्थ गए, घोडी के वेग तथा आंधी आदिके कारण एक ही वार अपने राज्य से निकल कर किसी अन्य राजाके राज्य में जा पहुंचे वहांका राजा दीर्घ रोगी था। उस को कहा गया था कि देवी की भेट के लिये एक मनुष्य को वलिदान दो, राजा ने यह आज्ञा (हुक्म) दे रक्खी थी कि प्रातःकाल को जो मनुष्य अमुक द्वार (दर्वाजा) से आवे उसे वलिदान देदो। दैवात् राजा निर्दिष्ट द्वार से पहुंचा राजा के भृत्यवर्ग आज्ञानुसार वलिदान करने को लेगए। राजा ने आत्म रक्षा के लिये अनेक उपाय किये परन्तु भृत्यों ने एक न सुनी। जिस समय राजा के वस्त्र उतरवा कर स्नान कराना चाहा त्यों ही उस की दो अंगुलियें कटी हुई मिली पुजारियों ने कहा कि अङ्गभङ्गकी वलि देवी को नहीं चढ सकती तव महाराज को भृत्योंने छोड दिया।

महाराज ने मन में विचार किया कि उंगलियों का कटना ही शरीर रक्षा का कारण हुआ, वास्तवमें मन्त्री हो ने ठीक कहा था कि

"ईश्वर जो कुछ करता है वह अच्छा ही करता है"। जब राजा लौट कर अपने स्थान पर पहुंचा तो मन्त्री को बुलाकर पुनः नौकर कर लिया, मन्त्री ने पुनरपि वे ही वाक्य कहे कि ईश्वर जो कुछ करता है वह अच्छा ही करता है, मन्त्री से कहा कि हमारी जो दो अंगुलिएं कट गई थी उनका प्रयोजन तो हमने समझलिया, परन्तु तुम्हारे निकल जाने में जो प्रयोजन था वह नहीं समझा, मन्त्री ने कहा कि यह तो सुगम बात है कि यदि मैं निकल न जाता तो अवश्य आपके संग होता आप तो अङ्ग भङ्ग हो जाने के कारण बच जाते परन्तु मेरा वलिदान हो जाता, अतः ईश्वर ने मुझे सुरक्षित किया।

बस उपर्युक्त पांच नियम हैं। आसन क्या है।?

उ०—स्थिरसुखमासनम् ॥ यो०द० २।४६ ॥

अर्थात् जिस से सुख पूर्वक प्राणायामादि कर सकें वही आसन है, कितने ही आचार्य कमलासन, पद्मासन आदि चौरासी प्रकार के आसन बतलाते हैं।

प्र०=प्राणायाम किसे कहते हैं ?

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥
यो० क० २ ॥४६

अर्थात् आसन पर बैठ कर अन्दर आने वाले श्वास और बाहर जाने-वाले श्वास की जो स्वाभाविक गति है उसे दूर कर के स्वेच्छा के अनुकूल कर लेने का नाम प्राणायाम है बाहर को श्वास को निकाल कुछ देर अन्दर न जानेदेना बाहर ही रोकना, अन्दर रोकना, एक ही बार छोड़ देना। इत्यादि

प्रश्न=प्राणायाम का क्या फल है ?

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथामलाः ॥
तथेन्द्रियाणांदह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ मनुः ६। ७१

अर्थात् जैसे अग्नि में फूकनी आदि से तपाने से सुवर्णादि धातुओंके निःशेष मल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों का निग्रह (प्राणायाम से अपने वशमें करने) से इंद्रियों के सब दोष भस्म होजाते हैं। इसके अनन्तर-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।
योगदर्शन २ । २८

जो मनुष्य योग के अङ्ग प्राणायामादि को करते हैं उन मनुष्यों की जब तक मोक्ष न हो तब तक अन्तः करण की मलिनता का क्षय, और ज्ञान का प्रकाश रात दिन निरन्तर होता रहता है इन्द्रियोंके दोष नष्ट होने से ज्ञानोत्पत्ति इसलिए कही है कि इन्द्रियों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है जैसा कि महर्षि कणाद ने भी अपने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि-

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या वै०अ० ६ । २ । ११

अर्थात् इन्द्रियों तथासंस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है जब इंद्रियों के दोष प्राणायाम से मनु जी के कथनानुसार भस्म हो जायगे तब ज्ञान की वृद्धिहोगी। तथा जो मनुष्य प्राणों को अनियम पूर्वक व्यतीत करते हैं वे थोड़े ही काल में मर जाते हैं क्योंकि शास्त्रों में प्राणों को ही आयु माना है जैसा कि लिखा है-

प्राणो वै भूतानामायुः ।

अर्थात् प्राण ही प्राणियों की आयु है। और देखा भी है कि जब तक प्राण रहते हैं तभी तक मनुष्य जीवित रहता है प्राणों के निकल जाने पर पुनः जीवित नहीं रहता है जैसे इञ्जन में वाष्प (भाप) ही काम करती यदि उस का नियन्ता (ड्राइवर) उस वाष्प को अनियम में चला कर काम लेता है तब कभी भी उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और नहीं वाष्पके न निकलने देने परही सिद्ध होता है इसी प्रकार यदि इस शरीर का नियन्ता जीवात्मा प्राणोंको अनियम में चला कर अपना मुख्य प्रयोजन सिद्ध करना चाहे तो भी कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न–तुम तो आयु को नियत परिमाण मानते हो पुनः प्राणयामादि के करने से न बढ़ेगी । तथा प्राणायामादि के न करने से घटेगीनहीं पुनः यह क्यों कहा कि प्राणायाम न करने से अल्पकाल में मरजाता है।

उत्तर–यह प्रश्न तुमने बहुत अच्छा किया इस पर बहुतों को भ्रम है इस का उत्तर यह है कि हम आयु को (जो वास्तव में उपनिषदों के अनुसार प्राण ही है) बढ़ने वाली तथा घटने वाली नहीं मानते किन्तु काल को घटने वाला तथा बढ़ने वाला मानते हैं " थोड़े काल में मर जाते हैं" यह कहा था न कि थोड़े ही आयु में मर जाता है इस से शङ्का आपकी पक्षपोषक नहीं है। इस का उदाहरण यह कि जैसे किसी मनुष्य को ३० सेर अन्न मासिक मिलता है यदि वह मनुष्य आध सेर अन्न प्रति दिन खाता है तो उसका १५ सेर अन्न अब शेष रहेगा अर्थात् वह आध सेर यदि प्रति दिन खाता रहे तो दो मास पर्य्यन्त निर्वाह कर सकता है। यदि वही मनुष्य उस तीस सेर अन्न में से दो सेर प्रतिदिन खाता रहे तो १५ ही दिवस निर्वाह कर सकता है अर्थात् १ मास भी व्यतीत नहीं कर सकता। यहां यह विचारणीय है कि उस मनुष्य का तीस सेर अन्न उतना ही रहता है अर्थात् यदि वह उक्त प्रकार से दो मास पर्य्यन्त निर्वाह कर लेता है तब क्या उसका अन्न तीस सेर से बढ़ जाता है ?

उत्तर—नहीं । तो क्या जब वह उक्त प्रकार से १५ दिन ही निर्वाह करता है। तो क्या उसका यह तीस सेर अन्न कुछ घट जाता है।

उ०—यह भी नहीं। अभिप्राय यह है कि काल तो घटता बढ़ता ही है। परन्तु अन्न उतना ही रहता है बस इसी प्रकार जो मनुष्य प्राणों को नियमानुसार प्राणायामादि के द्वारा रोकता हुआ कम व्यय करता है वह अधिक दिन जीवित रहता है और जो मनुष्य अनियम पूर्वक प्राणों को व्यय करताहै वह अल्प काल तक जीवित रहता है। परन्तु दोनों दशाओं में प्राणरूपी आयु उतनी ही रहती है इसलिये आयु को नियत मानने पर भी काल के अधिक अथवा न्यून हो जाने से हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आसकता। और दूसरा उत्तर इस का यह भी है कि बढ़ना एक और प्रकार से भी होता है अर्थात् जो मनुष्य तत्वज्ञानी होता है उस की आयु बढ़ जाती है और जो मिथ्याज्ञानी होता है उस की घट जाती है इसका उदाहरण यह है कि जैसे यदि एक मनुष्य बाजार में अन्नादि खरीदने जावे और वह बाजारके भावको ठीक जानता है कि जितने अन्नादि एक रु० के आते हैं उतने ही ले आताहै परन्तु जो मनुष्य अन्नादि के भाव को यथावत् नहीं जानता वह मनुष्य उसी एक रू०के अन्नादि कम लेकर भी चला आता है। परन्तु दोनों दशाओं में मूल उतना ही रहता है। बस इसी प्रकार जो मनुष्य तत्वज्ञानी होता है वह अपनी आयु से ज्ञान के अनुसार सिद्धान्तों को ग्रहण करता है परन्तु जो मनुष्य मिथ्याज्ञानी होता है वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मों को ग्रहण करके अपने जीव को भ्रष्ट कर लेता है परन्तु दोनों दशाओं में प्राणरूपी आयु उतनी ही रहतीहै। इत्यादि अनेक प्रकार हैं इससे उपचार से आयु की भी वृद्धि मानी गई है प्रयोजन यह है कि प्रत्येक प्राणायामादि करने योग्य हैं। अब हम प्रकृत प्रकरण पर आते हैं प्राणायाम से आगे पंचमाङ्ग प्रत्याहार है अब हम प्रत्याहार को बतलाते हैं,

प्र०—प्रत्याहार किसको कहते हैं ?

उ०—स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणांप्रत्याहारः। यो० दर्शन पाद २—५४

अर्थात् जब यम' आसन, प्राणायाम रूप पूर्वाङ्गों के अनुष्ठान से मन अपने वश में होजाता है क्योंकि मन की गति प्राणों के अनुसार वसे ही होती है जब प्राण मनुष्यके वश में प्राणायामदि से हो जाते हैं तब प्राणों के अनुसारी होने से मन भी पुरुष के वश में हो जाता है और मनको

पुरुष के वश में होनेके पश्चात् इंद्रियें भी पुरुष के वश में होजाती हैं क्योंकि इन्द्रियें मन के आधीन हैं मन जिस ओर इंद्रियों को प्रवृत्त करताहै उसीओर इन्द्रियें चली जाती हैं इस बात को उपनिषदों में इस प्रकार विवरण किया है कि=

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान्। कठ० ३। ५८

अर्थात् इस शरीर को रथरूपी मान कर यह अलङ्कार घटाया है कि यह शरीर रूपी एक रथहै इसका स्वामी कौन है? इस शरीर रूप रथ का स्वामी आत्मा है। इस रथका नियन्ता अर्थात् नियम पूर्वक घोडोंको हांकने वाला कौन है? बुद्धि ही रथ का नियन्ता है। सारथिके हाथमें प्रग्रह (बागें) होती हैं जिनसे वह नियम में रखता है यहां मन प्रग्रह रूप है वह हांकता किनको है अर्थात् घोड़े कौनहैं? इन्द्रियां ही घोडे हैं। इन्द्रियरूप घोडों के चलने का मार्ग कौन है? इंद्रियों के चलनेका मार्ग विषय हैं क्योंकि इंद्रियें विषयोंकी ओर ही दौड़ती हैं।

अबयहां यह समझना चाहिये कि जो पुरुष बुद्धिमान् होता है वह अपनी बुद्धि को प्रथम सुधारता है क्योंकि जब तक रथ का नियन्ता हांकने वाला ही स्वयं ठीक नहीं होता तब तक कभी घोडे अभीष्टस्थान पर नहीं पहुंच सकते क्योंकि सारथि के निपुण होनेसे घोडे भी अभीष्ट स्थान को पहुंच सकते हैं एव मेव बुद्धिरूपी सारथी के मन रूपी प्रग्रह वश में रह सकता है अन्यथा नहीं यही कारण है कि दुर्बुद्धि पुरुषों का मन वशमें नहीं होता। जब मनुष्य बुद्धि को यमादि से सुधार कर मन को अपने वशमें कर लेता है तब घोड़े भी स्वाधीन होजाते हैं। बस इसीप्रकार मनके वश में होनेसे इन्द्रिय रूपी घोडों का भी वश में होना समझ लेना चाहिये। और जब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं तब मनुष्य अधर्म रूप मार्ग से हट कर धर्म मार्ग में चलता है। जहां पहले मन में द्रोहादि रहते थे उस मनुष्य के चित्त में दया आदि शुभ गुण वास करते हैं। ऐसे ही जहां वाणी में

मिथ्या भाषण आदि निवास करते थे वहां उस मनुष्य की वाणी में सत्य भाषणादि शुभ गुण रहते हैं। ऐसे ही जहां शरीर के कर आदि अंगों में हिंसा आदि रहते थे वहां दान आदि शुभ गुण रहते हैं इत्यादि जानना। हमारे बहुत से भ्राता यह कहेंगे कि अनेक मनुष्य यम नियमों के विना ही स्वतन्त्र रह सकते हैं पुनः यह इतना झगड़ा क्यों रक्खा जो कि अति दुष्कर है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता चाहता है चाहे जो कुछ धर्म अधर्मादि करे वह स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र हैं उसके मन आदि सब वश में हैं पुनः क्यों यह क्लेश सहे ?

उ०—इस का उत्तर यह है कि बहुत सी वस्तुएं तो मन को लाभ पहुंचाती हैं जो कि प्रकृति की बनी हुई हैं। और बहुतसी वस्तुएं आत्मा को लाभ दायक हैं बस जब यह आत्मा मन शरीर आदि को अपना समझता है तो यह मन के लाभ में ही अपना लाभ समझ कर प्राकृतिक पदार्थों की प्राप्ति करने में प्रवृत्त होता है। अर्थात् मन के आधीन हो जाता है। मन की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता और मन की अप्रसन्नता में ही अप्रसन्न रहता है तब यह काम क्रोध लोभादि से परिपूर्ण होजाता है जब तक इन काम क्रोधादिका प्रतीकार (निवृत्ति) नहीं कर चुकता तब तक इस को शान्ति नहीं होती अर्थात् जीवात्मा का, अपने हितैषी एक सच्चिदानन्द ईश्वर से हित की आशा त्याग कर मन के हितकारी प्राकृतिक पदार्थों में आसक्त होना ही परतन्त्रता है परतन्त्रता दुःख नाम से कथन की गई है कि—

बाधनालक्षणं दुःखमिति। न्या. द. ॥ १ । १ । २१

अर्थात् परन्त्रता ही दुःख है। जो मनुष्य अपने मन को वश में नहीं करते वे अपनी इन्द्रिय शरीरादि को भी वश में नहीं कर सकते और जिनके वश में अपने शरीरादि नहीं होते वे अपने कुटुम्ब को भी वश में नहीं कर सकते जैसे दुर्बल वृद्ध पुरुष अपने पुत्र, पौत्रादि को वश में नहीं कर सकते जो अपने कुटुम्ब को भी वशमें नहीं कर सकते वे अपने ग्राम नगर देशादिकों को कैसे वश में कर सकते हैं। पुनः वे दूसरे देशों के मनुष्यों पर क्या शासन करेंगे ? प्रयोजन यह है कि अपने मन का वश में करना ही इन्द्रिय शरीरादि के वश में होने का कारण है। मनुष्य

को उचित है कि मन को ईश्वर की ओर लगावे जब मन ईश्वर की ओर लगेगा तब प्रकृति की ओर न जायगा क्योंकि मन में दो ज्ञान एक काल में नहीं होते मन के प्रकृति से निवृत्त होने से इन्द्रियें भी विषयों से निवृत्त हो जायंगी इसी का नाम प्रत्याहार है। जब मन अपने वश में हो जाता है तब उसको वहीं स्थिर करके ईश्वर का ध्यान किया जाता है उसके स्थिर करने का नाम धारणा है जैसा कि कहा है कि—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । यो. द. पा. ३ । १

मन की चञ्चलता को छुड़ाकर एक देश में ईश्वर ध्यानार्थ उसे स्थिर करना धारणा कहाती है यही धारणा योग का छठा अङ्ग है। इसके अनन्तर ध्यान है। प्र०—ध्यान किसे कहते हैं ?

उ०—सब प्राकृतिक विषयों से पृथक होकर एक निराकार सच्चिदानन्द की ओर मन को प्रवृत्त करना ध्यान है। प्र०—वाह जी वाह ! क्या कभी निराकार का ध्यान हुआ करता है ? भला जिसकी कोई आकृति नहीं, उसका ध्यान कैसा ? ध्यान तो सर्वदा साकार का ही हुआ करता है। उ०—प्रथम तुम ध्यान किस को कहते हो ? यदि कहो कि ध्यान उसे कहते हैं कि जिस वस्तु को हमने देखा वा सुना है उसका स्मरण हो जाना ही ध्यान है तो यह तुम्हारा भ्रम है देखिये महात्मा कपिल मुनि अपने सांख्य शास्त्र में क्या बतलाते हैं कि—

ध्यानं निर्विषयं मनः । सां, द. ॥ ६ । २५

अर्थात् जब मन रस गन्ध शब्द दुःख सुखादि सम्पूर्ण विषयों से रहित हो जावे उस दशा का नाम ध्यान है जब तक मन में विषय रहेंगे तब तक यह ध्यान ही नहीं कहला सकता। और जिसको तुम ध्यान २ कहते हो वह तो इन विषयों के अन्तर्गत ही है क्योंकि साकार में रूप रसादि के अतिरिक्त अन्य होता ही क्या है ? जिस का वह ध्यान करे और तुम जो यह कहो कि ईश्वर भी साकार है तो भी तुम्हारा भ्रम है क्योंकि तुम साकार के अर्थ से अनभिज्ञ हो क्योंकि साकार उसे कहते हैं कि:—

नियतावयवसमहत्वमाकारत्वम् तद्वान् साकार इति ॥

अर्थात् नियत अवयवों के समूह को साकारपना कहते हैं। और जिस में नियत अवयवों का समूह हो उसे साकार कहते हैं, अथवा मुफरद को निराकार और मुरक्कबको साकार समझना चाहिये। प्रयोजन यह है कि यदि हम ईश्वर को साकार (मुरक्कब) मान लें तो ईश्वर सावयव और अनित्य हो जायगा, परन्तु ईश्वर को अनित्य मानना भी महा मूर्खता है इस से ईश्वर को साकार मानना बड़ा अज्ञान है।

—:०:※:०:—

"(जीवात्मा के अस्तित्व में प्रमाण)"

प्यारे पाठक गण ! आज हम जीवात्मा के अस्तित्व पर कुछ लिखना चाहते हैं। यह तो आपको विदित है कि इस समय संसार में दो प्रकार की सृष्टि ज्ञात होती है। एक जड़, दूसरी चेतन। ऐसा तो कोई मनुष्य ही नहीं जिसको चेतन के होने से इन्कार हो। केवल झगड़ा इस बात पर है कि चेतन शक्ति जड़ तत्वों के संयोग से उत्पन्न होती है या एक भिन्न शक्ति है ! यदि हम मानलें कि यह शक्ति भिन्न तत्वों से उत्पन्न होती है तो उस समय यह प्रश्न होगा कि यह शक्ति भिन्न तत्वों में से या संयोग से उत्पन्न होती है यदि मानलें कि भिन्न तत्वों में है तो उस दशा में कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती क्योंकि चेतन तत्व का गुण होगया यदि यह कहा जावे कि मूल भूतों में तो यह शक्ति नहीं, परन्तु संयोग से उत्पन्न होती है तो उस दशामें अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो सर्वांश में असम्भव तथा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत के भीतर नास्ति से अस्ति (न कुछ से कुछ) की उत्पत्ति अथवा जो शक्ति मूल भूत में वर्त्तमान न हो वह उसके संयोगसे होती हुई किसी ने नहीं देखी इसलिये उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। महात्मा कपिल जी भी सांख्य शास्त्र में लिखते हैं कि—

न भूतचैतन्यं प्रत्येका दृष्टेः सांहत्येऽपि च

सांहत्येऽपिच—सां० ५ । १२९

अर्थ—अलग २ भूतों में चेतनता नहीं देखते इसलिये उनके मिलाप से

भी चेतनता उत्पन्न नहीं होसकती।

महात्मा कपिल जी इस पर और प्रमाण देते हैं।

"अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् । सां०" ६।५

मैं मानता हूं कि इस प्रकार प्रत्येक समय अनुभव होने से आत्मा का होना तो अच्छी प्रकार से विदित होता है और उसके अस्तित्व करने के लिये साधक प्रमाणों का अभाव विदित होता है इसलिये आत्मा का होना सत्य है।

"देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्"। सां० ६-१

वह आत्मा शरीर से नितान्त भिन्न वस्तु है क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न धर्म वाले हैं, शरीर परिणामी है और आत्मा अपरिणामी है यह अनुमान और शास्त्रों के प्रमाणों से भी सिद्ध है और आत्मा का अपरिणामी होना तो सदैव जाने हुये विषय का ज्ञाता होने से विदित होता है। जिस प्रकार आंख का विषय रूप है और शब्द नहीं इसी प्रकार पुरुष का विषय बुद्धि की वृत्ति को साक्षात् करना है इसके अतिरिक्त अन्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर भी वश नहीं होता।

"षष्ठीव्यपदेशादपि" सां० ६ । २ ॥

यह मेरा शरीर है और यह मेरी बुद्धि है मेरा मन कहीं गया हुआ था इत्यादि कथन और अनुभव से विदित होता है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन बुद्धि और शरीर भिन्न २ वस्तुयें हैं क्योंकि जमीर अर्थात् गनके उभय होने पर यह कथन नहीं हो सकता। जैसे कोई नहीं कहता कि मैं मेरा हूं।

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानाभावात् ॥ सां० ३॥४

यदि मन को तुम शिला पुत्र की भांति लगांना चाहो तो नहीं लग सक्ता ऐसे स्थालों पर धर्मो के ग्रहण करने वाले प्रमाण के विरुद्ध होने से यह कथन मात्र है क्योंकि शिला में पुत्र जनन शक्ति नहीं तो उसके पुत्र का शरीर ही, कैसे हो सकता है।

प्यारे पाठकगण! महात्मा कपिल जी ने इस बात का प्रमाण दिया है कि यदि चेतन तत्व का गुण है तो कभी सुषुप्ति और मरण का होना

सिद्ध न होगा क्योंकि गुण अपने गुणी से भिन्न नहीं हो सकता। और तुमने चेतन को तत्वों का गुण स्वीकार कर लिया इसलिये वह तत्व में सदैव रहेगा जब चेतन रहा तो मृत्यु कभी नहीं होगी। महात्मा गौतम जी ने वहुतसी युक्तियाँ दी हैं कि आत्मा है।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥ न्याय द० ३।१।१।

जिस वस्तु को आंखों से देखा हो उसको स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचा से स्पर्श कर के कहते हैं कि जिस को मैंने आंखों से देखा था उसको त्वचा से स्पर्श किया इस से विदित होता है कि इन्द्रियों के विषयों को अपना मानने वाला जीवात्मा शरीर से पृथक् है, यदि न होता तो आंख ने रूप देखा और स्पर्शेन्द्रिय ने स्पर्श किया फिर किस प्रकार कहा जाता कि जिस को मैंने देखा उसको स्पर्श करता हूं।

न विषयव्यवस्थानात्॥ न्या० ३।१।२॥

इस सूत्र में पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं क्योंकि विषय नियत हो चुके हैं जैसे आंखों के होने से देखते हैं और न होने से नहीं देखते कान के होने से सुनते हैं व कान के न होने से नहीं सुनते, रसना [जिह्वा] के होने से रस लेते और रसना के न होने से रस नहीं लेते, इसी प्रकार शेष इन्द्रियां भी अपने २ विषय को ग्रहण करती हैं इस दशा में जब इन्द्रिय के ठीक और शुद्ध होने से विषय का ग्रहण होता है और नहीं होने से नहीं होता फिर एक चेतन मानने की क्या आवश्यकता है? पूर्व पक्ष में दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं प्रथम यह कि इन्द्रिय जो विषय का ज्ञान प्राप्त करती हैं क्या उन में चेतनता है? या किसी चेतन की सहायता से ग्रहण करती हैं इसका उत्तर महात्मा गोतमजी देते हैं।

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः। न्या० ३।१।३

यदि एक इन्द्रिय सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करने वाली होती तो इस दशा में चेतन जीवात्मा की आवश्यकता न होती परन्तु जब एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियों के विषयों को अनुभव नहीं करती तो किस प्रकार एक के ज्ञान का दूसरे को बोध हो सकता है इस लिये सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण

करने वाला जीवात्मा अवश्य है। इन्द्रियों का अपने नियत विषय को छोड़ कर दूसरे का काम न करना ही इसका प्रमाण है 'स्मृति' इन्द्रिय का विषय है या आत्मा का? यदि कहा जावे कि इन्द्रिय का तो किस इन्द्रिय का? इस पर महात्मा गौतम जी कहते हैं कि—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः। ३। १। १४॥

स्मृति आत्माका गुण है क्योंकि दूसरेके अनुभवका दूसरेको ज्ञान या स्मृति उत्पन्न नहीं होती। और इन्द्रियोंके चेतन मानने से बहुत से चेतन मानने पड़ेंगे जिससे विषय की व्यवस्था नहीं होगी इस कारण एक ही चेतन है जो बहुतों को देखता है और वह देखने आदि का निमित्त इन्द्रियों से भिन्न है और वही पूर्व देखे हुए अर्थ का स्मरण करता है।

प्यारे पाठकगण! बहुत से मनुष्य यहां पर यह प्रश्न करेंगे कि स्मृति मन अर्थात् दिमाग [मस्तिष्क] का धर्म है इस कारण जीव कोई नहीं, ऐसा ही पूर्व पक्ष इस सूत्र में किया गया है:—

"नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्। न्य० ३। १। १६

देहादि से भिन्न कोई आत्मा नहीं क्योंकि आत्मा के साधक, मनमें ही घट सक्ते हैं अर्थात् दर्शन स्पर्शन से एकार्थ का ग्रहण करना इत्यादि जो आत्मा को ज्ञानी बतलाने वाली युक्तियां हैं उन का होना मन में ही सम्भव है, इसका उत्तर यह है कि यदि तुम्हारा मन भौतिक है तो उस में ज्ञान का होना, असम्भव हो जावेगा। यदि अभौतिक है तो उस में ज्ञान का होना, ज्ञान को भूतों का गुण सिद्ध करेगा; जिससे नींद और मृत्यु का होना असम्भव हो जावेगा। यदि अभौतिक है तो आत्मा का दूसरा नाम मन हो जायगा। क्योंकि शरीर भौतिक है और अभौतिक सदैव इस से भिन्न होगा।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेःसंज्ञाभेदमात्रम्। न्या० ३। १। १७

ज्ञान के साधन ज्ञाता के लिये होते हैं आंखों से देखना, कान से सुनना स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करना, इस प्रकार सब विषयों के ज्ञान का साधन मन है यदि मन ही को ज्ञान मानलो तो ज्ञाता का नाम आत्मा न सही मन सही इस दशा में केवल नाम का भेद होगा, मुख्य विषय में

तो कुछ भेद न होगा।

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं—

नियमश्च निरनुमानः ॥ ३ । १ । १८ ॥

उ०—नियम भी अनुमान (युक्ति) शून्य है ॥

प्रतिवादी ने यह जो नियम किया है कि रूपादि के ग्रहण साधन चक्षुरादि इन्द्रिय तो हैं परन्तु सुख दुःख के अनुभव तथा मनन करने का कोई साधन नहीं है। यह नियम युक्तिशून्य है, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रूपादि विषयों से सुख दुःख पृथक् हैं, इस लिये उन के ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से भिन्न अवश्य कोई मानना पड़ेगा। जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, उस के लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण माना गया, इसी प्रकार चक्षु और घ्राण दोनों से रस ग्रहण नहीं होता तब उसके लिये तीसरा इन्द्रिय रसना मनाना ही पड़ा, ऐसे ही शेष इन्द्रिय के विषय में समझ लीजिये। इसी प्रकार आंख आदि इन्द्रियों से सुखादि का ग्रहण नहीं होता, अतः उनके ग्रहण करने के लिये भी कोई इन्द्रिय अवश्य मानना पड़ेगा और वह मन है, जिस में एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो नहीं सकती अर्थात् जब जिस इन्द्रिय के साथ उस का संयोग होता है तभी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है और संयोग न होने पर इन्द्रिय के अविकल और समर्थ होने पर भी ज्ञान नहीं होता। इस लिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं वे मन में कदापि नहीं घट सकते ॥ अब यह बात विचारणीय है कि देहादि संघात से भिन्न जो आत्मा सिद्ध हुवा है, वह नित्य अथवा अनित्य भेद से दो ही प्रकार का होता है आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी वह नित्य है अथवा अनित्य ! यह सन्देह अवशिष्ट रहता है। देह से पृथक् होने से पहले तो आत्मा की स्थिति, जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध हो गई। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है इस पक्ष की सिद्ध करते हैं—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ । १ । १९ ॥

उ० पूर्व जन्म के अभ्यास की स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुवे बालक को हर्ष भय शोक की प्राप्ति होने से आत्मा नित्य है। तत्काल जन्मा बालक (जिस ने इस जन्म में हर्ष भय और शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है) हर्ष, भय और शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्वजन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध हो नहीं सकता और पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतएव सिद्ध है कि यह आत्मा इस शरीर के नष्ट होने पर भी शेष रहता है, अन्यथा सद्योजात बालक में हर्षादि की प्रतिपत्ति असंभव है। इस से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है।

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्। न्या० ३।१।२२

मर कर जब प्राणी जन्म लेता है तब उसी समय विना किसी की शिक्षा वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है, यह बात विना पूर्वकृत भोजनाभ्यास के हो नहीं सकती, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उसने भोजन का अभ्यास किया नहीं, फिर उसकी प्रवृत्ति उस में क्यों कर हुई हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित बालकादि पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर दुग्धपानादि करने में प्रवृत्त होते हैं। विना पूर्व जन्म को माने जातमात्र की भोजन में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इस से अनुमान होता है कि इस शरीर से पहिले भी शरीर था, जिस में इस ने भोजन का अभ्यास किया था। जब उस शरीर को छोड़ कर यह दूसरे शरीर में आया, तब क्षुधा से पीडित होकर पूर्वजन्माभ्यस्त आहार का स्मरण करता हुवा दूध की इच्छा करता है, अतएव देह के नाशसे आत्मा का नाश नहीं होता—प्यारे पाठक! महात्मा कणादजी इस विषय में लिखते है—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः। ३।१।२॥

घ्राण रसना चक्षुः त्वचा तथा श्रोत्र भेद से पाँच प्रकार के इन्द्रिय और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द यह पांच उक्त इन्द्रियों के विषय

हैं, यह दोनों प्रत्येक पुरुष को ज्ञात हैं इन के सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब—इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि को आत्मा की सिद्धि में लिङ्ग कथन करते हैं

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥

वै० ३—१—२॥

भाष्य—इन्द्रिय तथा उनके गन्धादि विषयों में 'यह घ्राण है, यह गन्ध है, इस प्रकार का ज्ञान, इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न पदार्थ की सिद्धि में हेतु है अर्थात् जैसे छिदिक्रिया के साधन भूत कुठारादिकों का प्रयोक्ता उनसे भिन्न होता है वैसे ज्ञान के साधन भूत घ्राणादि इन्द्रियों का प्रेरक उनसे भिन्न है क्योंकि 'जो प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है, यह नियम है इस नियम के अनुसार जो घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों में प्रेरणा करने वाला उनसे भिन्न पदार्थ है वही आत्मा है और जो गुण हैं वह द्रव्य के आश्रित होता है द्रव्य को छोड़कर गुण कदापि नहीं रहता इस नियम के अनुसार, यह घट है' 'यह रूप है, इत्यादि ज्ञानों का आश्रय भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य तथा इन के कार्य भूत शरीरादि उक्त ज्ञान के आश्रय नहीं हो सकते इस लिये जो उक्त ज्ञान का आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है॥ दूसरी युक्ति देते हैं

कारणाज्ञानात्" वै० ३—१—४॥

शरीर के समवायिकारण सूक्ष्म भूतों में रूपादि विशेषगुण समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं ज्ञान नहीं, यदि रूपादि की भांति उन में ज्ञान भी समवेत होता तो वह अपने कार्य शरीर में ज्ञान का भी आरम्भक होता परन्तु नहीं है इससे सिद्ध है कि वह शरीर समवेत नहीं।

कार्येषु ज्ञानात् ॥ वै० ३।१।५॥

यदि सूक्ष्म भूतों में ज्ञान को समवेत मानें तो शरीर की भांति उनके कार्य घट पट आदि द्रव्यों में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये अर्थात् जैसे शरीर के आरम्भक सूक्ष्मभूतों में रूपादि विशेष गुणों के पाये जाने से शरीर की भांति उनके कार्य घट पट आदि द्रव्यों में उक्त गुणों की उप-

लब्धि होती है वैसे ही ज्ञान की भी उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु नहीं होती इस से सिद्ध है कि सूक्ष्म भूतो में ज्ञान नहीं और उन में ज्ञान के न होने से वह रूपादि की भांति शरीर का विशेष गुण भी नहीं हो सकता ॥

अज्ञानाच्च ॥ वै० ३ । १ ६ ॥

यदि यह कहा जावे कि घट आदि सम्पूर्ण वस्तुयें चेतन हैं उन में सूक्ष्म रूप से ज्ञान है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि यह किसी प्रमाण से भी निश्चय नहीं हो सकता । प्रत्यक्ष से तो सर्वथा घटादि जड प्रतीत होते हैं । अनुमान के लिये भी कोई व्याप्ति नहीं और शब्द से भी जड और चेतन दो प्रकार की सृष्टि का होना सिद्ध है । सारांश यह कि किसी प्रमाण से भी घट आदि चेतन सिद्ध नहीं हो सकते । प्यारे पाठक ! उपर्युक्त युक्तियों से जीव का शरीर से भिन्न और अभौतिक होना अच्छी प्रकार से ज्ञात होता है मृत्यु और निद्रा का होना इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर से आत्मा भिन्न है क्योंकि यदि शरीर को चेतन मानें तो भूतों का कार्य होने से उनके कारण को चेतन मानना पड़ेगा और भूतोंके चेतन होने से घट पट आदि सब चेतन हो जायेंगे इस समय जड़ और चेतन का भेद सर्वांश में नहीं रहेगा क्योंकि अब तो जड़ को भोग्य और चेतन को भोक्ता माना जाता है और फिर ज्ञेय और ज्ञान भी नहीं होगा क्योंकि सब ही चेतन हैं और चेतन द्रष्टा होता है दृश्य नहीं होता । इति

जीवात्मा द्रव्य है या गुण ॥

बहुधा मनुष्यों को यह भ्रम उत्पन्न हो रहा है कि जीवात्मा, द्रव्य है है या गुण ? यद्यपि संस्कृतफिलासफी (दर्शन) या साइन्स [भौतिक-विद्या) के ज्ञाताओं ने जीवात्मा को द्रव्य ही बतलाया है जैसा कि महात्मा कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में जो नौ द्रव्य बतलाये हैं उन में एक आत्मा भी है जिस से ज्ञात होता है कि वैशेषिककार उसे द्रव्य मानते हैं।

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि । वै० ॥१॥५ ।

अर्थ–पृथ्वी जल, तेज अर्थात् अग्नि, वायु, आकाश काल दिशा, मन, आत्मा ये नौ द्रव्य हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि द्रव्य का क्या लक्षण है? जिस से हम जीवात्मा को द्रव्य स्वीकार करे? और गुण का क्या लक्षण हैं? कि जिस के न होने से जीवात्मा गुणों से भिन्न समझा जावे महात्मा कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य का लक्षण किया है–

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥

अर्थ–जिस में क्रिया (कर्म) का होना पाया जावे जिस में गुण हो और जो वस्तुओं का समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते हैं अर्थात् यह द्रव्य के लक्षण हैं। अब सोचना यह हैं कि आत्मा में इन में से कोई लक्षण पाया जाता है या नहीं? तो उत्तर मिलता है कि आत्मा में ज्ञान और प्रयत्न दो गुण विद्यमान हैं जिस में गुण उपस्थित हो उस के द्रव्य होने में बाधा (आपत्ति) ही क्या है? और फारसी मंतक (न्याय) वालों ने भी रूह (जीव) को मुदरक बिज्जत [स्वाभाविक चेतन) मुतहर्रिक बिलालात (अन्य साधनों के संयोग से जो क्रिया कर सके) स्वीकार किया हैं जिस से रूह (जीवात्मा] में दरक (ज्ञान) तथा हरकत अर्थात् प्रयत्न का होना पाया जाता है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि महात्मा कणाद ने जो चौबीस गुण बतलाये हैं उन में ज्ञान को तो गुण ही नहीं बतलाया। बस जब ज्ञान गुण ही नहीं तो ज्ञान के कारण से जीवात्मा को द्रव्य कह ही, नहीं सकते? रहा प्रयत्न वह अङ्ग से मिल कर होता है इस लिये प्रयत्न भी जीवात्मा का स्वाभाविक गुण नहीं अतः जीवात्मा को द्रव्य मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। इस का उत्तर यह है कि कणाद जी ने गुण में बुद्धि की गणना की है बुद्धि और ज्ञान पर्याय वाची हैं, जैसा कि महात्मा गौतम ने न्यायदर्शन में दिखलाया है ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्या०।१।१ १५

अर्थ–बुद्धि, उपलब्धि, और ज्ञान यह भिन्न २ वस्तु [पदार्थ] नहीं हैं किन्तु एक ही के नाम हैं अब कि बुद्धि और ज्ञान दोनों पर्यायवाची हैं तो कणाद जी का बुद्धि को गुण में संख्या करने से ज्ञान का गुण होना सिद्ध होगया जब ज्ञान गुण है तो ज्ञान वाला अवश्य ही द्रव्य है परन्तु कोई २ यह

आशङ्का करेंगे कि ज्ञान बुद्धिका पर्याय नहीं इसकी सिद्धि के लिये कि बुद्धि ज्ञान से भिन्न है महर्षि मनु का "बुद्धिर्ज्ञानेनशुद्ध्यति" यह श्लोक देते हैं।

अर्थात् जलसे शरीर के अङ्ग शुद्ध अर्थात् पवित्र होते हैं और सत्य बोलने और सत्य परमात्मा की उपासना और उसकी आज्ञा के अनुकूल काम करने से मन शुद्ध होता हैं और विद्या तथा तप से जीवात्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है जब कि महर्षि मनु ज्ञान से बुद्धि का शुद्ध होना स्वीकार करते हैं तो बुद्धि और ज्ञान एक वस्तु नहीं वरन भिन्न २ पदार्थ हैं इसलिये यहां पर गौतम का प्रमाण सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं वरन निज मत हैं क्योंकि मनु तथा गौतम के मत में विरोध है। इस का उत्तर यह है कि मनु ने इस स्थल पर ज्ञान से तात्पर्य वेद लिया है अर्थात् वेद से बुद्धि की शुद्धि होती है जिस प्रकार सूर्य और नेत्र का सम्बन्ध है ऐसे ही बुद्धि और वेद का सम्बन्ध है चूंकि चेतन अर्थात् ज्ञान वाले दो प्रकार के हैं एक सर्वज्ञ दूसरा अल्पज्ञ, इसलिये उन के ज्ञान भी वेद और बुद्धि इन दो भेदों से दो प्रकार के हैं, ज्ञान शब्द का प्रयोग दोनों में हो सकता है। यहां पर वादी फिर प्रश्न कर सकता है कि क्या वेद का विद्या से तात्पर्य है जैसा कि इस श्लोक में आया है कि विद्या और तप से जीवात्मा शुद्ध होता है। इस का उत्तर यह कि विद्या और बुद्धि भिन्न है, जैसे कि वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा हैं यद्यपि बुद्धि अर्थात् ज्ञान, वस्तुओं के असंख्य होनेसे असंख्य भांतिका है परन्तु संक्षेप रीति से उस के विद्या और अविद्याये दो भेद हैं अतः जीवात्मा में अज्ञानके कारण विद्या और अविद्याये दो प्रकार के ज्ञान रहते हैं तीसरे परमात्मा का ज्ञान है उसे सत्य विद्या कहते हैं, उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जीवात्मा द्रव्य है चूंकि उस में द्रव्य के लक्षण पाये जाते हैं गुण के लक्षण नहीं पाये जाते इस लिये आत्मा गुण नहीं और न वैशेषिककार ने उसको गुणों में गिना है अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गुण के लक्षण कहां हैं और वैशेषिक दर्शन में कौन से गुणों की गणना की गई है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारण मनपेक्ष इति गुण लक्षणम् ॥वै० १-१-१३॥

अर्थ—जिसकी स्थिति द्रव्य के आश्रय पर हो, अर्थात् स्वयं द्रव्य न हो और उस में दूसरा गुण न रहता हो, संयोग और विभाग में कारण न हो, अर्थात् उसकी आवश्यकता न पडे, यह गुण का लक्षण है। जब कि जीवात्मा में ज्ञान इत्यादि गुण विद्यमान हैं तो उसे गुण किस प्रकार कह सकते हैं अब जो लोग जीवात्मा को द्रव्य नहीं मानते उन्हें विचारना चाहिये कि जीवात्मा को द्रव्य न माना जावे तो उसके आश्रय के लिये किसी दूसरे द्रव्य की आवश्यकता होगी क्योंकि जब जीवात्मा को गुण मानेंगे तो प्रश्न उपस्थित होगा कि वह किसका गुण है और गुण दो प्रकार के होते हैं एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक (जो किसी दूसरे के कारण से प्राप्त हो) फिर प्रश्न होगा कि वह गुण नैमित्तिक है या स्वाभाविक—यदि कहा जावें कि जीवात्मा शरीर का स्वभाव है तो वह शरीर की विद्यमानता से भिन्न नहीं होसक्ता परन्तु हमें शरीरसे जीवात्मा भिन्न होता हुआ प्रतीत होता है जिससे मृत्युका होना स्वीकार किया जाताहै साधारणतः मनुष्य मृत्यु के समय कहते हैं कि अमुक मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो गया इन्तकालके अर्थ मकान का बदलना है यदि जीवात्मा शरीरका स्वभाविक गुण होतो शरीर की उपस्थिति में किस प्रकार परिवर्त्तन हो सकता है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह (जीवात्मा) शरीर का स्वाभाविक धर्म नहीं ? यदि कहो कि वह (जीवात्मा) शरीर का नैमित्तिक धर्म हैं तो वह किस कारण शरीर में आता है और किस कारण जाता है, और वह मुख्य गुण किस का है ? कल्पना करो—कि पानी का स्वाभाविक गुण शीतलता है और अग्निके कारण उसमें उष्णता आसकती है यदि अग्नि का स्वाभाविक धर्म उष्णता न होती तो किसी प्रकार पानीमें न आसकती। इसी भांति जब तक जीवात्मा किसी का स्वाभाविक धर्म न स्वीकार कर लिया जावे और उसको युक्तियों से सिद्ध न किया जावे तब तक जीवात्मा भी शरीर का नैमित्तिक गुण नहीं कहसकते। कतिपय लोगों का यह विचार है कि जीवात्मा प्रकृति की एक दशा का नाम है अब यह प्रश्न होता है कि यह प्रकृति की दशा किस कारण से होती है क्योंकि दशा के लिये यातो अवस्था शब्द का प्रयोग हो सकता है या परिणाम का परन्तु परिणाम और अवस्था कभी भी विना कारण नहीं हो सकता।

क्योंकि यह प्रकृतिका स्वाभाविक गुणतो है ही नहीं किन्तु इस दशामें उसे अस्वाभाविक गुण ही कह सक्ते हैं। जब जीवात्मा को नैमित्तिक गुण मानोगे तो उस के लिये कारण की आवश्यकता होगी विना कारण के कभी नैमित्तिक का अस्तित्व व नास्तिकत्व होना सम्भव नहीं दूसरे दशा भी एक गुण है अतः उसे नैमित्तिक गुण ही कहसकते हैं इस अवस्था में जब कि जीवात्मा को नैमित्तिक गुण स्वीकार किया जावे तो उसमें ज्ञान इत्यादि दूसरे गुणों का होना किस प्रकार सम्भव हो सक्ता है क्यों कि गुण में गुण हो ही नहीं सकता जैसा कि गुण के लक्षणों में वतलाया गया है जबके जीवात्मामें गुण विद्यमान है इस लिये उसे प्रकृति की एक अवस्था या परिणाम भी नहीं कह सकते बहुत मनुष्य कहते हैं कि जीवात्मा भी तो भूतों का कार्य है ? यदि हम जीवात्मा को भूतों का कार्य स्वीकार करलें तो उसे (द्रव्य) ही मानना पड़ेगा क्यों कि कारण के अनुकूल कार्य के गुण होते हैं जैसा कि महात्मा कणाद जी ने भी वैशेषिक दर्शन में लिखा है कि भूतों के द्रव्य होने से जीवात्मा का द्रव्य होना स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु भूत जड़ अर्थात् ज्ञान से रहित हैं उनका कोई कार्यचेतन नहीं हो सकता क्यों कि जो गुण कारण में न हो वह कार्य में कहां से आसकता है जब तक कोई भूत चेतन सिद्ध न किया जावे तब तक उनका कोई कार्य चेतन नहीं कहला सकता क्यों कि इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव हो जाती है जो कि असम्भव है। महात्मा कपिलजी ने सांख्य दर्शन में भूतों से जीव की उत्पत्ति का खंडन किया है।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपिच सांहत्येऽपिच,
सां ५—१२६

अर्थ—भता में चेतनता अर्थात् ज्ञान शक्ति नहीं है। भिन्न २ भूत ज्ञान से रहित है इस लिये उनके मिलाप (संयोग) से ज्ञान शक्ति का उत्पन्न होना असम्भव है क्यों कि निमय यह है कि जो शक्ति खंडों में थोड़ी २ होती है वह मिलाप से वहुत हो जाती है परन्तु जो शक्ति खंडों में होवे ही नहीं उसकी उत्पत्ति संयोगसे नहीं हो सकती। अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति असम्भव है इस पर महात्मा कपिलजी ने सांख्य शास्त्र में भली

प्रकार से विस्तार पूर्वक सिद्ध किया है कि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

"नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। सां, १-७८

अर्थ—अवस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, जैसे शशक (खरहे) के सींग नहीं तो उससे कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती जो वस्तु होती है उससे कोई वस्तु उत्पन्न होती है इसको और भी पुष्ट करते हैं।

नासदुत्पादो नृशृंगवत्" १.११४

अर्थ—जैसे मनुष्य के सींग नहीं हैं और उनकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसे ही जो वस्तु न हो उसकी उत्पत्ति का होना असम्भव है क्योंकि उत्पत्ति के अर्थ 'प्रत्यक्ष होना, है जो वस्तु ही न हो उसका प्रत्यक्ष ही क्या होगा इसके लिये युक्ति देते हैं।

"उपादाननियमात्" सां० १.११५

अर्थ-प्रत्येक वस्तु का उपादान कारण नियत होनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो वस्तु है उसी का प्रत्यक्ष होता है जब तक वस्तु उपस्थित न हो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इस कारण जब तक भिन्न २ भूतों में किसी को ज्ञान गुण का केन्द्र सिद्ध न किया जावे तब तक वह भूतों के कार्य शरीर या जीवात्मा का गुण हो ही नहीं सकता मूल भूतों में से प्रत्येक भूत ज्ञान के लिये गाड़ी है और इन्द्रियां इस गाड़ी के घोड़े हैं और मन उन घोड़ों की वागें हैं और बुद्धि जो जीवात्मा का गुण है कोचवान का काम देती है और संसार की वस्तुयें जिन का उसे ज्ञान प्राप्त होता है इसका मार्ग है, जिसपर होकर यह आनन्द को प्राप्त करसक्ता है यदि इस विषय में अधिक अन्वेषणा की आवश्यकता है तो दर्शन और उपनिषदों को पढ़िये उनके विचारों को युक्तियों से अन्वेषण कीजिये तो ठीक पता जीवात्मा की दशाओं का मिलजायगा इस स्थान पर केवल स्थाली पुलाकन्याय से दिखलाया गया है।

इति

(प्रकृति का अनादित्व)

ध्यान की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक गुणी अपने गुणों का समुदाय हुआ करता है। जिस गुणी का गुण परिणामी होता है वह गुणी भी परिणामी होता है और जिसके गुण सबके सब उत्पत्तिमान् हों वह गुणी भीउत्पत्तिमान हुआ करता है और यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिसके मुल्क न हो वह मालिक (अधिपति) नहीं कहला सकता सकता और जिसका मुल्क पैदा शुदा (जन्य) हो वह अनादि मालिक (स्वामी) कहलाने का अधिकार नहीं रखता। क्यों कि जन्य वस्तु का नाश होना आवश्यक है। वह वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व और नाश होने के पश्चात् किस देश का मालिक होगा? इसी प्रकार जब तक व्याप्य न होगा व्यापक नहीं कहला सकता। इसी तरह ज्ञात का भी ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। प्रकृति का अस्तित्व इस समय प्राकृतिक वस्तुओं के होने से स्वयं सिद्ध है परन्तु सोचना यह है कि प्रकृति अनादि है या सादि (जन्य)? यदि आप यह कहें कि प्रकृति जन्य है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि प्रकृति किस वस्तु से बनी है उसका उत्तर यह देते हैं कि ईश्वर से। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर प्रकृति का निमित्त कारण है या उपादान कारण? यदि कहा जावे कि उपादान कारण है तो इस दशा में ईश्वर के गुण प्रकृति में अवश्य आने चाहियें। क्यों कि उपादान कारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है तो घड़े की प्रत्येक दशा में मिट्टी का गुण कठोरताआदि अवश्य रहेंगे जैसे महात्मा कणाद कहते हैं कि।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। वै० १-१-२४

कारण के गुणों के अनुसार कार्य के गुण दिखलाई देते हैं और कार्य के गुणों से कारण का अनुमान होता है यदि ईश्वर को निमित्तकारण मान कर उपादान कारण से नकार करोगे तो अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी इस दशा में कार्यकारण भाव का नियम टूट जायगा उसके विषय में महर्षि कपिल मुनि कहते हैं:—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। सां० १-७८

कि अवस्तु से वस्तु सिद्धि नहीं होसक्ती जैसे खरहे के सींग से कोई यत्न नहीं बन सकता। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार की मिथ्या बात को स्वीकार करे तो मुक्ति का होना और दुक्खों से छुटना असम्भव होजायगा क्यों कि वर्त्तमान अवस्था में तो कारण के नाश से कार्य का नाश माना जाता है परन्तु अवस्तु से वस्तु उत्पन्न होने पर कार्यकारण भाव का नियम नहीं रहेगा और न कारण के नाश से कार्य का नाश होगा इस दशा में रोग का निदान भी न हो सकेगा हमारे वेदान्ती भाई जो अद्वैत की सिद्धि के लिये प्रकृति से नकार करते हुए जगत के अस्तित्व से भी नकार करते हैं यह बहुत भारी भूल है इस पर महात्मा कपिलजी लिखते हैं कि।

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्चनावस्तुत्वम्। सां० १। ७९

निषेधक न होने से और दोष युक्त कारण से उत्पन्न न होने से प्रकृति को अवस्तु नहीं कहसकते हैं। अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का भी श्रुति से निषेध नहीं होसकता यह पदार्थ ऐसे भी नहीं कि जिस प्रकार पाण्डु रोग का दोष जब नेत्रों में होता है तो शंख में भी पीलापन प्रतीत होता है स्वप्न के पदार्थ इन्द्रिय दोष से उत्पन्न नहीं होते क्यों कि स्वप्न काल में इन्द्रियों के दोष की कल्पना करने में प्रमाण का अभाव है इस कारण स्वप्न के पदार्थों की उपमा देकर जगत के पदार्थों को अवस्तु कहना ठीक नहीं। और प्रपंच अर्थात् जगत का अभाव मानने से श्रुति में अप्रमाण्य दोष आजायगा। क्यों कि श्रुति भी तो जगत के अन्तर्गत ही है। जब जगत मिथ्या है तो श्रुतियां स्वयं मिथ्या हो जायंगी और जो मिथ्या वाणी से मिथ्या माना जावे वह सत्य होगा क्यों कि-दो अवस्तु से १ वस्तु सिद्ध हो जाती है। जैसे संख्या के शून्य को शून्य के साथ गुणा करने से गुण फल स्थिर हो जाता है। या यों समझिये कि सत के अभाव में असत है असत के अभाव में फिर सत होगा और नाश रहित से तात्पर्य सदैव रहने वाला है इस कारण झूंठा जिस को झूंठ कहे वह सत्य होता है यहां महात्मा कपिल जी कहते हैं कि-

भावेतद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः
सां० १ । ८०

भाव मानने पर उसके संयोग होने से कार्य की सिद्धि हो सकती है और अभाव से किस प्रकार सिद्धि हो सकेगी । उसका यह तात्पर्य है कि कारण के सत् होने से उसके संयोग से कार्य की उत्पत्ति होसकती है और कारणके लोप होने से और कार्य के भी न होनेसे किस के संयोग से कार्य की उत्पत्ति होगी । प्यारे पाठकगण ! अब ईसाई लोग जोईश्वर को आकाश पर मानते हैं उसके दाहिने ओर तख्त पर मसीह को स्वीकार करते हैं (यह मन्तव्य मुसल्मान तथा ईसाइयों के एक समान हैं) यदि उन से पूछिये कि जब तक ईश्वर ने आकाश नहीं बनाया था ईश्वर कहां रहता था इसका उत्तर आकाश को नित्य मानने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होसकता और हमारे मुसलमान भाई भी आकाशों के माननें वाले हैं यदि उनसे प्रश्न किया जावे कि भाई ? संसार के उत्पन्न करने से पूर्व ईश्वर किसका स्वामी था ? तो उत्तर होगा कि शून्य का ? ईश्वर कहां था ? उत्तर होगा कहीं नहीं ? क्योंकि उनके मत में ईश्वर के सिवाय प्रत्येक वस्तु जन्य (उत्पन्न हुई) है इससे स्पष्ट विदित होता है कि सृष्टि से पूर्व कोई वस्तु न थी जिसका ईश्वर स्वामी कहलाता ? मानो ईश्वर इन वस्तुओं के उत्पन्न करने के पश्चात् स्वामी बना है और वस्तुओं के नाश के पश्चात् किसी का स्वामी न रहेगा क्योंकि (प्रत्येक) सांसारिक वस्तु नाशवान है और नाशवान वस्तु के पदार्थ किस प्रकार अमर रह सकते हैं उनके मतमें ईश्वर व्यापक भी नहीं हो सकता क्योंकि व्यापक होने के लिये व्याप्य का होना आवश्यक है और सिवाय ईश्वर के कोई वस्तु अनादि नहीं है तो व्यापक किस प्रकार होसकता है और व्याप्य अनादि नहीं तो व्यापक भी कैसे अनादि कहला सकता है मानो अनादि व्यापक होने का गुण भी ईश्वर में उत्पन्न माना जायगा । ईश्वर सर्वज्ञ है जब कि सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी उस समय ईश्वर किस का ज्ञाता था उत्तर होगा कि केवल अपने का ? मनो जब सृष्टि उत्पन्न हुई तब ईश्वर में सर्वान्तर्यामित्व का गुण प्रकट हुआ ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध ज्ञाता अर्थात्

ज्ञानी के साथ है यदि ज्ञेय न होता तो ज्ञाता को सिवाय अपने स्वरूप के किस का ज्ञान होता ? मुसलमान तथा ईसाई लोग सिवाय ईश्वर के, सृष्टि आदि किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते। इस लिये ईश्वर सर्वज्ञ नहीं और नाहीं अनादि ही हो सकता है क्यों कि संसार का नाश हो जावेगा तब भी सर्वज्ञ नहीं रहेगा मानो ईश्वर न अनादि और न सर्वेश्वर है न सर्वज्ञ और न व्यापक हो ? जब ईश्वर के गुणों का आरम्भ मानोगे तो गुणी जो गुणों का संग्रह होता है उत्पत्तिमान मानना पड़ेगा और गुण परिवर्त्तन शील होने से गुणी भी परिणामी होकर नशवान हो जावेगा। बहुत से भाई यह शंका करते हैं कि जब ईश्वर 'जीव' और (प्रकृति) तीनों अनादि हैं तो अनादित्व के गुण तुल्य होने से तीनों समान होंगे और ईश्वरमें क्या अधिक उपाधि रहगई ? परन्तु उनकायह कहना ठीकनहीं अर्थात् इस समय जीव और प्रकृति ईश्वर तीनों विद्यमान हैं मानो अस्तित्व के गुण में तीनों बराबर हैं। पर क्या इतनी समानता से तीनों एक होगये ? आप कहेंगे नहीं, क्योंकि ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है और जीव तथा प्रकृति सृष्टि के अन्तर्भूत हैं। जिस प्रकार जीव और प्रकृति के अस्तित्व गुणका समान होना उत्पादक और उत्पत्ति शील होने के कारण से उन को ईश्वर के तुल्य नहीं होने देता इसी प्रकार जीव और प्रकृति के अनादित्व गुण में बराबरी होने से अधिष्ठाता और अधिष्ठेय दोनों तुल्य नहीं हो सकते क्योंकि ईश्वर स्वामी है और जीव तथा प्रकृति उनके अधिष्ठान (सम्पत्ति) है। ईश्वर व्यापक है और जीव तथा प्रकृति व्याप्य है ईश्वर सर्वज्ञ हैं और जीव तथा प्रकृति उसके ज्ञान में है मानो इस दशा में ईश्वर के अस्तित्व पर किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता वह सदैव स्वामी तथा संसार का भरण पोषण करने वाला व्यापक बना रहता है। प्यारे पाठक गण ! सब बुद्धिमानों की इस विषय में एक सम्मति है कि ईश्वर का कोई गुण दूसरे गुण के विरुद्ध नहीं। एक समय में दो विरुद्ध धर्म वाली वस्तुयें नहीं मानी जासकती तो आप ईश्वर के कर्तृत्व के गुण को इस कक्षा तक क्यों खींच ले जाते हो ? जिससे उसके गुण सम्पत्ति की एक कृत्रिम कक्षा को प्राप्त हो जाते हैं और सर्वज्ञता तथा न्याय पर भी धब्बा आजाता है और व्यापक तो कहलाही

नहीं सकता। मानो आप उसके एक गुण के सामने दूसरे गुणों को निर्बल करके गुणी को निर्बल करते हैं। हम को ईश्वर के प्रत्येक गुण के साथ प्यार (स्नेह) करना चाहिये जिससे ईश्वर के स्वरूप तथा गुणों पर हमारी अज्ञानताके कारण दोष उत्पन्न न हों और बुद्धिमान लोग नास्तिक न हो जायं क्योंकि इससे अविश्वास का बल बढ़ जाता है। आर्य गण ! एक मनुष्य यह शंका करता है कि जब ईश्वरने जीवात्मा और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो ईश्वर को उनका ज्ञान ही न होगा। क्योंकि जो जिसको उत्पन्न नहीं करता उसको उसका ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्य स्वरूप जिस स्थान पर उपस्थित होता है यदि वहां पर कोई परदा [आवरण] न हो तो उसको वहां की ठीक २ अवस्था ज्ञात होती है क्योंकि ईश्वर संसार में प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है संसार का कोई स्थल नहीं जहां ईश्वर न हो और ऐसा कोई जीव नहीं; जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर को उनका ज्ञान नहीं यदि मध्यमें कोई परदा मानलें तो ईश्वर व्यापक नहीं रहेगा मानो वह परदे के एक ओर रहेगा दूसरी ओर न होगा परन्तु ईश्वर व्यापक है कोई परमाणु उससे रिक्त नहीं तो आप उसको किस प्रकार परदेमें रख सकते हैं जिसके सन्मुख आवरण नहीं और जो ज्ञान शक्ति वाला है तो अवश्य उसको प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान है। पाठक गण ! बहुत से लोग यह कहते हैं कि परमेश्वर ने जीव और प्रकृति को उत्पन्न नहीं किया तो किस प्रकार वह उनका स्वमी बनेगा ? उनका यह कथन भी ठीक नहीं क्यों कि यदि वह स्वामी बना होता तो बनने के साधन (वसीले) पर भी शंका की जाती जब कि वह स्वामी बना ही नहीं वरन अनादि है तो यह कहना कि स्वामी क्यों कर बन गया असत्य है। परन्तु स्मरण रहे कि जड़ और चेतन, प्रबल और निर्बल का प्राकृतिक शासन है। जैसे यदि कोई कहे कि कुम्हार ने मिट्टी को उत्पन्न नहीं किया—किस प्रकार उस मिट्टी का स्वामी कहलावेगा और उससे घड़ा इत्यादि जो वस्तुयें चाहता है बनाता है वह किस प्रकार मिट्टी का शासक (ईशन करने वाला) बन गया ? स्पष्ट उत्तर होगा कि जड़ होने से, चूंकि मिट्टी ज्ञान नहीं रखती इस लिये

चेतन कुम्हार उस पर आधिपत्य रखता है और उसको काम में लासकता है जो चाहे सो बना सक्ता है। इसके अतिरिक्त हमको संसार में यह नियम ज्ञात होता है कि जब किसी चेतन की शक्ति में जड़ शक्ति के गुण अज्ञान और आलस्य आ जाते हैं तो उस को भी दूसरी चेतन शक्ति आधीन कर लेती है इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जड़ चेतन की आधीनता में सदैव रहता है और यह नियम कभी नहीं बदलता। इसी प्रकार निर्बल पर प्रबल शासन करता है। क्या मनुष्यों ने भैंसों को उत्पन्न किया है, जो उनपर शासन करते हैं और उन को अपनी सम्पत्ति समझता है कोई नहीं कह सकता कि मनुष्य ने पशुवोंको उत्पन्न किया। पशुओं पर मनुष्यों को किसने शासन दिया? बुद्धि ने। मनुष्य में बुद्धि पशुओं से अधिक है इस कारण मनुष्य पशुओं पर शासन करता है जहां जहां मनुष्य की बुद्धि क्षीण हो जाती है वहाँ २ से उसका शासन करने का अधिकार नष्ट हो जाता है परमात्मा का ज्ञान गुण अनादि है इस कारण उस का यह गुण भी अनादि है इसीलिये सब का अनादि स्वामी है और जीव तथा प्रकृति उसका देश और शासित हैं प्यारे पाठकगण! संसार में मनुष्य को दुख सुख से काम पड़ता रहता है तो यह मालूम करना उसका कर्तव्य है कि दुख और सुख कहां से आते हैं जो मनुष्य के लिये सिवाय ईश्वर के किसी वस्तु को अनादि नहीं मानते उनको मानना पड़ता है कि वह दुख और सुख दोनों अपनी इच्छानुसार देता है फिर बतलाइये? ईश्वरकी उपासना कोई क्यों करेगा यदि कहा जावे कि दुख अन्तःकरणके संयोग से पैदा होता है तो जो इन्द्रिय ईश्वर से उत्पन्न हो उसमें ईश्वर का गुण मानना पड़ेगा यथा जित ने स्वर्ण के अलङ्कार बनते हैं वह सब सोना है इस दशा में दुख और सुख दोनों ईश्वर के गुण होगये चूंकि दुख और सुख दो विरुद्ध गुण हैं यह दोनों एक ईश्वर में रह ही नहीं सकते। इसके विरुद्ध जब तीन पदार्थोंको अनादि मानते हैं तो विषय स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब जीव प्रकृति की इच्छा करता है और उससे सम्बन्ध जोड़ता है तो उस सम्बन्ध से प्रकृति के गुण उस में आजाते हैं क्योंकि प्रकृति का गुण ज्ञान नहीं। जब जीव का प्रकृति से सम्बन्ध होता है तो प्रकृति की जड़ता जीव की स्वतन्त्रता और ज्ञान को ढके

लेती है इससे जीव प्रकृति के सदृश परतन्त्र और मूढ़ होजाता है और जब ज्ञान तथा स्वतन्त्रता खोगई हो तो ईश्वरीय नियम व आज्ञा से सुख का नाश होजाता है और वह पराधीन होकर सुखकीइच्छा तो करताहै परन्तु ज्ञान और स्वतन्त्रता के ढक जाने से उसको पूरा करने के साधन प्रथम तो मालूम ही नहीं यदि किंचित जान भी जावे तो भी स्वतन्त्रता के अभाव से कुछ कर नहीं सकता बस उसकी कामना का होना और उसके पूरा करने के साधन का न होना उसको अति कष्ट देते हैं। महात्मा गोतम मुनि ने न्यायदर्शन में दुख का लक्षण भी यही किया है।

"वाधनालक्षणं दुःखम्॥ न्याय दर्शन०"

अर्थात् चेतन के लिये स्वतन्त्रता का न होना दुख है तथा यदि किसी मनुष्य को क्षुधा न लगे और भोजन उपस्थित न हो तो उसको दुःख नहीं कह सकते हैं परन्तु जब भूख हो और खाना उपस्थित न हो तो उसे दुःख कहा जायगा, तृष्णा भोग से तृप्त नहीं होती वरन भोग से जिस प्रकार अग्नि में घृत डाला जाता है बढ़ती ही है मनुष्य को जितनी अधिक अवश्यकता प्रकृति की होती है वह उतना ही बन्धन में अधिक पड़ता जाता है।

ईश्वर के संयोग और उसके नियम के अनुसार चलने से सुख मिलते हैं ईश्वर के ज्ञान शक्ति स्वरूप होने से उसके योग से मनुष्य में ज्ञान और शक्ति बढ़ जाती है और इन शक्तियों से मनुष्य अपनी निर्बलता को ज्ञात करने और उसके साधनों पर आधिपत्य होनेसे सुख प्राप्त करता है मानो प्रकृति के अनादित्व विना संसार में कोई नियम नहीं चल सकता। और बिना नियम के "अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा" हो जाता है अतः प्रकृति का अनादित्व मानना आवश्यक है, प्राचीन विद्वानों ने भी इस प्रकार स्वीकार किया है जैसा उपनिषदों में लिखा है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त-भोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वतरो०॥ ४।५

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जो जन्य (उत्पन्न होने वाली) नहीं जिस में तीन शक्तियां हैं "सत्वगुण" प्रकाश करने वाली "रजोगुण" न प्रकाश

करने वाली और न ढांपने वाली। तमोगुण ढांपने वाली जिसके स्वरूप से जगत उत्पन्न किया जाता है। इसके साथ एक और नियत (सम्बद्ध) है वह प्राकृतिक नहीं परन्तु पहिली वस्तुओं के फलों को भोगता है और कर्म भी करता है। तीसरी एक और वस्तु है जो दोनों में वहकर उसके गुणों को ग्रहण नहीं करती पस यही पहिली प्रकृति और दूसरा जीव तथा तीसरा परमेश्वर है। वेद ने भी इसको एक उदाहरण में स्पष्ट किया है।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० २०।

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुये हैं और दोनों सदैव रहने वाले हैं उन में मित्र भाव भी है परन्तु उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा उस के फलों से सदैव भिन्न रहता है, प्रकृति वृक्ष है और उस में जीव तथा ब्रह्म दो पक्षी रहते हैं जीव कर्म करता और फल भोगता है ब्रह्म न कर्म करता है न भोगता है वह कर्मों के फल को देने वाला है। प्यारे पाठकगण! प्रकृति के अनादित्व पर सम्पूर्ण अर्वाचीन एवं प्राचीन दार्शनिकों की एक सम्मति है और वर्तमान काल में पदार्थ विद्या (साइन्स) के ज्ञाताओं ने भी इसका समर्थन किया है। इसके विना ईश्वर के गुणों में बड़ा दोष आता है। यह विषय परीक्षण प्रकार से भी सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु टूट कर अपने मूल में मिल जाती है महात्मा श्री कृष्ण जी का कथन है कि:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गी० २। १६

जो सत है वह कभी असत को प्राप्त नहीं होता और जो असत है उससे सत नहीं होता जगत में नाश के अर्थ उस रूप का लोप हो जाना है। अत्यन्ताभाव से तात्पर्य्य नहीं। संसार के आदि से लेकर आज तक किसी ने वन्ध्या का पुत्र, आकाश के फल, और खरहे के सींग, नहीं देखे होंगे महात्मा कपिल जी कहते हैं।

"नासदात्मलाभः न सदात्महानिः" जो वस्तु असत है उसकी किसी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सक्ती और जो वस्तु सत है उस की किसी प्रकार

हानि नहीं हो सकती केवल कार्य अवस्थारूप परिवर्त्तन होता रहता है और मूल ज्यों का त्यों तीनों काल में एक सा रहता है प्यारे पाठकगण! नवीन वेदान्ती जब प्रकृति के न मानने से संसार की उत्पत्ति का क्रम ठीक नहीं कर सक्ते, तब छः पदार्थों को अनादि, ठीक बतलाते हैं यद्यपि वह व्यावहारिक और पारमार्थिक का झगड़ा डाल देते हैं परन्तु अनादि व्यावहारिक नहीं होता, व्यावहारिक पदार्थ सदैव मध्य दशा में रहा करता है इस कारण उनका अनादि मानना तो ठीक है और व्यावहारिक बतलाना झमेले में डालना है, उन का मन्तव्य है कि—

जीवेशो च विशुद्धाचिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माक मनादयः । कारिका

(१) जीव, (२) ईश्वर, और (३) शुद्ध चेतन ब्रह्म, (४) जीव और ईश्वर दोनों का भेद, (५) अविद्या अर्थात् प्रकृति माया, और (६) इस का चेतन से सम्बन्ध, यह छः हमारे अनादि पदार्थ हैं । इन में "जीव और ईश्वर का भेद" और "माया का चेतन से सम्बन्ध" अवस्था या गुण है द्रव्य नहीं । बद्ध आत्मा का नाम जीव, और मुक्त आत्मा का नाम ईश्वर है और दोनों एक वस्तु की दो अवस्थायें हैं इस दशा में भी तीन वस्तुयें रह जाती हैं (१) शुद्ध चित् ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, (२) जीव जो अल्पज्ञ होता है और (३) माया अर्थात् प्रकृति । प्यारे पाठकगण! यहां पर वेदान्ती लोग यह कहते हैं कि हम जो अनादि मानते हैं वह व्यावहारिक बात है यथार्थ में हम एक ही पदार्थ को अनादि मानते हैं हमने ५ पदार्थों को अनादि सान्त बतलाया है और केवल एक को अनादि अनन्त माना है। यदि महात्मा शङ्कराचार्य्य जी छह पदार्थों को एकसा मानते तो शेष को सान्त और एक को अनन्त क्यों बतलाते ! वेदान्ती लोगों का यह कथन भी शङ्कराचार्य्य के सिद्धान्तों को न समझने के कारण है क्योंकि आपने पदार्थों को काल योग से अनादि माना है परन्तु पांच को देश योग से सान्त बतलाया है। आदि और अन्त दो प्रकार का होता है एक देश योग से दूसरा काल योग से । चूंकि काल से जो अनादि होगा वह काल में सांत नहीं होगा और ब्रह्म को छोड़ कर

शेष पदार्थ एक देश में रहने से देश से सान्त हैं और ब्रह्म देश से भी अनन्त है इस कारण ब्रह्म अनादि और अनन्त और शेष अनादि सान्त हैं। प्यारे पाठक गण! जहां तक आप पता लगावेंगे प्रकृति को अनादि माने विना व्यवस्था ठीक नहीं हो सक्ती इस लिये तीन पदार्थों को अनादि और नित्य मानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है।

जीवात्मा दुख सुख का अनुभव करने वाला है प्रकृति मिथ्या ज्ञान और दुःख का अधिकरण (आधार) है परमात्मा सुख का अधिकरण अर्थात् केन्द्र है इस लिये प्रकृति की उपासना से जीव मिथ्याज्ञान को पाता है और मिथ्या ज्ञान से बद्ध होकर दुख भोगता है। और परमात्मा की उपासना से मिथ्याज्ञान रूप अन्धकार नाश हो जाने से और ज्ञान स्वरूप सूर्य्य के प्रकाश होने से बंधन से छूट कर मुक्ति (परमानन्द) को प्राप्त होता है और जब तक इन पदार्थों को अनादि न माना जावे तो एक को भी अनादि सिद्ध करना असम्भव हो जायगा।

इति

" ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) की आवश्यकता "

प्रिय पाठक गण! जब हम संसार में मनुष्य की अवस्था को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य की प्रत्येक इन्द्रिय दूसरे देवता की सहायता की आवश्यकता रखती दिखाई देती है। जैसे कि मनुष्य की आंख विना सूर्य की सहायता के कुछ भी नहीं देख सकती। यद्यपि मनुष्य ने दीपक आदि प्रकाश के बहुत से पदार्थ बनाये हैं, परन्तु उनसे मनुष्य इतना काम नहीं ले सकता जितना कि सूर्य्य से। और दीपक आदि में जो कुछ प्रकाशित होता है, वह भी सूर्य्य की किरणों से उत्पन्न होता है और सूर्य्य की किरणों के भाग को छोड़कर शेष जितने तेल, बत्ती दीपक इत्यादि हैं वह प्रकाश से नितान्त रहित हैं। जिससे विदित होता है कि आंख विना सूर्य्य की सहायता के निकम्मी है, यदि संसार में सूर्य्य न होता तो आंख का होना न होना बराबर था। परन्तु यदि आंख को न बनाया जाता, तो सूर्य्य के प्रकाश से लाभ होना भी सम्भव न था यद्यपि सूर्य्य की उष्णता से बहुत से कार्य्य निकलते हैं, परन्तु प्रकाश केवल आंख की

सहायता का ही कार्य्य कर सकता है। अब दूसरे कान की ओर देख लीजिये वह आकाश के विना नितान्त निकम्मा है। बहुधा देखने में आता है कि मैदानमें दूर तकका शब्द सुनाई नहींदेता। इसका कारण यह है कि शब्द आकाश में वायु के साथ गमन करता है, जहां आकाश न हो वहां वायु के न चलने से शब्द भी नहीं चल सकता। अब यदि संसार में आकाश न होता तो कानों का होना न होना बराबर था, इसी प्रकार त्वचाको देख लीजिये वह विना वायु के नितान्त निकम्मी होजाती है। जब वायु चलता तब उसके साथ उष्णता अथवा शीतलताके परमाणु भी होतेहैं और वायु के साथ त्वचाको स्पर्श करते हैं। यदि वायु न होतो उसके विना त्वचा का होना न होना बराबर है, इसी प्रकार रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा को जल की आवश्यकता है। यदि जल न होता तो रसनेन्द्रिय को इसका ज्ञान होना असम्भव होजाता । और नासिका को सुगन्ध और दुर्गन्ध के लिये पृथिवी की आवश्यकता है।

प्रिय पाठकगण! उपर्युक्त कथन से विदित होगया कि मनुष्य की प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय विना सहायता के कार्य्य नहीं कर सकती। अब विचारना चाहिये कि क्या आन्तरिक इन्द्रिय विना सहायता के कार्य्य कर सकती है या नहीं? जहां तक विचार किया जासकता है वहां तक विचार करने से विदित हुआ है कि बुद्धि को भी सहायता की आवश्यकता है। क्योंकि जिस प्रकार नेत्रों की दृष्टि स्थान और प्रकाश के अनुसार घटती बढ़ती रहती है। जैसे कि एक मनुष्य दीपक के प्रकाश में देखता है तो उसकी दृष्टि बहुत ही पास के पदार्थों को देखती है और वह उनकी सूक्ष्म बातों को भी नहीं समझ सकता। परन्तु चन्द्रमा के प्रकाश में वह दीपक के प्रकाश की अपेक्षा विशेष दूर तक देख सकता है। और सूर्य्य के प्रकाशमें बहुत से दूर के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। साथ ही साथ स्थान तथा वस्तु की ऊंचाई निचाई के कारण दृष्टि में बहुत कुछ अन्तर होजाता है। यही दशा बुद्धि की है। जिस प्रकार का प्रकाश अर्थात् विद्या प्राप्त होती है उसी प्रकार के संस्कार जमजाते हैं। कभी तो बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के अन्वेषण में लगजाती है कभी स्थूल से स्थूल वस्तु को भी अन्ध परम्परा अथवा अनुकरण की दृष्टि से मान लेती है। तनिक भी विवेच

शक्ति से काम नहीं लेती। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश आंख को काममें सहायता देता है और उस मे कुछ न कुछ किसी को हानि भी पहुंचती है, और दीपक के प्रकाश में बैठने वाले मनुष्य को सर्वदावायु का भय लगा रहता है। यद्यपि वह अपने दीपक को वेगसहित वायु लगती देख कर तथा दीपक के प्रकाश को कांपताहुआमालूम करके अपने प्रकाश की निर्बलता को जान जाता है परन्तु जब वह अपने घर के बाहर की ओर दृष्टि डाल कर देखता है उस अवस्था में या तो उसे अँधेरा दिखाई पड़ता है या किसी और का भी दीपक जलता हुआ प्रतीत होता है। अंधकार की दशा में तो वह अपने आप को सबसे उत्तम मान लेता है, और दीपक जलता हुआ देख कर यह विचार कर लेता है कि जैसी मेरी अवस्था है वही सारे संसार की होगी, इन दोनों अवस्थाओं में उसे सत्य की जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होती। जब सत्य की जिज्ञासा ही नहीं तो सत्य का ज्ञान किस प्रकार होसकता है, जब सत्य का ज्ञान न हुआ तो वह असत्य प्राप्त करनेका आदी होजाता है।

प्रिय पाठकगण ! दीपक के प्रकाश में यात्री अपनी यात्रा पूरी नहीं कर सकता, क्योंकि थोड़ी सी पवन लग जाने से दीपक के बुझने का डर रहता है बत्ती के बुझ जाने से दीपक बुझ सकता है। वर्षा और आंधी में तो दीपक ठहर ही नहीं सकता, ऐसी अवस्था में जिसकी यात्रा केवल दीपक के प्रकाश पर निर्भर हो, वह किस प्रकार शान्ति की मंजिल (मार्ग) की ओर निडर और निर्भय होकर चल सकता है। दूसरे दीपक का प्रकाश भी तो बिना अग्नि के नहीं प्रकट हो सकता, और अग्नि सूर्य्य की किरणों से उत्पन्न होती है तो यों कहना चाहिये कि दीपक के प्रकाश का होना भी सूर्य्य के बिना असम्भव है। सुतराम् यात्री के लिये जिस प्रकार सूर्य्य का प्रकाश आवश्यक है, इसी प्रकार सत्य के मार्ग पर चलने के लिये ज्ञान के सूर्य्य का होना आवश्यक है जब कि प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक इन्द्रिय से पूर्व प्रत्येक इन्द्रिय का सहायक देवता उत्पन्न किया तो सर्वोत्तम तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के जानने योग्य औजार [यंत्र] का कोई सहायक न बनना यह बात मानने योग्य नहीं प्रतीत होती ? और नहीं मानी जासकती है, जिस प्रकार आंख के पश्चात् सूर्य्य नहीं उत्पन्न होता, इसी प्रकार बुद्धि के पश्चात् ज्ञान का सूर्य्य भी नहीं उत्पन्न होसकता, इस कारण आंख

श्यक प्रतीत होता है कि ईश्वर द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों के जताने के लिये ज्ञान का सूर्य्य अवश्य बनाया गया होगा नहीं तो परमेश्वर के पूर्ण ज्ञानी होने पर भूल का दोष लगता है ॥ जिस प्रकार सूर्य्य सृष्टि के आदि से लेकर आज तक एक ही है, उसको बदलने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । इसी प्रकार ज्ञान के सूर्य्य का भी अपरिवर्तन होना आवश्यक है और जिस प्रकार मनुष्य कृत दीपक और लैम्प सर्वदा बदलते रहते हैं, परन्तु सूर्य्य नहीं बदलता इसी प्रकार मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है, ईश्वरीय ज्ञान सर्वदा एकसा रहता है, मानो प्रकृति हमें यह उपदेश करती है कि जिस प्रकार उसके बनाये हुये प्रत्येक इन्द्रिय के सहायक अटल हैं न कभी आंख के लिये दूसरा सूर्य्य बनाने की आवश्यकता होती है न किसी अन्य इन्द्रिय के सहायक देवता के बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है, फिर कैसे विचारा जा सकता है कि बुद्धि का सहायक सूर्य्य अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान बदलता रहता है, परिवर्तन सर्वदा न्यूनता को पूर्ण करने अथवा बुरे तत्वों को निकाल कर अच्छे विषय का प्रवेश करने के लिये होता है । परन्तु ईश्वर के सर्वज्ञ होने से न तो उस के ज्ञान में अपूर्णता ही मानी जा सकती है । और न उस में कोई बुराई ही स्वीकार की जा सकती है, अन्यथा उस के सर्वज्ञ होने पर दोष लगता है । अपूर्णता तथा भूल का ईश्वरीय ज्ञानमें होना असम्भव है जैसा कि सूर्य्य में अंधकार का अतः ऐसी दशा में ईश्वरीय ज्ञानमें परिवर्तन अनावश्यक है । हां यहां से पता मिल गया कि जहां परिवर्तन होता है वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं । जिस प्रकार दीपक में उस भाग को छोड़कर जो सूर्य्य से लिया गया है शेष सम्पूर्ण भाग अर्थात् दीपक, तेल, बत्ती सबके सब प्रकाश से रहित होते हैं इसी प्रकार मनुषी ज्ञानमें जितना भाग कि ईश्वरीय ज्ञान का होता है वह प्रकाशमान अर्थात् सत्य होता है शेष जितनी बातें होती हैं वे ज्ञान से निरन्तर शून्य होतीं हैं, जिस प्रकार दीपक आदि का बनाना बिना सूर्य्य के प्रकाश के असम्भव है इसी प्रकार मनुष्य कृत विद्या की उत्पत्ति भी बिना ईश्वरीय ज्ञान के असम्भव है, क्योंकि प्रकाश के बिना तो हम में मिट्टी लेकर दीपक बनाने की भी सामर्थ नहीं है, और न सरसों से तेल ही निकालकर इसमें डालने की शक्ति होसकती है, और न रुई उपजा

कर वत्ती वनाई जासकती है, न अग्नि में ही प्रकाश डाला जासकता है मानों जिस प्रकार दीपक का जलना सूर्य्य और आंख के होनें पर ही सम्भव हो सकता है, इसी प्रकार मनुष्यकृत पुस्तकों का मिलना भी ईश्वरीय ज्ञान के पश्चात् सम्भव है। जिस प्रकार अंधा सूर्य्य के होने पर भी दीपक जलाने में आंख के विना फलीभूत नहीं होसकता इसी प्रकार बुद्धिरहित मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान होने पर भी किसी पुस्तक के वनाने में सफलता को कैसे प्राप्त हो सकता है, और जैसे संसार में मार्ग चलने में नेत्र और सूर्य्य दो आवश्यक वस्तुयें हैं, ऐसे ही प्रत्येक आत्मिक पथ के यात्री के लिये वुद्धि एंव ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है जो सूर्य्य की उपस्थिति में नेत्र मंद कर चलता है वह भी ठोकर खाता है, तथा जो आंख खोलकर अन्धेरे में चलता है वह भी ठोकर खाता है इसी प्रकार जो मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान को मांन कर वुद्धि से काम नहीं लेता वह भी उद्देश्य से गिर जाता है तथा जो मनुष्य वुद्धि के भरोसे ईश्वरीय विद्या की सहायता से काम नहीं लेता वह भी मुक्ति मार्ग से दूर जा गिरता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और दीपक का प्रकाश जांचने का साधन हमारे पास आंख है और आंख के विना हम सूर्य और दीपक के प्रकाश में भेद नहीं कर सकते, इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान और मनुष्य कृत विद्द्या में भेद करने का यंत्र प्रकृति ने हमको वुद्धि दी है। जिस प्रकार हमें दीपक के प्रकाश के अपूर्ण होने में और उस दीपक के भाग दीपक, वती और तेल के प्रकाशमान न होने में और उसकी उत्पत्ति को सूर्य्य के अस्त होनेके पश्चात् देखने से विदित होता है कि यह मनुष्य कृत प्रकाश है। दूसरे दीपक में सर्वदा वायु लगने का भय रहने से भी हम उसकी निर्वलता जान जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य कृत अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्ति से हमें विदित होजाता है कि यह पुस्तकें मनुष्य कृत हैं। दूसरे मनुष्य कृत पुस्तकों के वनने का समय भी वतला दिया है। पुस्तकें अमुक समय और देश में वनी है। तीसरे जिन पुस्तकों में यह वतलाया जाता हो कि धर्म्म में वुद्धि का प्रवेश नहीं अथवा (युक्ति) देने से "काफ़िर" होने का दोष दिया गया हो, यह पुस्तकें स्पष्टतया अपने मनुष्य कृत होने को साक्षी स्वयं देरही हैं। क्योंकि सूर्य्य और दीपक में जिस प्रकार हम आंख सेभेद

करते हैं, इसी प्रकार मानुषी विद्या तथा ईश्वरीय विद्या में विवेचन करने का साधन केवल बुद्धि है। अब सोच लीजिये कि जो मनुष्य यह कहे कि हमारा ज्ञान सूर्य है परन्तु वह आंख से नहीं देखा जाता, जिस प्रकार यह मनुष्य धोखा देता है, क्योंकि हमारे पास तो और कोई यन्त्र नहीं जिससे सूर्य्य को ठीक प्रकार से जाने, उसी प्रकार वह मनुष्य है कि जो अपनी धार्म्मिक पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान बतलाकर यह कहता है कि धर्म्म में बुद्धिका का प्रवेश नहीं। वह स्पष्टतया अपने धर्म्म की निर्बलता मानता है और दूसरों को धोखा देता है। जो मनुष्य अपनी पुस्तक को ईश्वरीय बतलाकर उसको युक्ति से पृथक रखना चाहते हैं, वह वास्तव में हमसे यह कहते हैंकि इस सुवर्णको तो मोल लेलो परन्तु उसको कसौटी पर न रक्खो जिस प्रकार सोनेका खरा खोटापन विना परीक्षाकेनहींजानाजाता इसी प्रकार विना युक्ति के यह के कैसे पता चलसकता है कि यह सम्पूर्ण पुस्तक ईश्वरीय ज्ञानसे भरपूरहै अथवा इसमें कुछ मनुष्या कृत भी है। धर्म्म में बुद्धि की सहायता न लेना वास्तवमें नेत्र मूंद कर रास्ते में चलने की सी बात है। जिस प्रकार आंख वन्द करके यात्रा करनेमें पग २ परठोकरों के लगने का भय है इसी प्रकार बुद्धि विना धर्म में चलने की दशा है। हमारे मित्र वहुधा यह प्रश्न करेंगे कि क्या तुम्हारी बुद्धि पूर्ण है कि जिस से तुम ईश्वरीय ज्ञान को परखना चाहते हो! मैं उनसे पूछता हूं कि यदि तुम बुद्धि को अपूर्ण समझकर उससे काम न लो तो वतलाओ कि तुम्हारे पास और कौनसी कसौटी हैकि जिससे तुम ईश्वर और मनुष्य कृत विद्या में भेद करसकोगे। जो मनुष्य यह कहते हैंकि ईश्वरीय ज्ञानके जांचने की आवश्यकता नहीं, उन्हीं लोगों ने संसार में रुधिर की नदियां बहादी हैं, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के लिये जो कसौटी थी उसको छोड़ दिया। अब प्रत्येक मनुष्य अपने अपने मतकी पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान से भरपूर कहने लगा परन्तु यह न समझा कि जिसप्रकार संसार में एक ही सूर्य्य ईश्वरीय प्रकाश है शेष सारे दीपक इत्यादि मनुष्य कृत हैं। इसी प्रकार संसार में एक ही ईश्वरीय ज्ञान कीभी पुस्तक है शेष सब मनुष्य कृत हैं, जिस प्रकार सूर्य्य सृष्टि के आदि में सदैव उत्पन्न होता है, वीच में नहीं, इसी प्रकार ईश्वरीय पुस्तक भी सृष्टि के आदिमें ही उतरतीहै; मध्य में नहीं।

जिस प्रकार सूर्य में कोई भाग अंधकार का नहीं वरन वह सम्पूर्ण प्रकाशमय है इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान में कोई भाग गल्प एवम् गाथाओं का नहीं, वरन् सम्पूर्ण विद्या है। उपर्युक्त लेख से आप समझ गये होंगे कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता संसार को केवल उस समय है जब कि संसार में पदार्थ ज्ञान का क्रम विद्यमान न हो। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के विना शिक्षाक्रम चल नहीं सकता ? और यह भी यदि रहे कि जिस ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है, उस का पूर्ण होना भी आवश्यक है। और जो वस्तु पूर्ण होती है उसका उस आवश्यकता के पूरे होने तक न बदलना भी आवश्यक है। और ईश्वरीय ज्ञान जिस बुद्धि की सहायता के लिये बनाया गया है, उसके अनुसार होना भी आवश्यक है। और ईश्वरीय ज्ञान में मनुष्य शक्ति के अगोचर बातों की विद्या का होना उसके पूर्ण होने का लक्षण है। क्यों कि प्रत्यक्ष वस्तुयें तो इन्द्रियों से ज्ञात होती हैं, उसके लिये ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं। हां उनके सूक्ष्म विचार के लिये, जो इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, उनका भी थोड़ा सा वर्णन आवश्यक है। इन बातों से आपको ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और उसके लक्षण विदित होगये, अर्थात् बुद्धि की सहायता के निमित्त ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है। और ईश्वरीय ज्ञान सर्वदा बुद्धि का सहायक होना उचित है। और जो बुद्धि के विरुद्ध है वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता, और ईश्वरीय ज्ञान का (प्रकट) होना सृष्टिके आरम्भ में आवश्यक है, मध्य में नहीं। अन्यथा शिक्षाक्रम चल नहीं सकता और इसमें बहुत से आक्षेप भी होते हैं। प्रथम यह कि यदि ईश्वरीय ज्ञान का प्रकट होना सृष्टिके मध्य में ठहरे तो उससे प्रथम के मनुष्यों के लिये तो होगा ही नहीं। इसमें अन्याय पाया जाता है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा मनुष्य परमात्मा की आज्ञा को जानकर तदनुकूल कार्य करने से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अब जिन मनुष्यों की मृत्युके पश्चात् ईश्वरीय ज्ञान प्रकट हुआ उन दोनों की मुक्ति किस प्रकार हुई होगी। यदि मानलें कि उनकी मुक्ति विना ईश्वरीय ज्ञान के ही होगई तब तो ईश्वरीय ज्ञानकी आवश्यकता ही नहीं। और यदि हुई नहीं तो अन्याय है। दूसरे [परमेश्वर] के नियम के नितान्त विरुद्ध है। क्यों कि प्रकृति ने पहिले इन्द्रियों के सहायक उत्पन्न किये तत्पश्चात् इन्द्रियां

जब वाह्य इन्द्रियों के लिये प्रकृति का यह नियम दिखलाई देता है तो अवश्यमेव आन्तरिक शक्ति बुद्धि का सहायक भी उससे पूर्व होना चाहिए।। कुछ लोग कहेंगे कि कदाचित् प्रकृति का यह भी नियम हो कि वह आन्तरिक बुद्धि का सहायक पीछे रचे ? क्यों कि संसार में यह साधारण कहावत है कि " अल् अहतियज अम् अल् ईजाद " (आवश्यकता आविष्कार की जननी है) परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसके लिये कोई प्रमाण नहीं। और दूसरे यह कहावत तो मनुष्य की बुद्धि के लिये है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि परिमित है उसको आवश्यकता से पूर्व आवश्यकता का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण आवश्यकता के पीछे (आवश्यकता पड़ने पर) वह अविष्कार करता है। परन्तु सवज्ञ के लिये, जिसको कि संसार की आवश्यकताओं का सर्वदा पूर्ण ज्ञान है, इसका नियम आवश्यकतासे पूर्व (आविष्कार) करना है।

ईश्वरीय ज्ञान में गल्प और गाथाओं का होना भी उसको मनुष्य कृत सिद्ध करता है। क्योंकि वह घटनाओं के पश्चात् संसार में लिखी गई हैं। उन घटनाओंसे पूर्व उनका होना असम्भवहै। सुतराम् जिस ईश्वरीय ज्ञान में गल्प और गथायें मिलें,वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं,वरन् इतिहास होसकता है। और ईश्वरीय ज्ञान में काट छांट कदापि नहीं होती क्योंकि काट छांट ज्ञान के अपूर्ण होने को सिद्ध करती है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है उसका ज्ञान पूर्णहै। अतःज्ञान में न्यूनाधिकता कभी नहीं होती। और ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों का यथार्थ वतलाना भी आवश्यक है। जो ईश्वरीय ज्ञान परमेश्वर को परिमित और दूसरे की सहायता को अधीन बतावे, वह भी ईश्वरी ज्ञान नहीं होसकता ? जिसमें प्रत्येक कार्य के लिये भिन्न भिन्न फ़रिश्तः और पैगम्बर (दूत) वताया गया हो वह केवल संसार के महाराजाओं की अवस्था को देख कर लिखा गया है क्यों कि पैगम्बर का अर्थ पैगाम (संदेशा) लाने वाले के हैं और संदेशा दूर से आया करता है। और ईश्वर व मनुष्य में दूरी वताना ईश्वर को सीमा बद्ध करना है दूसरे प्रतिनिधि एजेन्ट भी बद्ध के ही होते हैं। सुतराम ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के पूर्ण और निर्दोष गुणोंका होना आवश्यक है।

वेदों की आवश्यकता ।

मनुष्य जब संसार के पदार्थों को सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर के देखता है तब उसको निश्चय हो जाता है कि संसार में जितने रोग हैं उन सबकी औषध है और जितनी औषध हैं वह किसी न किसी रोग के लिये उपयोगी हैं जब तक मनुष्य इस बात को न जानले कि इस समय इस रोग के लिये औषध की आवश्यक्ता है तबतक उसकी प्रवृत्ति उस औषध के ग्रहण में नहीं होती और जब तक मनुष्य यह न जान ले कि मुझे अमुक रोग है तब तक वह उस की निवृत्ति के उपायों को नहीं विचारता यद्यपि वह औषध उसके पास ही पड़ी हो तो भी आवश्यक्ता के न जानने से वह उसको ग्रहण नहीं करता इससे विचारशील का काम है कि प्रथम रोग अर्थात् वस्तु की आवश्यकता पश्चात् वस्तु के गुण तदनन्तर उससे रोग की निवृत्ति अच्छे प्रकार से समझकर वस्तु के देने की चेष्टा करे नहीं तो वस्तु के दान से अभीष्ट फल सिद्धि न होगी इस कारण हम प्रथम मनुष्यों की आवश्यकता को प्रगट करेंगे ।

मनुष्यों को रोग ।

जब हम संसार में देखते हैं कि अन्न संसार के जीवों का प्राणस्वरूप है और प्राचीन विद्वानों ने भी उसको मनुष्यों का प्राण माना है "अन्नं वैप्राणिनांप्राणः" स्मृति वाक्यसे तो हम निश्चयही करतेहैं कि अन्न मनुष्यों का प्राण है परन्तु जब कोई मनुष्य कच्चा अन्न अधिक खा जाता है तो बहुधा अपचरोग हो जाता है जब अन्न अधिक खाजाताहै तो विशूचिका आदि रोगों से प्राणों का नाश प्रतीत होने लगता है उस समय उपर्युक्त सिद्धान्त से विमुख वृत्ति हो जाती है । जब हम सुनते हैं "आज्यं वै बलं आज्यं वै आयुः आज्यं वै प्राणः" अर्थात् घृत ही जीवों को बलदायक है । घृत ही जीवों की आयु है घृत ही जीवों का प्राण है तो घृत का सेवन आवश्यक प्रतीत होने लगता है परन्तु जब कोई ज्वर पीड़ित मनुष्य घृत का सेवन करता है उस समय घृत उसे बलवान् नहीं बनाता किन्तु विषमज्वर अर्थात् (तपेदिक) करके बल का नाशक, आयु का नाशक और प्राणोंका नाशक होजाता है वा घृत खा कर पानी पीलो तो खांसी उत्पन्न हो जाती है । इसको देख कर घृत खाने में अश्रद्धा हो

जाती है। अब लीजिये विष अर्थात् संखिया जो मनुष्यों को प्राणनाशक प्रतीत होता है जिसको प्राणनाशक समझ कर राज्यने भी उसका बेचना बंद कर दिया है परन्तु जब वही संखिया वैद्यकशास्त्र की रीति से शुद्ध करके जीवों को अमृत के तुल्य गुणकारी प्रतीत होने लगता है पाठकगण! उक्त दृष्टान्तोंसे निश्चय हो जाताहै कि कोई भी पदार्थ इस संसार में जीव के लिये उपकारक नहीं और न हानि कारक है किन्तु पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कर उसके गुण स्वभाव क्रिया को जान कर उस का वर्ताव करना लाभ कारक है और इससे विरुद्ध मिथ्याज्ञान के आश्रयसे उसका ग्रहण हानिकारक है। जब हमे किसी अंधकारमय स्थान में जाने का अवसर मिलता है तो भयदायक वस्तु के न होने पर भी चित्त का भय दूर नहीं होता जब प्रकाश में सिंह सर्पादि भयानक जीवों को देखते हैं तो उनकी अवस्था को जानकर हमारा भय बहुत ही न्यून हो जाता है इससे भी निश्चय होता है कि मनुष्य को अज्ञान ही भयकारक है अज्ञान के नाशसे मनुष्य का भय भी नाश हो जाता है बहुधा हम देखते हैं कि एक मनुष्य बलिष्ठ पशुओं की मण्डली को एक सोटा हाथ में लिए अपने आधीन करके जिधर चाहता है उधर ले जाता है परन्तु वह दो मनुष्यों को उस सोटे से अपने अपने आधीन नहीं कर सकता यह सब बातें प्रत्यक्ष जतला रही हैं कि ज्ञान का न होना बड़ी हानि बड़ी हानि का कारण है मनुष्यों को इसी ने परतन्त्र कर रक्खा है यही मनुष्यों के दुःखों का आधार है पाठकगण! आप यह भी जानते है कि जीव अल्पज्ञ है और प्रकृति विभु है तो प्रकृति का तत्व ज्ञान जीव को पूर्णतया होना असम्भव है इससे जीव कभी सुखी नहीं हो सकेगा और प्राचीन शास्त्रों ने भी इस बात को प्रतिपादन किया है कि मनुष्य मिथ्याज्ञान से बद्ध होता है जैसा महामुनि महात्मा कपिल जी ने अपने साँख्याशास्त्र में दिखलाया है।

"बन्धो विपर्ययात्। सां० ३ । २४"

अर्थ-विपर्य्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान ही बन्धन का हेतु अर्थात् कारण है क्योंकि प्रकृति के अविवेक से जब जीव को प्राकृत पदार्थों में यह भ्रम

उत्पन्न होता है कि यह पदार्थ मेरी आत्मा के अनुकूल अर्थात् सुखकारक है और यह पदार्थ प्रतिकूल अर्थात् दुःखकारक है तो जिन पदार्थों को आत्म के अनुकूल समझा है उनके ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है और उस पदार्थ के उत्पादन करने अर्थात् प्राप्त करने में मनुष्य यत्न करता है वह यत्न से उत्पन्न हुआ कर्म धर्माधर्म रूप फल को उत्पन्न करता है और उस फल को भोगने के वास्ते जन्म मरण अर्थात् शरीर के संयोग वियोग को प्राप्त होता रहता है और इस रोग की ओषधि तत्वज्ञान के विना दूसरी नहीं जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रान्ति से भय उत्पन्न होता है उसकी निवृत्ति का उपाय प्रकाश में रज्जु को रज्जु जाने विना दूसरा नहीं। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योग शास्त्र में लिखा है।

"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" यो० २।३

अविद्या, अर्थात् जिससे पदार्थ के तत्वस्वरूप को न जान कर भ्रम से अन्य में अन्य निश्चय करना इत्यादि और सब महात्माओं की सम्मति में मिथ्याज्ञान ही मनुष्यों का रोग है जिस के नाश से मनुष्य शान्ति सुख लाभ कर सकता है और इस रोग की ओषधि सिवाय आत्मानात्म विवेचन के दूसरी नहीं क्योंकि जब तक जीव अपने स्वरूप और प्रकृति के स्वरूप और स्वभाव को न जान ले और अभीष्ट आनन्द के अधिकरण अर्थात् आश्रय को न समझले तब जीव के दुःख की निवृत्ति होना असम्भव है।

प्रियपाठकों! हमारे महात्मा योगीश्वरों ने भी इसको पुष्ट किया है।

"ज्ञानान्मुक्तिः" सां० ३। २३।

अर्थात् मुक्ति नाम तीन प्रकार के दुःख की निवृत्ति, सो ज्ञान ही से होती और महामुनि गौतम जी ने अपने शास्त्र के आरम्भ में ही सिद्धान्त कर दिया है।

"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क-निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानांतत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" न्याय० अ० १ पा० १ सू० १॥

अर्थ--प्रमाण जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। प्रमेय, जिसका ज्ञान प्रमाण से हो। संशय जहां सामान्य ज्ञान हो परन्तु प्रमाण के अभाव से निश्चित ज्ञान न हो। प्रयोजन, जिस अर्थ की इच्छा को धारण करके कार्य्य में प्रवृत्ति होती है। दृष्टान्त, जिस में लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि समान हो। सिद्धान्त, जो प्रतिपक्षी के साथ वाद करके अन्तिम अवस्था ठहरे इत्यादि। इन सब सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि जब प्रमाणादि द्वारा जीव को यह निश्चय होजाता है कि अमुक पदार्थ मेरे आत्मा के अनुकूल तथा अमुक प्रतिकूल हैं तो सत्य कार्य्यों में प्रवृत्ति होती है जिसके भोगने के लिये जन्म की आवश्यकता नहीं होती इसी प्रकार जब जीव प्रकृति तथा ईश्वर के गुणों का ठीक २ निश्चय कर लेता है तब वह हिताहित को ठीक साधन कर लेता है जिस प्रकार भूगोल औरनक्शों के द्वारा हमको हरएक नगर देश समुद्र झील आदि का यथार्थ ज्ञान बिना श्रम घर बैठे सिखला दिया जाता है और यह भी प्रगट कर दिया जाताहै कि अमुक नगरमें यह वस्तु उत्पन्न होतीहै वहां के लोगोंका यह मत है उनकी यह रीति है जब मनुष्य इस प्रकार जान लेता है कि अमुक देशवासियों का यह धर्म है ऐसा स्वभाव है, ऐसा धन है, ऐसे कारीगर है उनका ऐसा चाल चलन है इत्यादि बातों को जान कर उसको अपने अभीष्ट की सिद्धि का ज्ञान जिस स्थल से प्रतीत होता है वह वहीं जाता है व्यर्थ भ्रमण करके अपनी आयु का नाश नहीं करता इसी प्रकार उस परमात्मा की दयालुता से प्रकृति का पूरा नक्शा जिसके जानने से प्रकृति के पूरे सिद्धान्त को जानकर अपने आत्मा के अनुकूल वा प्रतिकूल न जानकर हेय उपादेय रूप वृत्ति को इसमें न फंसा कर अपने अभीष्ट आनन्द के लिये यत्न करता है और यह पूर्ण विवेकी ज्ञान के आश्रय अभीष्ट को प्राप्त करके दुख को प्राप्त नहीं होता।

क्यों कि यह तो सामान्य पुरुष भी नहीं चाहता कि विना प्रयोजन के पक्षपात करके अपने नाम को कलंकित करे, ईश्वर में तो यह संदेह ही नहीं हो सकता प्यारे पाठको! संसार में कर्मों के फल के बिना कोई भी सुखी नहीं होता और जब तक कर्मों के विधिनिषेध का निश्चय न हो जाय तब तक उन कर्मों में प्रीति नहीं होती इससे भी ज्ञात होता है कि

कर्मों की विधि निषेध का ज्ञान ईश्वर ने जीवों को दिया है। जो मनुष्य जिस वस्तु को बनाता है जब तक उस को यथार्थ वर्तने की विधि, मुख से या लिख के न बतलादे तब तक उसका यथार्थ वर्ताव किसी को भी नहीं आता और यह भी हम देखते हैं कि हमारे सामने जो घड़ियें कारीगरों के यहां से बनकर आती हैं जब तक उसको कुंजी लगाने का समय वा विधि और सुइयों के घटाने बढ़ाने के नियम तेज और धीमा करने का विचार हमको न विदित होवे तब तक उस घड़ी से हम यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकते और न हम इस वस्तु को विगड़ने से दोषी ठहराये जा सकते हैं हम जगत् में देखते हैं कि जहां हम विना देखे थोड़ी दूर भी चले वहीं ठोकर खाते हैं जिससे जानते हैं कि ईश्वर ने जो हमें आंखें देने से देखकर चलने की आज्ञा दी थी उस को भंग करने का यह फल है। इसी प्रकार जब ईश्वर के दिये हुए इन्द्रियों के नियमों को तोड़ कर प्रत्यक्ष में दुःख उठाते हैं इस से यह सिद्ध है कि वर्त्तमान दुःख भी पूर्व में जो ईश्वरकी आज्ञा का उल्लंघन किया है उनका फल है। महाशय गण! जब यह निश्चय होगया कि दुःख ईश्वराज्ञा के उल्लंघन का फल है तो वह बात छिपी नहीं रहती कि ईश्वर ने हमें क्या आज्ञा दी है अब ईश्वर आज्ञा को हम उसके दिये नियमों तथा विधि निषेध रूपी वेदों से पाते हैं। जब निश्चय हो चुका तो हम उन पुस्तकों की जिनको संसार में ईश्वर आज्ञा मानते हैं परीक्षा करने के लिये उद्योग करते हैं।

वेदों को छोड़कर बाकी चार पुस्तकें तौरेत, जबूर, इंजील, कुरान को अधिकांश लोग ईश्वर आज्ञा के नाम से पुकारते हैं।

पहिली पुस्तक तौरेत तो मूसा के समय में उतरी है। उस पर विचार उत्पन्न होता है कि मूसा से पहिले लोगों को विधि निषेध का ज्ञान किस प्रकार से होता था और आदम से लेकर मूसा तक ईश्वर आज्ञा संसार में थी वा नहीं? और मूसा से पहिले संसार में कौन बात न थी जिसके लिये ईश्वरीय पुस्तक की अवश्यकता थी जिस को तौरेत ने पूरा किया इसका यथार्थ उत्तर देना अति कठिन है। यदि दुर्जनतोष न्याय से यह भी मान लें कि तौरेत की आवश्यकता थी तो तौरेत में क्या न्यूनता थी? जिसको पूरा करने के लिये जबूर की आवश्यकता हुई और तौरेत के

बनाने वाले को उस आवश्यकता का ज्ञान पूर्व था वा नहीं यदि था तो पहले क्यों न लिखा और आदम से लेकर दाऊद तक मनुष्यों का जीवन अधूरेपन में गया और उनको ईश्वर की यथार्थ आज्ञाओं को न पालन से वंचित रह कर जो दुःख उठाना पड़ा इसका दोष किसपर आवेगा ! तौरेत बनाने वाले पर !

संसार में दो प्रकार का ज्ञान प्रतीत होता है एक तो सामान्य ज्ञान दूसरा विशेष ज्ञान । सामान्य ज्ञान तो जीव में स्वभाव से ही रहता है क्यों कि जीव अल्पज्ञ हैं अर्थात् नियमित्त ज्ञान समस्त जीवों में स्वभाव से रहता है परन्तु विशेष ज्ञान विना किसी निमित्तकेनहीं होसकता । खाना सोना रोना इत्यादिक जो कार्य पशु पक्षी सर्पादि सब योनियों में रहता है वह स्वाभाविक है परन्तु हर एक योनि में जो विशेष ज्ञान है वह किसी निमित्त अर्थात् दूसरे के सिखाने से प्राप्त होता है । मित्रवर्गो ! जब हम समस्त जीवों से मनुष्यों की तुलना करते हैं उस समय समस्त जीवों में भोग शक्ति को पाते हैं जैसे गौ, भैंस अश्वादिक पशु तथा हंसादिक पक्षी वा सर्पादिक तिर्य्यक् जीव, अन्नादि पदार्थों को भोगते हैं परन्तु उनको अन्नादिक पदार्थों की वृद्धि तथा उत्पत्ति करने का ज्ञान नहीं प्रतीत होता इससे ज्ञात होता है कि जीव स्वभाव से वर्त्तमान अवस्था का ज्ञान रखता है किन्तु जब हम मनुष्यों में कर्तृत्व शक्ति अर्थात् कर्मों के करने की सामर्थ्य को विचारदृष्टि से विचारते हैं तो यह सामर्थ्य अन्य जीवों में न पाकर हमें विश्वास होता है कि यह शक्ति किसी निमित्त से उत्पन्न हुई है और जब हम अशिक्षित पुरुषों को देखते हैं तो वे भी कर्तृ शक्ति से शून्य ही प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञान होता है कि की करने की सामर्थ्य प्राप्ति मनुष्यों को शिक्षा से हुई है अब यह विचार उत्पन्न होता है कि मनुष्यों को शिक्षा किससे प्राप्त हुई बहुत लोग तो कहेंगे कि शिक्षा जीवों के परस्पर मेल से उत्पन्न होतीहै क्योंकि बहुतों की अल्पज्ञता या सामान्य ज्ञान मिल कर बहुज्ञता वा विशेष ज्ञान उत्पन्न होजाता है परन्तु तत्वदृष्टि के विचार से यह मिथ्या प्रतीत होता है जैसे दियासलाई में सामान्य अग्नि है और रगड़ने से विशेषाग्नि प्रगट होती है तो रगड़ना निमित्त ही विशेषाग्नि का उत्पादक प्रतीत होताहै और डिब्बोमें सौ दियासलाइयों के योग से विशेषाग्नि

का उत्पन्न करने वाला निमित्त कारण नहीं जब एक सलाई में विशेषाग्नि प्रगट होजाती है तो वह बहुतसी वस्तुओं को यह शक्ति दे सकती है। इसी प्रकार जब तक जीवको शिक्षा प्राप्त न होगी तब तक उसमें यह सामर्थ्य न होगी। कुछ लोग यह कहते हैं कि जीवात्मा नित्य प्रति उन्नति करता है इससे काल पाकर सर्वज्ञ हो जायगा परन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि जीवात्मा ज्ञान विषय में कभी विना निमित्त उन्नति नहीं कर सक्ता इस में हेतु यह है कि कोई वस्तु भी उन्नति नहीं करती किन्तु अपने उपयोगी अवयवों को प्रकृति से ग्रहण करती है उसको मूढ़ पुरुष उसकी उन्नति मानता है किन्तु गुणों के उचित सहकारी निमित्त को पाकर अधिक हो जाती है परन्तु देश कालादिक तथा प्रकृति यह सब ज्ञान से शून्य हैं इनसे सर्वज्ञता का मिलना असम्भव है बहुत से भाई यहां पर शङ्का करेंगे कि जीव जहां जायगा वहां के पदार्थों को देख कर अपनी ज्ञान शक्ति को विना किसी निमित्त के बढ़ा सकता है, परन्तु यह शङ्का भी अङ्गत ही है क्योंकि सूर्य के निमित्त से चक्षु में प्रत्यक्ष पदार्थों के देखने की शक्ति अधिकांश हो जाती है इससे रूप ज्ञान तो होगया परन्तु विशेष ज्ञान का अभाव ही रहा और यह शक्ति सब जीवों में स्वतः उपस्थित है इसको तुम विशेष ज्ञान नहीं कह सकते क्योंकि संसार के पशु पक्षियों को भी रूप का ज्ञान प्राप्त है। किन्तु प्रत्यक्ष में अनुमानादि जन्य ज्ञान के विना जिससे कार्य्य को देखकर कारण का बोध और लिङ्गको देखकर लिङ्गी का बोध तथा नित्यके व्यवहारों से अनुभव, विना शिक्षा के प्राप्त नहीं होता इसलिये अवश्य अनुमान होता है कि यह शिक्षा मनुष्य को कहीं प्राप्त हुई है। यह तो आप स्वीकार करते हैं कि जब तक आप किसी भृत्य वा सन्तान को किसी कार्य के करने की आज्ञा न दें और कुकर्मों के करने का निषेधयुक्त उपदेश न करें तब तक उसको किसी कर्म के करने न करने के लिये दोषी नहीं बना सकते और न उसको दण्ड दे सकते हैं यदि आप उसको दण्ड दें तो कोई भी आपको न्यायशील या भला नहीं कहेगा यदि आप किसी न्यायशील मनुष्य को किसी अपराधी को दण्ड देते देखेंगे तो आपको यह दो बातें ध्यान आवेंगी या तो उस अपराधी ने न्यायधीश की आज्ञा को उल्लङ्घन किया है या वहन्यायाधीश अन्यायी है अब आप विचारें कि संसारमें करोड़ों

जीव जो नाना प्रकार के दुःख पारहे हैं इनको देखकर समझदार मनुष्य या तो दुःख को पूर्व कर्म का फल समझेगा या दुःखदाता ईश्वर को अन्यायी जानेगा किन्तु ईश्वर न्यायकारी है, उसको अन्यायी कहदेना केवल मूर्खों का प्रलापमात्र है हां यह सब मनुष्यों के पापों का फल है, पाप ईश्वराज्ञा को उल्लङ्घन करने का नाम है इससे भी सिद्ध होता है कि ईश्वर ने अवश्य कोई आज्ञा दी है जिसके अनुसार चल कर मनुष्य इन दुःखों से छूट सकता है जिसके विरुद्ध चलने ही से मनुष्य इन दुःखों से ग्रस्त हुआ है। जब इस प्रकार ईश्वर निर्मित नियम या आज्ञा या सत्यविद्या युक्त पुस्तक को आवश्यकता प्रतीत होती है और ईश्वरके न्यायादि गुणों से भी ज्ञात होता है कि अवश्य उसने प्रकृति के नियमों का संसार में प्रचार किया है। यदि हम यह मानलें कि संसार में ईश्वर आज्ञा प्रचलित है तो हमें उसका विचार करना पड़ता है कि ईश्वर आज्ञा के लक्षण क्या हैं? या ईश्वर ने जो हमें वेदों का ज्ञान दिया है वह कैसा है? पहिला लक्षण हम आवश्यकता के अनुसार कहते हैं कि "हिताहितसाधनतावोधकत्वं वेदत्वम्" अर्थात् जो हित जीवात्मा के अनुकूल और अहित जीवात्मा के प्रतिकूल साधनों का बोधक अर्थात् बतलाने वाला हो उसे वेद कहते हैं तो यह लक्षण सब ग्रन्थों में अतिव्याप्त होता है अर्थात् सब ग्रन्थ थोड़ी बहुत हित की विधि और अहित का निषेध लिये रहते हैं फिर लक्षण इस प्रकार करते हैं कि "हिताहितसाधनतावोधकानि चापुरुषवाक्यानि वेदाः" अर्थात् जो हिताहित का बोधक अपुरुषवाक्य अर्थात् किसी मनुष्य का कहा हुआ वाक्य नहीं उसे वेद कहते हैं अब नास्तकों के ग्रन्थों और क़ुरान, अञ्जील, तौरेत, ज़बूर इन पुस्तकों में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि जैन लोग अपने तीर्थंकरों को ईश्वर मानते हैं और मुसलमान लोग क़ुरानको ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं ईसाईअञ्जील और यहूदी तौरेत और ज़बूर को। अब वेदों का लक्षण यह होगा "हिताहितसाधनतावोधकानि चापुरुषवाक्यानि ब्रह्मप्रतिपादकानि सृष्टिक्रमाविरुद्धानि वेदाः" इस में जो अवस्था हिताहित ज्ञान का बाधक पुरुषवाक्य न हो ब्रह्म का प्रतिपादक हो और सृष्टिक्रम विरुद्ध न हो उसे वेद कहेंगे परन्तु वेद शब्दमय है शब्दको तबतकप्रमाण नहीं

माना जाता जब तक उस में यह दोष पाये जावें जैसा महात्मा गौतम जी ने शब्द परीक्षा में लिखा है।

"तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्यः" न्या०

अर्थ—शब्द अप्रमाण है क्योंकि उस में अनृत नाम झूंठा होना, व्याघात नाम परस्पर विरुद्ध शब्द कभी सिद्धिदायक नहीं होता इस कारण उसको प्रमाण नहीं माना जाता क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है वह अनृत वचन कभी नहीं कहता उसका कथन तत्वज्ञान के अनुकूल होता है इस कारण वेदोंमें यह दोष न होना चाहिये और सर्वज्ञ अपने पूर्वक कथन को भूलकर उसके विरुद्ध भी नहीं कहता इस कारण व्याघात दोष भी वेदोंमें नहीं हो सकता और पुनरुक्ति भी अज्ञानी के कथन में हुआ करती है वेदों को इन दोषों से रहित गौतम आदि महात्मा ऋषियों ने अपने २ शास्त्रों में सिद्ध कर दिया है।

❋ वेदों का महत्व ❋

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते तया मा मद्य

मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा। यजु० अ० ३२ मं० १४

प्यारे भाइयो! इस वेद मन्त्र में ईश्वर जीवों को इस बात का उपदेश करते हैं कि हे जीव यदि तुम अपनी आत्मा की शांति के लिये किसी वस्तु की मुझसे प्रार्थना करनी चाहते हो तो मुझसे ऐसी वस्तु मांगो कि जिसके प्राप्त होने के पश्चात् तुम्हें दूसरी बार मांगने की आवश्यकता नहो जिसको प्राप्त करके तुम्हारा आत्मा फिर कभी दुखी नहो और जिसके होने से तुम कभी अपने आपको किसी काम के करने में (जो तुम्हारे लिये बनाये गये हैं) अयोग्य न समझो और जो पदार्थ तुमको संसार में अपने प्रयत्न से न मिल सकता हो उसको मुझसे मांगो, प्यारे मित्रो! इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे ज्ञानस्वरूप अग्ने प्रकाश स्वरूप परमेश्वर! जिस मेधा नीचक धारणावती बुद्धि की देवगण अर्थात् विद्वान उपासना करते हैं जिस बुद्धि का पूर्व कल्प के ऋषि मुनि और हमारे पुरुषा प्राप्त थे आप उस बुद्धि से हमें बुद्धिमान कीजिये प्यारे मित्रो! शास्त्रों में बुद्धि दो प्रकार की मानी गई है एक 'धी' दूसरी "मेधा"। धी उसको कहते हैं जिसकी शक्ति जल के तुल्य है जिस प्रकार जलमें जो मिलाने की शक्ति हैं नियत किये हुए पदार्थ।

को मिलाकर समाप्त होजाती है और वह शक्ति अधिक नहीं बढ़ सकती, इसी प्रकार धी वह बुद्धि है कि जिससे मनुष्य मोटी २ सांसारिक बातें जान सकता है जोकि हरएक योनि के लिये नियत है और जिससे केवल प्रत्यक्ष वस्तुओं के सिवाय और वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता और जिस बुद्धि का मनुष्य, संसार की बाह्य इच्छाओं को छोड़ कर आत्म विद्या को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी मेधा उस बुद्धि को कहते हैं जिसकी शक्ति अग्नि के तुल्य है अग्नि में जो दाह शक्ति है जितने दहन योग्य पदार्थ उसके सन्मुख आते जायगें उतनी ही वह बढ़ती जायगी और यह शक्ति कभी समाप्त न होगी उसी प्रकार मेधा नामक बुद्धि वाला मनुष्य जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति के यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द के द्वारा प्राप्त करके उसके साथ ठीक उचित वर्ताव करके अपने आत्मा की सच्ची शान्ति को प्राप्त कर सकता है। वह भूत कामों के फलों को देखता हुआ वर्तमान को आगे के सुधार में व्यय कर सकता है, शरीर इन्द्रियों और मन से जो आत्मा को अपने उद्देश्य पर पहुंचने के लिये रथ लगाम और घोड़ों के रूप में दिये गये हैं वश में करता है वह कभी इन्द्रियों का सेवक नहीं बनता और न इन्द्रियों को बलहीन होने देता है वरन जानता है कि इन्द्रियों की प्रबलता और निर्बलता दोनों मेरे लिये हानिकारक हैं, क्योंकि प्रबल इंद्रियाँ आत्मा को प्रकृति के गढ़े में गिरा देती हैं और निर्बल इंद्रियां ठीक २ ज्ञान प्राप्त करने का काम नहीं दे सकती। आर्य्यजनों ने इस मन्त्र के अर्थ को समझ कर और प्रत्यक्ष में यह बात देखकर कि एक आदमी ५०० भैंसो का झुंड चराता है और एक आदमी दो आदमीयों को भी नहीं पकड़ सकता क्योंकि भैंस में बुद्धि नहीं है और वह यह नहीं समझ सकती कि मैं किस प्रकार इसके हाथ से छुट सकती हूं और आदमी बुद्धि के होने से यह समझते हैं कि यदि दोनों इधर उधर को चल दें तो यह आदमी हमें कभी नहीं पकड़ सकता; यहां से हमारे ऋषियों ने यह नतीजा निकाला था॥

बुद्धिर्यस्यबलं तस्य निर्बुद्धेस्तुकुतोबलम् ॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि है उसको बल भी है और निर्बुद्धि को किस प्रकार बल होसकता है, एक बार बुद्धि और प्रारब्ध में झगड़ा हुआ

बुद्धि ने कहा कि मेरी शक्ति बड़ी है मैं जिसको चाहूं सुखी करूं और मेरे बिना कोई बड़ा नहीं होसकता भाग्य ने कहा मेरी शक्ति अधिक है मैं तेरे बिना काम कर सकता हूं तू मेरे बिना काम नहीं कर सकती, प्रत्येक ने बल पूर्वक अपनी युक्तियां दीं परन्तु जब यह झगड़ा युक्तियों से पूरा होता दिखाई न दिया तो बुद्धि ने प्रारब्ध से कहा कि यदि तू इस गडरिये को जो सामने जंगल में भेड़ें चरा रहा है मेरी सहायता बिना बादशाह बनदे तो मैं मान लूंगी की तेरी शक्ति बड़ी है; यह सुनकर प्रारब्ध ने उसको बादशाह बनाने का यत्न प्रारम्भ किया प्रारब्ध ने एक बड़ी अमूल्य खड़ाऊ जिस में लाखों रुपयों के रत्न जड़े हुए थे, लाकर गडरिये के आगे रख दी, गडरिया उसको पहन कर फिरने लगा, फिर प्रारब्ध ने एक व्यौपारी को वहां पहुंचा दिया व्यौपारी उस खडाऊं देखकर चकित होगया उसने गडरिये से कहा तुम यह खडाऊं बेचदो गडरिये ने जवाब दिया मोल ले लो, व्यौपारी ने कहा मूल्य कहो! गडरिये ने कहा कि मूल्य क्या बतलाऊं मुझे नित्य रोटी खाने के वास्ते गांव में जाना पड़ता है अगर तुम दो मन भुने चने इस खड़ाऊं का मूल्य देदो तो चने चबाकर भेड़ों का दूध पीलूंगा और गांव में जाने के कष्ट से छूट जाऊंगा, सारांश यह है कि इस निर्बुद्धि गडरिये ने ऐसी अमूल्य खडाऊं जिसमें एक हीरा लाखों रुपये का था दो मन भुने चनों में बेच डाली यह देखकर प्रारब्ध ने और बल दिया, उस व्यौपारी को एक राजा के दर्बार में पहुंचा दिया जिस समय व्यौपारी ने वह खडाऊं राजा को भेट की राजा देखकर चकित रह गया और व्यौपारी से पूछा कि तुमने यह खडाऊं कहां से ली हैं उस ने जवाब दिया कि एक राजा मेरा मित्र है उसने यह खडाऊं मुझे दी हैं राजा ने पूछा क्या उस राजा के पास और खडाऊं हैं व्यौपारी ने जवाब दिया, हां हैं, राजा ने पूछा क्या उस राजा के कोई लड़का भी है? व्यौपारी ने कहा हां उसके लड़का भी है यह सुन कर राजा ने कहा कि जावो मेरी लड़की की सगाई उस राजा के लड़के को साथ करादो ये सब बातें जब प्रारब्ध के बल से कह चुका अबवह व्यौपरी राजा की पिछली बात को सुन कर चकित हो गया क्योंकि उसे ज्ञात था कि खडाऊं तो गडरिये से ली हैं, न कोई राजा है न राजा का लड़का

लेकिन इस झूठ बात के मुंह से निकल जाने से उसने सोचा कि यदि इस समय अपने झूठ को स्वीकार करता हूं तो राजा न मालूम क्या दंड देवे विचार करके उसने सोचा कि जिस प्रकार हो सके राजा के नगर से निकल चलना चाहिये, उसने राजा से कहा मैं आपकी लड़की की सगाई करने के लिये जाता हूं यह कहकर जिस ओर से आया था उसी ओर को प्रस्थान किया जब उस स्थान पर पहुंचा जहां उसने गडरिये को देखा था तो क्या देखता है कि वो गडरिया उससे अधिक मूल्य की खड़ाऊं पहने रहा है व्योपारी इस बात से बहुत विस्मित होगया उसने सोचा यह कोई सिद्ध पुरुष है जिन को इस भांति वस्तुयें कुदरत से मिलती हैं उसने सोचा कि यहां ठहर कर इसका हाल मालूम कर लेना चाहिये यह सोच कर उसने वहां डेरे लगा दिये, उसके पास बहुत सा तांबा लदा हुआ था वह सब सामग्री वृक्ष के नीचे एक ओर रख दी जब दो पहर हुई तो गड रिया धूप का मारा उस वृक्ष के नीचे आया—जहां तांबे के ढेर पड़े हुये थे वह उस ढेर के साथ सिर लगा कर सोगया, उसके तकिये लगाने से प्रारब्ध ने तांबे का सोना कर दिया, जब व्योपारी ने यह देखा तब उसे विचार आया कि जिस आदमी के सिर लगने से तांबा सोना हो जाता है उसको राजा बनाना कौन बड़ी बात है, यह सोच कर व्योपारी ने पृथ्वी मोललो और किला बनाना आरम्भ कर दिया है और सेना भी रखने लगा जब सब सामग्री प्रस्तुत हो गई तब उस गडरिये को पकड़ कर किले में ले गया, अच्छे राज साही वस्त्र पहना दिये और मंत्री, धनिक, चाटुकार सेवक, रख दिये फिर उस राजा को चिट्ठी लिखी कि हमारे राजा ने आपकी लड़की की सगाई स्वीकृत करली है जो तिथि नियत करो बरात उस दिन पहुंच जाय राजा ने तिथि नियत करके लिख भेजी, इधर विवाह का प्रबन्ध होने लगा एक दिन जब दर्बार लग हुआ, सब मन्त्री और अमीर बैठे हुए थे, गडरिया राजसी तख्त पर तकिया लगाये राजा बना बैठा था उस वक्त गडरिये व्योपारी से कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, देखो मेरी भेड़ें किसान के खेत में चली जायगी और वह मुझे पीटेगा यह सुनकर सब लोग हंस पड़े और व्योपारी दिल में चिंतित हुआ कि इसका क्या प्रतीकार किया जाय जो कहीं उस राजा

से इसने ऐसा कह दिया तो मैं निष्प्रयोजन मारा जाऊंगा फिर व्योपारी ने उस गडरिये से कहा कि यदि तुम फिर कभी ऐसा शब्द ऊंचे स्वर कहोगे तो तुम्हें खड्ग से मार दूंगा जो कुछ कहना हो मेरे कान में कहना निदान विवाह की तिथि निकट आगई व्योपारी बरात लेकर राजा जी राजा का नगर निकट आगया और उधर से राजा का मन्त्री बहुत से कामदारों सेना और सैनिकों के साथ अगवानी को आया तो उन्हें देखकर गडरिये को विचार आया कि कदाचित् मेरी भेड़ इनके खेत में जा पड़ीं और ये मेरे पकड़ने को आये हैं चूंकि बात कान में कही गई और किसी को विदित न हुई और लोगों ने व्योपारी से पूछा कि राजकुमार जी क्या कथन करते हैं व्योपारी ने उत्तर दिया कि जिसप्रकार आदमी आगमन के लिये आये हैं सबको पाँच २ लाख रुपया इनाम दिया जाय निदान प्रत्येक आदमी को पांच २ लाख रुपया इनाम दिया गया, नगर में प्रसिद्ध होगया कि एक बड़े भारी राजा का लड़का विवाह के लिये आया है जो हरएक आदमी को लाखों रुपये इनाम देता है सैकड़ों हजारों का नाम नहीं जानता राजा भी डरा कि मैंने बड़े भारी राजा से नाता जोड़ लिया है परमेश्वर की प्रतिष्ठा रक्खेगा तो रहेगी निदान उस गडरिये का विवाह राजा की लड़की से होगया, यहाँ तक बुद्धिमान व्योपारी के बल से प्रारब्ध की सफलता हुई परन्तु रात को गडरिया अकेला राजा के महल में रहा, जब झाड़ फानूस लैम्प जलते देखे तो उस गडरिये को ध्यान आया कि जङ्गल में भूतों की आग सुनी थी वह यही आग है मैं इस में जल कर मरजाऊंगा वो गडरिया यह सोच ही रहा था इतने में बादशाह की लड़की गडरिये की तरफ आई जब उस ने आभूषणों का शब्द सुना तो उसे ध्यान आया कि कोई चुड़ैल मेरे मारने के वास्ते आरही है यह सोच कर वह झट पट एक दर्वाजे की ओट में छिप गया, राजकुमारी ने देखा कि राजकुमार यहां नहीं, वह दूसरे मन्दिर में चलीगई उसके जाते ही इसे ध्यान आया कि अभी एक चुड़ैल से बचा हूं न मालूम यहां कितनी और चुड़ैलें आवें इसलिये यहां से भाग चलना चाहिये यह सोच ही रहा था कि उसे एक जीना ऊपर की तरफ दिखाई दिया वह झट पट ऊपर चढ़ गया और एक ओर छज्जे को हाथ डाल कर नीचे कूद कर भागने का

विचार किया उस वक्त बुद्धि ने प्रारब्ध से कहा कि देख तेरे बनाने से यह राजा न बना वरन अब गिर कर मरेगा।

प्यारे मित्रो ! इस दृष्टान्त से आप समझगये होंगे कि यदि संसार की सब सामग्री एक ओर प्रस्तुत होजावे तो भी जब तक मनुष्य को बुद्धि न आवे तब तक अपने मनोरथ को नहीं पहुंच सकता है यदि आप पर्य्यटन के वास्ते किसी जङ्गल में जांय और वहां किसी यात्री को बड़े वेग से यात्रा करता देखें और आप उससे प्रश्न करें कि तुम कहां जाओगे और वह उत्तर देता नहीं जानता उससे पूछें किस मार्ग से जाओगे ! वह कहे मैं नहीं जानता आप उससे पूछें कहां से आये हो ? वह उत्तर दे मैं नहीं जानता आप उससे कहें तुम्हारे पास यात्रा की सामग्री कितनी है वह कहे मैं नहीं जानता क्या ऐसे यात्री को देख कर जो प्रतिश्वास चलता हो परन्तु पहुंच के स्थान और यात्रा की सामग्री से नितान्त अपरिचित हो उसको देखकर क्या आपकी बुद्धि यह विचार न करेगी कि यह बड़ा भारा मूर्ख और उन्मत्त है क्योंकि बुद्धिमान् लोग कहते हैं कि:—

प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तो न प्रवर्तन्त इति।

अर्थात् उपदेश का मनमें ध्यान रक्खे बिना थोड़ी बुद्धि वाला मनुष्य भी किसी काम को आरम्भ नहीं करती बुद्धिमान् पुरुषो ! सोचने का स्थान है कि आप जो संसार की यात्रा में अहर्निश चलरहे हैं क्या आपको विदित है कि वह कौनसा मार्ग या अवस्था है जहां पर पहुंचकर ये समझ सकें कि हमने जिस उद्देश्य के लिये आरम्भ किया था वह पूरा होगया मैं समझता हूं कदाचित् मनुष्यों ने इस प्रश्न के उत्तर को जिसका वह यथार्थ रीति पर कुछ न कुछ उत्तर दे रहे हैं इन्होंने बुद्धिमत्ता से कुछ नहीं सोचा, यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य अनगिनती कामों के करते हुए भी एक सफल मनुष्य जीवन के उद्देश को पूरा करना नहीं चाहता और इसी के समझने के कारण आचार्यों में विरुद्ध सम्मति और झगड़े उत्पन्न हो रहे हैं जब मनुष्यों के असली जीवन पर दृष्टि डालकर उनकी वाणी से सुनते हैं और ऋषियों के विचार की ओर देखते हैं तो सब मनुष्यों का नहीं सम्पूर्ण जीवों का एक ही उद्देश विदित होता है जैसा के महात्मा कपिल ऋषि ने सांख्य शास्त्र के आरम्भ में कहते हैं।

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सां० १।१

अर्थात् संसार में जितने प्राणी हैं सब तीन प्रकार के दुःखों के दूर करने का प्रयत्न करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवन का उद्देश तीनों प्रकार के दुःख अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से छुटाना है आध्यात्मिक उन दुःखों को कहते हैं जो शरीर के भीतर से उत्पन्न होते हैं जैसे चिन्ता, रोग, क्रोध और ईर्षा, आदि और आधिभौतिक दुःख वे हैं जो दूसरे प्राणियों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं जैसे कुत्ता इत्यादि जन्तु के काटने या मनुष्यों में परस्पर की लड़ाई में शस्त्रों के आघात से उत्पन्न होता है आधि दैविक दुःख वह है जो दैवी शक्तियां अर्थात् बिजुली के गिरने वायु के वेग से चलने सर्दी गर्मी के अधिक होने वर्षा के अधिक या कम होने से उत्पन्न होते हैं अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दुःख काल के सम्बन्ध से ३ प्रकार का है, भूत दुःख वर्तमान दुःख अनागत दुःख इनमें से भूत तो स्वयं नाश हो ही गया और वर्तमान दुःख भी प्रतीक्षण भूत होने से नाश होजाता है इसलिये इनका पुरुषार्थ नहीं किंतु आने वाले दुख को दूर करने का नाम पुरुषार्थ है जैसा कि महात्मा पतंजलिमुनि अपने योग शास्त्र में लिखते हैं।

हेयं दुःख मनागतम्। यो० २।१६

प्यारे पाठकगण ! साधारण बुद्धि के आदमी यह शँका करेंगे कि जो रोग अभी उत्पन्न नहीं हुआ उसका निदान क्या होसकता है या जो भूल अभी लगी नहीं उसका नाश किस प्रकार होसकता है क्यों कि संसार में प्राप्त वस्तु का निषेध देखा जाता है और अप्राप्त का निषेध किसी प्रकार हो ही नहीं सकता परन्तु जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं वह समझते हैं कि जिस वस्तु का नाश करना हो उसके बीज का नाश करना चाहिये जैसा कि महात्मा कणादि जी ने लिखा है।

कारणाभावात् कार्याभावः। वै० १ २।१

अर्थात् कारण के न होने ही से कार्य्य उत्पन्न नहीं होसकता जिस प्रकार बीज के बिना कोई वृक्ष नहीं होता इसी प्रकार जब दुःख का कारण न रहेगा तो दुख भी उत्पन्न न होगा और दुख के कारण का

नाश करना ही आने वाले दुःख का नाश करना है, प्यारे भ्रातृ गण ! हमारे वैद्य लोग भी जब किसी रोग की चिकित्सा करना चाहते हैं तो उसके वास्ते उन्होंने जो २ नियम नियत किये हैं जब तक उन नियमों के अनुकूल चिकित्सा न की जाय तब तक रोग दूर नहीं हो सकता, जैसा महात्मा लोलिम्बराज अपने वैद्य जीवन ग्रन्थ में लिखते हैं।

आदौनिदानविधिना विदध्याद् व्याधिनिश्चयम् ।
ततः साध्यं समीक्षेत पश्चात् भिषगुपाचरेत ॥

(अर्थ) पहले निदान अर्थात् रोग के कारण आदि से रोग को ज्ञात करे कि ये रोग साध्य है या आसाध्य है यदि ज्ञात हो जावे कि रोग साध्य है अर्थात् चिकित्सा करने के योग्य है तो जिस प्रकार रोग उत्पन्न हुआ हो उसके विरुद्ध रीति से चिकित्सा करे। जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र में चार वस्तुयें मानी गई है, एक रोग दूसरे आरोग्यता और तीसरा रोग का कारण चौथे रोग दूर करने के कारण अर्थात् औषध इसी प्रकार मोक्ष शास्त्र में चारों वस्तुयें माननी पड़ती है यानी एक हेय अर्थात् त्यागने या दूर करने योग्य अर्थात् दुःख, दूसरे हानि अर्थात् दुःख के न होने की दशा अर्थात् आरोग्य अवस्था हेय हेतु अर्थात् दुःख का कारण चौथे हानोपाय यानी दुःख से छूटने की औषध या रीति, बन्धुगण ! अब हम इस बात की जांच आरम्भ करते हैं कि मोक्ष होना या तीनों प्रकार के दुख से छूटना असम्भव है या नहीं ? पहले प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दुख जीव का स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक, यदि यह माना जाय कि दुख जीव का स्वाभाविक गुण है तो इस से मुक्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती क्योंकि यदि दुख कारण से उत्पन्न होता तो उसके कारण के नाश से दुख दूर हो सकता है परन्तु जब उसका कोई कारण ही नहीं तो उसका दूर होना असम्भव है महात्मा कपिल मुनि अपने शास्त्र में लिखते हैं।

नस्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।सां० १।७

अर्थ—स्वाभाविक से हुए जाव के लिये मोक्षसाधन का उपदेश हो ही

नहीं सकता क्योंकि स्वभाव अविनाशी है कोई आदमी अग्नि की गर्मी दूर करने का प्रयत्न नहीं करता और न अग्नि के होते हुए गर्मी दूर होसकती है महात्मा कपिल जी लिखते हैं।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ सां०-१।८

क्योंकि प्रत्येक वस्तु का प्राकृतिक गुण विना गुणी के नाश हुए नाश नहीं होसकता और गुणी को नाश करना यहां अभीष्ट नहीं वरन उसमें से दुख की स्थिति नाश करना है और स्वाभाविक गुणी नाश नहीं हुआ करता, प्यारे पाठकगण! हरएक शास्त्र में दुख के दूर करने की रीति का उपदेश है दूसरे हरएक जीव के भीतर दुख दूर करने का विचार लगा हुआ है जिससे विदित होता है कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं वरन कृत्रिम गुण है जब ये ज्ञात होचुका कि दुख बाह्य गुण है जीव के भीतर आया है उसके कारणों की अन्वेषणा आरम्भ करनी पड़ती है क्योंकि जबतक कारण ज्ञात नहो दुख दूर नहीं हो सकता बहुत लोग ये कहते हैं कि दुख के होने में काल कारण है, जैसे आज कल कलियुग है और इस कारण लोग पाप करते हैं और दुख पाते हैं परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं, क्योंकि काल सर्व व्यापक है और नित्य है अब भी बहुत से मनुष्य धर्म करते हैं और मुक्ति पाते हैं इसलिये काल दुख का कारण नहीं हो सकता महात्मा कपिल जी लिखते हैं॥

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् । सां०-१।१२

अर्थ-काल के कारण से दुख सुख उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि काल व्यापक और नित्य है जब काल ही दुख का कारण माना जाय तो सब पुरुष दुखी होने चाहियें बहुधा आदमी यह कहते हैं कि दुख देश के कारण से उत्पन्न होता है जैसे बहुत लोग समझते हैं कि जो आदमी अटक पार जाता है वह पापी हो जाता है महात्मा कपिल जी ने इसका खण्डन किया है।

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥ सां०-१। १३

अर्थ-देश के कारण भी दुःख नहीं होसकता क्योंकि देश भी सर्व व्यापक है इसलिये इसका सब के सम्बन्ध रहेगा जो लोग देश या का

से दुःख मानते हैं उनके मत में यही दोष रहेगा कि सब शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार काल और दशा सब के असाधारण कारण या निमित्त कारण नहीं हो सकता इसलिये काल और दशा से दुःख कहना ठीक नहीं है और कर्म के योग से वन्धन नहीं होसका क्योंकि कर्म शरीर से होते हैं और शरीर बिना कर्मों के हो नहीं सकता पहले वन्धन होता है तब शरीर उत्पन्न होता है और शरीर से कर्म होते हैं इसलिए कर्म दूसरे का धर्म होने से वन्धका कारण नहीं है । महात्मा कपिल जी लिखते हैं कर्म करना भी जीव का धर्म नहीं इस वास्ते कर्म से वन्धन नहीं हो सकता ।

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् । सां० १ । ५२

और अवस्था से भी वन्धन नहीं हो सकता क्योंकि वन्धन भी शरीर का धर्म है शरीर वद्ध का होता है मुक्त का नहीं इस लिए महात्मा कपिल जी लिखते हैं:—

नावस्थातो देहधर्म्मत्वातस्याः । सां० १ । १४

प्रथम अवस्था से वन्ध नहीं होता क्योंकि यह शरीर का धर्म है यहां पर शङ्का होती हैं कि यह जरादि अवस्था जीव की ही क्यों न मानी जावे । महात्मा कपिल जी लिखते हैं:—

असंगोऽयं पुरुषः इति ॥ सां० १ ।१५

यह जीव असंग है इसका जरादि अवस्थाओं से मेल नहीं है जब देश काल और अवस्था और कर्म से वन्धन का होना सिद्ध नहीं होता तो उस समय सोचना पड़ता है कि क्या कारण है जिससे वन्ध उत्पन्न होता है महात्मा कपिल जी लिखते हैं:—

वन्धो विपर्य्यात् । सां० ३ ।२४

अर्थ विपर्यय अर्थात् उलटे ज्ञान से वन्ध होता है अर्थात् जिस समय जड़ प्रकृति को, जिसका जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, सुख दुख का कारण समझ कर उसको प्राप्त करने और छोड़ने में लग जाता है तो उस से उसको राग, द्वेष, प्रवृत्ति उत्पन्न हो कर्म करने का स्वभाव होजाता है इसी से जन्म मरण और दुख उत्पन्न होते हैं, भ्रातृगण ! हम संसार में भी देखते हैं कि सिवाय अज्ञान के और कोई कारण दुःख का प्रतीत नहीं

होता जैसे संसार के सम्पूर्ण मनुष्य यह मानते हैं कि अन्न (का भोजन), प्राणों का जीवन है और बिना भोजन मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होजाता है परन्तु जिस समय वही अन्न कच्चा खाया जावे तो विशूचिका से रोग उत्पन्न करके मनुष्यों का प्राण घातक होजाता है सिवाय इसके विष अर्थात् संखिये को सर्व मनुष्य मार डालने वाली वस्तु समझते हैं यदि उस संखिये को वैद्यक शास्त्र की रीति से पकाकर खाया जावे तो कोढ़ सदृश बड़े २ रोग दूर होकर मनुष्यों के प्राण अमृत समान होजाते हैं, इससे प्रत्यक्ष है कि सम्पूर्ण संसार के पदार्थों में मनुष्यों के लिये कोई वस्तु लाभ दायक या हानि कारक नहीं है वस्तुओं का उचित व्यवहार करना लाभ दायक है और अनुचित व्यवहार करना हानि कारक है दूसरे यदि कोई मनुष्य अंधेरी गुफा में चला जाय तो हृदय पर चारों ओर से भय जम जाता है परन्तु प्रकाश में भयानक वस्तुओं के देखने से भी उतनी घबड़ाहट नहीं होती इससे यह विदित हुआ कि संसार में अज्ञान या अविद्या दुखों का कारण है और ज्ञान अर्थात् विद्या सुखों का कारण है, महात्मा पतञ्जलि मुनि भी अपने योग शास्त्र में उपदेश करते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ यो० २। २४

अर्थ- अर्थात् क्लेश और दुःख जो हेय अर्थात् त्यागने योग्य है जिसका दूर करना पुरुषार्थ कहलाता है उन दुखों का कारण अविद्या है और इसी अविद्या से सम्पूर्ण क्लेश उत्पन्न होते हैं।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । यो० २।३

अर्थ-संसार में पांच ही क्लेश हैं प्रथम अविद्या अर्थात् मूर्खता दूसरे अस्मिता अर्थात् अहंभाव तीसरे राग और अर्थात् प्यार चौथे द्वेष अर्थात् घृणा और अभिनिवेश अर्थात् पूर्व जन्म और मृत्यु के दुःख के विचार औरमृत्यु से बचने के प्रयत्न, प्यारे भाइयो ! इन पांच क्लेशों में भी अविद्या सब क्लेशों का कारण है और उसी से सब उत्पन्न होते हैं जैसा कि महात्मा पतञ्जलि ऋषि लिखते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्

यो० २। ४

अर्थ–अहंभाव स्नेह और घृणा पूर्व जन्म का कारण अविद्या अर्थात् मूर्खता है प्यारे पाठकगण ! यहां पर शङ्का उत्पन्न होगी कि अविद्या जीव का स्वाभाविक गुणहै या वाहर से आती है यदि आप स्वाभाविक मान लेंगे तो फिर वही शङ्का होगी और नैमित्तिक मानेंगे तो उसका निमित्त भिन्न मानना पड़ेगा और कदाचित् उस निमित्त में भी येही शङ्का होकर कोई क्रम उत्पन्न हो इसलिये यह ज्ञात होना चाहिये कि जीव की स्वाभाविक दशा क्या है ! जिससे वार वार स्वाभाकिक और नैमित्तिक होने की शङ्का न हो महात्मा गौतम जी लिखते हैं:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुखज्ञाना न्यात्मनो लिङ्गम्
न्या० । १ । १ । १०

अर्थ–इच्छा अर्थात् जिस वस्तु को आत्मा के अनुकूल समझा है उस के प्राप्त करने की इच्छा, द्वेष अर्थात् जिस पदार्थ को आत्मा के प्रतिकूल समझा है उसके त्यागने की इच्छा, सुख अर्थात् आत्मा के अनुकूल अर्थात् स्वतंत्रता पूर्वक पराधीन होने से दूर रहना, दुःख अर्थात् आत्मा का अपने सेअलग (अनात्म)पदार्थोंको अपनाउद्देश मानकरउनको अपनेपास उपस्थित न देखना या जिस वस्तु की इच्छा है उसका न मिलना दुःख है। (प्रयत्न) सुखदाई पदार्थों के इकट्ठा करने और दुखदाई पदार्थों के त्यागने की गति को प्रयत्न कहते हैं ज्ञान,पदार्थके स्वरूपको जानना। सज्जनगण! यहां आत्मा के लक्षणों में दुःख और सुखको देखकर यह विचार उत्पन्न होता होगा कि जब दुःख आत्मा का लक्षण है, तो स्वाभाविक गुण ज्ञात होता है तो फिर उसका नाश किस तरह होसकता है और दूसरे दुःख और सुख दोनों परस्पर विरोधी गुण किस प्रकार आत्मारूपी एक वस्तु में रह सकते हैं परन्तु शास्त्रकार आत्मा की दो अवस्थायें मानते हैं एक शुद्ध आत्मा दूसरे शरीरस्थ आत्मा और उनकी दोनों अवस्थाओं के गुण भिन्न होते हैं इस का अर्थ यह है कि प्रयत्न और ज्ञान तो शुद्ध आत्मा का लक्षण है; और सुख दुख इच्छा द्वेप ये सब शरीरस्थ आत्मा के लक्षण हैं जैसे दही जब कि शुद्ध अवस्था में हो उसके गुण और हैं परन्तु जब दही तांवे के पात्र में हो तो उस समय उसके गुण भिन्न होजाते हैं इसी प्रकार जीव के गुण दोनों हालतों में अलग २ होते हैं क्योंकि शरीरस्थ आत्मा के साथ में मन

बुद्धि इन्द्रिय आदि ऐसी वस्तुयें होती हैं जिनका प्रभाव आत्मा पर पड़ा हुआ ज्ञात होता है इससे स्वाभाविक दशा जीव की ज्ञान और क्रिया से युक्त होती है और जब तक आत्मा में इन दो गुणों से अधिक बाहिरी गुण नहीं आजाते तब तक आत्मा दुखों से भिन्न होता है। कुछ मनुष्य आत्मा को मुक्त या सुखस्वरूप मानते हैं परन्तु इस दशा में आत्मा कभी दुखी या बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि स्वाभाविक गुण दूर नहीं होसकते और न स्वरूप से उसमें भिन्न गुण आसकते हैं जैसे अग्नि में गर्मी है वह किसी काल में भी सर्द नहीं हो सकता बहुधा लोग कहते हैं कि सुख तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म है परन्तु आत्मा में दुःख भ्रम से प्रतीत होता है उसका यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भ्रांति अपने से भिन्न पदार्थ में हो सकती है परन्तु अपने में नहीं हो सकती जैसे सूर्य का प्रकाश मेघ के आजाने से संसार के लोगों को प्रतीत नहीं होता परन्तु सूर्य स्वयं उस समय भी वैसाही प्रकाशित होता है इसलिये आत्मा स्वभाव से बद्ध है या मुक्त यह दोनों नहीं बन सकते बरन यह दोनों गुण नैमित्तिक हैं जैसे संसार में हम तीन पदार्थ देखते हैं यथा पानी ठंडा होता है और आग गर्म होती है वायु में स्पर्श गुण तो है परन्तु इसमें ठंडापन या गर्मी नहीं यद्यपि स्पर्श से ठंडा और गर्म का ज्ञान होता है और वायु का गुण भी स्पर्श ही है परन्तु उसमें ठंडक और गर्मी दूसरी वस्तुओं की है अर्थात् जिस समय गर्मी के दिनों में वायु चलती है उस समय वायु गर्म विदित होती है और सर्दी के ऋतु में वायु सर्द होती है या गर्मी के दिनों में या सीलवाले मकानों या देशों की हवा ठंडी और सूखे मकानों या देशों की हवा गर्म होती है इस लिये जल सदैव सर्द है और अग्नि सदैव गर्म है और वायु न सर्द है न गर्म है इसी प्रकार प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा तीन अनादि और नित्य पदार्थ हैं जिनमें से प्रकृति सत्य स्वरूप है लेकिन चैतन्य नहीं है और उसमें सतगुण रजोगुण और तमोगुण सम अवस्था में रहते हैं और प्रकृति के कार्य्य पांच भूतों में ये गुण भिन्न होगये हैं सत्-गुण का अर्थ है प्रकाश करने वाला रजोगुण चलने वाला तमोगुण अंध-कार फैलाने वाला और स्थिरता देने वाला, इन पांचों भूतों में से अग्नि तो सत्वगुण रखती है, और वायु आकाश और जल रजोगुण है और

पृथ्वी तमोगुण है दूसरी वस्तु जीवात्मा है सो सत्‌चित्त है जिस में सत्ता और ज्ञान दो गुण पाये जाते हैं वह जड़ नहीं है परन्तु सर्वज्ञ भी नहीं है और प्रत्येक शरीर में अलग २ होने से नाना और एक देशी है तीसरी वस्तु परमात्मा है जो सत् चित्त आनन्द है जिसमें सत्ता और पूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है और सर्वज्ञ और सर्वव्यापक भी है वह तीनों काल में अपने आनन्द गुण से भिन्न नहीं होता अब ज्ञात होगया कि जड़ प्रकृति तो सदा बद्ध है वह कभी मुक्त हो ही नहीं सकती क्योंकि संसार में भी देखा जाता है कि जड़ वस्तु तो स्वतन्त्र हो नहीं सकती और अल्पज्ञ जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग से बद्ध होता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त होता है यथार्थमें न ये बद्ध हैं न मुक्त, । परमात्मा सदा मुक्त है, भ्रातृगण ! वेद ने भी इस बात को दिखलाया है ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥वाजसनेयोपनिषद॥९॥

वह लोग महा अंधकार को प्राप्त होते हैं जो कारण रूपी प्रकृति को ईश्वर के स्थान अर्थात् सुख का अधिकरण समझ कर उपासना करते हैं और वह लोग जो कार्य रूप प्रकृति की उपासना करते हैं वह उस से भी अधिक दुःखों में पड़ जाते हैं, प्यारे भ्रातृगण ! चूंकि प्रकृति में आनन्द गुण नहीं है इस लिये प्रकृति से आनन्द की कामना करना मिथ्या ज्ञान है यही सारे दुःखों का मूल है क्यों कि इस से सब बुरी बात उत्पन्न होती हैं जैसे एक मनुष्य को सर्दी की इच्छा है और उसे ज्ञान होगया कि अग्नि से सर्दी मिलती है, वह अग्नि की उपासना करने लगा क्या आप विचार कर सकते हैं कि जिस अग्नि में सर्दी है ही नहीं उस अग्नि से कोई आदमी बहुत सा पुरुषार्थ करके बड़ी विद्या को व्यय करके सर्दी प्राप्त कर लेगा, नहीं २ वरन वह आदमी अपनी दशा को बिगाड़ लेगा जैसे मृगतृष्णा के जल में प्यास बुझाने की शक्ति नहीं तो क्या वह मृग जो बालू को जल समझकर उस ओर जाता है कभी अपनी प्यास बुझा सकता है महात्मा गोतम जी ने भी अपने शास्त्र में लिखा है ।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥न्य० १ । १ । २

(अर्थ) क्योंकि सब दुःखों का मूल कारण मिथ्या ज्ञान है अर्थात् जड़ प्रकृति है जिस में आनन्द का लेश भी नहीं उस से आनन्द की लालसा की जाती है और उसी से जिन पदार्थों को जीवात्मा अपने अनुकूल समझता है उन में राग पैदा हो जाता है और जिनको अपने प्रतिकूल समझता उस में द्वेष उत्पन्न हो जाता है और राग से वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रयत्न होता है और द्वेष से त्यागने के लिये पुरुषार्थ किया जाता है और इस त्याग और ग्रहण के पुरुषार्थ का नाम प्रवृत्ति है और इस प्रवृत्ति में पड़कर जीव धर्म अधर्म दोनों प्रकार के कर्म करता है जैसे वाणी से झूंठ बोलना और मन से किसी का बुरा चाहना और हाथ से किसी की हत्या करना, और आंखों से दूसरे की वस्तु को बुरा देखना, या उसके विरुद्ध सारे अच्छे काम करना है, इस प्रकार के धर्म अधर्म से भुक्ति पैदा होती है जिस के भोगने के लिये जीव जन्म मरण को प्राप्त करता है और यह जन्म मरण बड़े भारी दुःख हैं जब तक इन की जड़ न कट जाय तब तक मनुष्य इन से बच नहीं सकता, इन की जड़ या इन के आदि कारण मिथ्या ज्ञान हैं सो जब तक मिथ्या ज्ञान का नाश न हो तब तक दुःखों का नाश नहीं हो सकता और यह नियम संसार में देखा जाता है कि विरुद्ध गुण वाली वस्तुयें विनाशक हुआ करती हैं, जो रोग सर्दी से पैदा होगा उसके नाश करने वाली गर्म औषधि होगी, इसी प्रकार मिथ्या ज्ञान का विरुद्ध सत्य ज्ञान है, जब सत् ज्ञान होगा तब उसका विरोधी मिथ्या ज्ञान आप से आप नष्ट होजायगा। जैसे संसार में प्रकाश के होते ही अंधकार, नष्ट हो जाता है इस लिये जब मिथ्या ज्ञान नाश हो गया तो उससे पैदा होने वाले राग द्वेष उत्पन्न नहीं होते और राग द्वेष के नाश होजाने से उनका कार्य्य प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती और प्रवृत्ति के न होने से उसके कार्य्य धर्म अधर्म नहीं रहते और उनके होने से भुक्ति पैदा नहीं होती और भुक्ति के न रहने से जन्म मरण हो नहीं रहते और जन्म मरण के न होने

से दुख का मूल सेनाश हो जाता है सो दुख के दूर करने का उपाय सत् ज्ञान है महात्मा गोतम जी कहते हैं ।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव तर्क नि- र्णय वाद जल्पवितण्डा हेत्वाभासछलजातिनिग्रह- स्थानानां तत्वज्ञाना न्निःश्रेयसाधिगमः॥ न्या० १।१।१

(अर्थ) प्रमाण प्रमेय संशय, प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय, वाद जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास छल, जाति, निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों के तत्व ज्ञान से मुक्ति होती है (प्रमाण) जिसके बिना कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती जब तक वस्तु सिद्ध न हो उससे काम नहीं लिया जा सकता और काम लेने के लिये प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इन चार वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक है, प्रमाता उसको कहते हैं जो किसी प्रमेय को सिद्ध करे और जो कुछ प्राप्त हो उसे प्रमिति कहते हैं जैसे एक वस्तु लाल है जो आदमी उसको ज्ञात करता है वह प्रमाता है और आंखें प्रमाण हैं लाल रंग की वस्तु प्रमेय है और उसका ज्ञान प्रमिति है ।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाःप्रमाणानि॥न्या० ।१।१।३

प्रमाण चार हैं प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द जो वस्तु इन प्रमाणों से सिद्ध न हो तो उसके होने का निश्चय होना समझदार के वास्ते असम्भव ज्ञात होता है जो ज्ञान इन्द्रिय, और अर्थ से पैदा होता है उसके ज्ञान के हेतु को प्रत्यक्ष प्रमाण और उस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और प्रत्यक्ष ज्ञान से व्याप्ति लेकर उसके अनुकूल तीन तौर पर अर्थात् कार्य्य से कारण का अनुमान और कारण से कार्य्य का अनुमान और सामान्य गुण से गुणी का होता है उसे अनुमान कहते हैं जैसे नदी के चढ़ाव को देखकर यह ज्ञान किया जाता है कि पहाड़ में वर्षा हुई है और घन घोर बादल को देखकर विचार होता है कि मेह बरसेगा और दूर से धुएं को देखकर अग्नि का ज्ञान हो जाता है यह तीनों प्रकार का ज्ञान अनुमान कहलाता है और जहां प्रत्यक्ष सामान्य कर्मों के एक होनेसे

वस्तुओं को सिद्ध करना हो या जिससे उसकी सिद्धि की जावे. उसे उपमान कहते हैं जैसे किसी ने नीलगाय नहीं देखी उससे कहा कि गौ के सदृश नील गाय होती है वह आदमी जहां जंगल में गया उस ने नीलगाय को देखकर गौ के साथ उसके चिन्ह मिलाने से ज्ञात कर लिया चौथे जिस आदमी ने किसी वस्तु को प्रत्यक्ष करके उसके गुणों के सदृश जो उपदेश किया हो उसे शब्द कहते हैं शब्द दो प्रकार का होता है एक जो प्रत्यक्ष वस्तु को बतलाता है दूसरा वह जो अप्रत्यक्ष की बातों को बतलाता है।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ न्या० १ । १·६

आत्मा जिसके ज्ञान और प्रयत्न दो चिन्ह हैं। शरीर जिस में बैठकर इन्द्रिय अर्थ के लिये चेष्टा करती हैं तीसरे इन्द्रिय जो ज्ञान और कर्म के लिये दिये गये हैं वह पांच ज्ञान इन्द्रियां अर्थात् आंख कान, नाक, जिह्वा और खाल, ५ कर्म इन्द्रिय अर्थात् हाथ पैर जिह्वा और मल मूत्र का स्थान है। चौथे अर्थ, जिन विषयों में इन्द्रियां घूमती हैं पांचवें बुद्धि जिसका नाम ज्ञान या उपलब्धि है छटे मन जिस के कारण एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता है मन जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रखता है उस के ही विषय का ज्ञान होता है और जिस इन्द्रिय के विषय से सम्बन्ध नहीं रखता उस इन्द्रिय के काम करते हुये भी उसके विषय का ठीक ज्ञान नहीं होता, सातवें प्रवृत्ति, कभी बुद्धि और शरीर से जो काम सुख को पाने और दुःख को छोड़ने के लिये किया जाय, यह पुण्य और पाप दो तरह की है आठवें द्वेष जिन के सबब से जीवात्मा प्रवृत्ति करता है यह मिथ्या उत्पन्न हुए राग और दोष हैं जिनके कारण जिस वस्तु को आत्मा के अनुकूल समझा है उस में राग अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है नौवां प्रेत्य भाव अर्थात् आत्मा का शरीर मन बुद्धि से भिन्न होकर दूसरे शरीर के साथ सम्बन्ध करना पुनर्जन्म या प्रेत्यभाव कहलाता है दसवां फल जो काम करने के पश्चात् प्राप्त होता है इसे अर्थ भी कहते हैं जो सुख दुःख का कारण व इन्द्रियों का विषय है आंख का

विषय रूप है सो यह रूप तेज में रहता है दूसरे कान का विषय शब्द है सो यह आकाश का गुण है तीसरे नासिका का विषय गंध है सो यह पृथ्वी में रहता है चौथे रसना अर्थात् जीभ का विषय रस है सो यह जल में रहता है पांचवें खाल का विषय स्पर्श है जो हवा में रहता है ग्यारवें दुःख अर्थात् पराधीनता का होना क्योंकि संसार के सब विद्वानों की इस पर एक सम्मति है कि कामनाओं का होना और उस के पूरे करने के मार्गों का न होना या किसी वस्तु से घृणा होना और उसके दूर करने की शक्ति का न रहना दुःख कहलाता है बारहवां अपवर्ग अर्थात् मुक्ति यह दुःखों के निःशेष होने की अवस्था का नाम है अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुखोंका सर्वथान होना। ऐसाही कणाद जी ने भी मुक्ति का कारण सत्यज्ञान ही माना है जैसा कि लिखा है:-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिःस धर्मः ॥ वै० १ । २

जिस से तत्वज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है उसे धर्म कहते हैं या जिससे तत्वज्ञान और मुक्ति प्राप्त होती है, यहां पर यह सन्देह होता है कि यदि ऐसा कहा जाता कि जिससे मुक्ति होती है वही धर्म है तो उस दशा में काम चल जाता क्योंकि धर्म के विना मुक्ति हो ही नहीं सकती परन्तु ऋषि का यह कथन है कि यदि तत्वज्ञान के नियम को छोड़ दिया जावे तो लोग अधर्म को भी धर्म जतलाने लगेंगे क्योंकि मुक्ति तो पीछे होगी और धर्म पूर्व करना पड़ेगा उस समय वाममार्ग जैसे महापाप भी धर्म हो जायगे औरसब की सब व्यवस्था नष्ट हो जायगी और महात्मा कपिल जी ने भी मुक्ति का कारण तत्वज्ञान ही को माना है।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ सां० ३ । २३

ज्ञान से मुक्ति होती है क्योंकि मिथ्याज्ञान से बद्ध होता है। ऐसा ही महात्मा पातञ्जलि जी भी कहते हैं:-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः । यो० २ । २६

दुःख निवृत्ति का निदान, मिथ्याज्ञान से रहित तत्वज्ञान ही हो सकता है क्योंकि अविद्या का नाश विद्या के विना हो नहीं सकता और कारण

के नाशके विना कार्यकानाश नहीं हो सकता, भ्रातृगण ! इन सब प्रमाणों से जाना गया कि संसार में दुख निवृत्ति का निदान केवल पदार्थोंके स्वरूप का ठीक २ ज्ञान है परन्तु इस में सन्देह उत्पन्न होता है कि किन पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है पदार्थों की ३ अवस्थायें हैं प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक, इनमें से प्रातिभासिक तो भ्रांति है इस सत्ता का ज्ञान तो दुख का कारण है उस से दुख निवृत्ति किसी प्रकार हो नहीं सकती, व्यावहारिक सत्ता भी परिणामी है उसका ज्ञान भी तत्वज्ञान कहलाने के योग्य नहीं । केवल पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान आवश्यक है और परमार्थ में ३ पदार्थ प्रतीत होते हैं अर्थात् जीव ईश्वर और प्रकृति इसलिये जीव को ईश्वर और प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक हुआ अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि न्यून शक्ति और न्यून ज्ञान वाला जीव अपनी अवस्था में किस प्रकार अनन्त प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और किस प्रकार ईश्वर को जो अति सूक्ष्म और इन्द्रियों का विषय नहीं ज्ञात कर सकता है जब ईश्वर और प्रकृति का ज्ञान होना जीव के लिये असम्भव है तो संसार में कोई जीवन्मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता परन्तु प्रत्येक जीव के भीतर मुक्ति की इच्छा है और असम्भव वस्तु की इच्छा हुआ नहीं करती अब यहाँ विचार हुआ कि किस प्रकार तत्वज्ञान हो । इस बात के उत्तर के लिये महात्मा कणाद जी ने उत्तर दिया है:-

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ वै० १ । ३

तत्वज्ञान का उपदेश अर्थात् धर्म का बोधक होने से वेद का प्रमाण करना जीवों के पदार्थ ज्ञान के लिये आवश्यक है या ईश्वर सर्वज्ञ जो प्रत्येक स्थानों पर विद्यमान और प्रत्येक पदार्थ के मूल से परिचित है उस का उपदेश होने से वेद से ही तत्वज्ञान लेना चाहिये क्योंकि वेद के विना मनुष्य तत्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसे ही महात्मा जैमिन ऋषि उपदेश करते हैं:--

चोदनालक्षणोर्थो धर्मः ॥ मी० १ । । २ ।

अर्थः-जिस काम में वेद के द्वारा ईश्वर की प्रेरणा ज्ञात हो उसी का करना धर्म है और जो वेद विरुद्ध हो वह अधर्म है अब यहां पर यह आ-

शय निकला कि वेद ही ईश्वर कृत होने से धर्म के बोधक हैं और महात्मा व्यास जी भी शारीरिक सूत्रों में वेद को ईश्वरकृत बतला रहे हैं:—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ वेदान्त० १ । १ । १ ३

यहां पर वह ईश्वर को वेदों का कर्ता होना सिद्ध करते हैं अर्थात् कोई जीव वेदों को बना नहीं सकता क्योंकि विना शिक्षा के कुछ भी ज्ञानसम्बन्धी काम करने की सामर्थ्य नहीं रखता और न वेदों के विषयों का, जिनका सब विद्याओं से सम्बन्ध है विना उपदेश के ज्ञान हो सकता है इसलिये कुल ऋषियों के विचार में जिन्हों ने वेदों की अन्वेषणा की, वेद ईश्वर का ज्ञान ज्ञात हुआ, प्रश्न यह है कि वेद क्या है ? और उसका लक्षण क्या है पहले कहा कि:—

हिताहितसाधनताबोधकत्वम्,

अर्थात् जो भलाई और बुराई का स्थल बतलाने वाला हो उसे वेद कहते हैं परन्तु यह लक्षण वैद्यक शास्त्र और नीति शास्त्रादि में, जो मनुष्यों की बनाई पुस्तकें हैं उन में भी घट गया इस लिये फिर कहा—

हिताहितसाधनताबोधकानि चा पुरुषवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादकानीति ॥

अर्थात् जो मनुष्य का बनाया हुआ नहो और भले बुरे साधनों का बताने वाला हो, जब यह लक्षण होगा तो कुरान इंजील तौरेत इत्यादि को ईसाई और मुहम्मदी भाई ऐसा ही मानते हैं और जैनी लोग अपने ग्रन्थों को पुरुष का लेख नहीं मानते इस लिये वेदों का लक्षण किया गया है कि जो संसार की किसी पुस्तक में नहीं घट सकता—

ब्रह्मप्रतिपादकानिअनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषादिरहितानि सृष्टिक्रमाविरुद्धानि वाक्यजातानि ·

जो सृष्टि के आदि से लेकर भले और बुरे साधनों का जतलाने वाला; मनुष्य का वाक्य न हो और ब्रह्म का भी प्रतिपादक हो और झूठ, झगड़ादि वाली बातों से रहित हो और उस में निष्प्रयोजन एक ही अर्थ को दुबारा वर्णन न किया हो और वह सृष्टि क्रम से विरुद्ध न हो । प्यारे

पाठकगण ! अब देखना चाहिये कि वेदों में ये प्रशंसा पाई जाती हैं या नहीं और दूसरे बहुत से लोग यह भी सन्देह उत्पन्न करेंगे कि वेद केवल हिन्दुओं ने मान लिया है नहीं तो उसमें ऐसा कोई कारण ईश्वरीय ज्ञान होने का नहीं है क्योंकि वेद पाठियों ने कभी नहीं कहा कि तुम वेदों को विना अन्वेषणाके मानलो और अन्वेषणा दो प्रकारकी होती है एक भीतरी दूसरी वाहरी, भीतरी अन्वेषणा तो उसके अपनी प्रशंसा के स्पष्ट करने से ज्ञात होता है और वाहरी अन्वेषणा उन लोगों के वचन से होती है जिन लोगों ने पिछले समय में उसकी आन्तरिक अन्वेषणा की थी। हमारे कुछ मित्र कहेंगे कि जब समीक्षक ने भी आन्तरिक प्रशंसा ही से अन्वेषणा की है और हम भी आन्तरिक गुणों ही से अन्वेषणा करते हैं इस लिये दोनों एक ही वात हैं अतः हम वर्तमान समय में अपनी अन्वेषणा पर भरोसा करेंगे परन्तु यह वात ठीक नहीं, प्रथम तो पिछले समय की पुस्तकें द्वेष और स्वार्थ से नहीं भरी थी उस समय के लोगों को समय मिलने के कारण और संस्कृत विद्या के पठन पाठन से वहुत अवसर अन्वेषणा के मिल सके थे इस लिये जितनी अन्वेषणायें भूतकाल में की गई हैं वह भी प्रथम कोटि का प्रमाण मानना चाहिये और इस समय भी द्वेष और स्वार्थ को छोड़ कर अन्वेषणा करना योग्य है।

प्यारे मित्रो ! यदि हम ईश्वर की वनाई हुई वस्तुयें और मनुष्यकृत वस्तुओं में भेद करना चाहें तो हमें दोनों प्रकार की वस्तुओं के गुणों की तुलना करके उन के उदाहरण फल निकलना चाहिये जैसे हम देखते हैं कि एक वड़ के वृक्ष का छोटा सा वीज है और उसके सामने आदमी का वनाया एक विल्लौर का गोला रख लीजिये, प्रत्यक्षस्वरूप में तो यह विल्लौर का गोला उस वीज से शक्ति और सुन्दरता और रंग, सारांश कि प्रत्येक गुण में उस से वढ़कर है, परन्तु यदि ध्यान की दृष्टि से सोचें तो ज्ञात होजायगा कि विल्लौर का गोला अपने वनाने वाले की निर्वलता के कारण जितने वाह्य गुण रखता है उसका दसवां भाग भी इस में आन्तरिक गुण नहीं है वरन उस वीज के सामने तो किसी प्रकार आही नहीं सकता क्यों कि वीज में उसके वनाने वाले को विद्वान् होने के कारण छिपी हुई इतनी शक्ति है कि वह एक वीज सव संसार में यदि

चाहें तो बढ़ कर वृक्ष फैला सकता है इस छोटे बीज के भीतर फल बनाने की शक्ति, पत्ता शाखा अंकुर इत्यादि, सारांश यह कि उसका आन्तरिक भाग अपने बनाने वाले की विद्या के पूर्ण प्रमाण है ॥

प्यारे मित्रो! अतः ईश्वर की बनाई हुई पुस्तकों में भी इसी प्रकार गुण होने चाहियें कि शब्द तो बहुत कम हों परन्तु अर्थ अधिक, दूसरे लगभग संसार भर इस बात को जानता है कि यह जगत् परमेश्वर ने बनाया है उसकी पुस्तक का सृष्टिनियम के अनुकूल होना आवश्यक है क्योंकि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है और ईश्वर ज्ञानी है और अच्छे मनुष्यों के वचनों में विरुद्धता नहीं होती तो ईश्वर की बनाई पुस्तक उसके कर्म के किस प्रकार विरुद्ध होसकती है तीसरे यह बात है कि प्रत्येक मनुष्य अपनों में कुछ न कुछ पक्षपात रखता है जैसे जब इस भारतवर्ष में ब्राह्मणों का प्राबल्य था उस समय ब्राह्मण दंड नीति से अभियुक्त नहीं किये जाते थे और जब यहां पर यवनों का प्राबल्य था तो यवन किसी हिन्दू को मार कर दंड नहीं पाता था और हिन्दू किसी यवन को थोड़ी सी बात कहनेसे फांसी दिया जाता था "हकीकतराय" इत्यादि के सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं जो बालक होते हुए भी यवनों के द्वेष से इस्लाम की भेंट हुए, फिर जब सिक्खों का राज्य होगया तो एक सिक्ख कई यवनों को मार करके भी फांसी का दंड नहीं पाता था, अब अंग्रेजी राज्य में न्याय तथा द्वेषरहित होने की बड़ी धूम मच रही है परन्तु मानुषी गुण यहां से भी नहीं गया क्योंकि आज तक कई भारतवासियों के मारने से कोई गोरा फांसी पर नहीं चढ़ा, इस लिये अपनी जाति और देश का पक्षपात या अपने कुटुम्ब और समीपवर्तियों का पक्ष मानुषिक गुण है बस जिन २ में दूसरों पर भिन्न जाति होनेके कारण, या दूसरी जाति और धर्म पर अन्य जाति के होने के कारण अत्याचार नीति युक्त धर्म रक्खा गया हो वह पुस्तक मनुष्यकृत है और जिस पुस्तक में सब देश व जातियों को एक ही दृष्टि से देखा गया हो वह ईश्वरकृत पुस्तक है।

प्यारे मित्रो! सिवाय ऊपर लिखे हुये गुणों के जो प्रत्येक ईश्वरकृत पुस्तक के लिये बहुत आवश्यक है एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिये चूंकि पुस्तक के आने का कारण मनुष्य की अविद्या को दूर करं

के मनुष्यों को ज्ञान सम्बन्धी सहायता देना है जिससे मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा ज्ञात करके उसी के अनुसार अपने जीवन को पूरा करे और जो बुद्धि और ज्ञान के विपरीत हो वह नितान्त मनुष्यकृत पुस्तक मानी जायगी और जिस पुस्तक का पूरा विषय बुद्धि के अनुसार हो और जिस को युक्ति से कुछ भय न हो वह पुस्तक ईश्वरीय पुस्तक कहलाने की अधिकारिणी है चूंकि हम संसार में ईश्वरीय प्रकाश और मानवी प्रकाश को देखते हैं तो हमें ज्ञान होता है कि मानवी प्रकाश—जैसे दीपक (लैम्प) इत्यादि मानवी प्रकाश है जैसे जैसे दीपक (लैम्प) इत्यादि को सदैव वायु से भय लगा रहता है और जहां थोड़ी सी वायु लगती है दीपक बुझ जाता है परन्तु परमेश्वरके बनाये हुए सूर्यको वायु से नेक भी भय नहीं। इसी दृष्टान्त से हमें परमेश्वर ने बतला दिया है कि उसकी बनाई हुई पुस्तक को युक्ति से कुछ भी भय नहीं है व न उसके बिना युक्ति ठीक प्रकार समझ भी नहीं सकते परन्तु जितनी मनुष्यकृत पुस्तकें हैं वह सब युक्ति से डरती हैं उनको मानने वाले जब कभी युक्ति से काम लें तो उनका विश्वास निर्बल पड़ जाता है पस ऐसी पुस्तक में जिसमें लिखा हो कि युक्ति देना बुराई है या "धर्म में बुद्धि का प्रवेश नहीं" नितान्त मनुष्यकृत है और उन पुस्तकों से उद्देश पर पहुंचना बहुत कठिन है।

प्यारे मित्रो ! आप एक और भी ध्यान रक्खें कि जिस समय संसार में सूर्य की किरणें आना आरम्भ होती हैं तो अंधेरा एक दम उड़जाता है लेकिन दीपकों के प्रकाश से अंधेरा बहुत कम उड़ता है और उसका प्रकाश दूर तक नहीं पहुंचता, इसलिये जिस पुस्तक से संसार की संपूर्ण मूर्खता नष्ट हो जाय और मनुष्यों में से द्वेष भाव हटकर एकता पैदा होजाय वही ईश्वरकृत पुस्तक है अब हम वेद में इन्हीं बातों की ढूंढ (खोज) करेंगे। यदि इस समय देश में देखा जाय कि कितनी बातें ऐसी हैं कि जिनके कारण मनुष्य आपस में भाई भाई होने पर भी और बुद्धिमान् हो कर के भी एक दूसरे के दुखदाई शत्रु बन रहे हैं, जब हम भले प्रकार सोचते हैं तो ज्ञात होता है कि पहिली बात जिस में संसार को टुकड़ा २ किया ईश्वर के न मानने का है जो लोग नास्तिक हैं वह ईश्वर का होना नहीं मानते, दूसरी बात ईश्वर की गणना की है

अर्थात् ईश्वर एक है या अनेक। क्योंकि ईसाई तीन मानते हैं बाप बेटा और पवित्र आत्मा। यवन एक मानते हैं, हिन्दू तीन मानते हैं, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जैनी २४ मानते हैं, वरन इस से भी अधिक, और आर्य एक मानते हैं सारांश यह कि इस बात में भिन्नता है तीसरा झगड़ा ईश्वर के साथ का है अर्थात् ईश्वर कहां है? कोई सातवें आकाश पर मानता है अर्थात् यवन ईसाई चौथे आकाश पर मानते हैं जैनी मोक्ष शिला (सिद्ध शिला) पर मानते हैं हिन्दु वैकुन्ठ में मानते हैं कोई क्षीर सागर में मानता है कोई गोलोक में मानता है, शैवी कैलाश पर मानते हैं सारांश यह कि इस बात में बड़ी बड़ी भिन्नता विद्यमान हैं, चौथे झगड़ा इस बात का है कि ईश्वर कर्मों का फल किस प्रकार देता है? जैनी तो ईश्वर को फल दाता मानते ही नहीं यवन कहते हैं कि "मुनकिर नकीर" क़बर (समाधि) पर आकार मृतक से प्रश्न करते हैं और क़यामत के दिन उनका हिसाब होता है ईसाई भी क़यामत के मानने वाले हैं और हिन्दुओं का यह मत है कि यमदूत उसको यम लोक में ले जाते हैं वहां चित्र गुप्त यमराज का मीर मुन्शी वही खाता लिखता रहता है और उसके अनुसार हिसाब होकर कर्म फल दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस बात में और भी बहुत सी भिन्नता है, पांचवां झगड़ा इस बात का है कि ईश्वर ने संसार को किस वस्तुसे पैदा किया यवन कहते हैं कि अवस्तु से वस्तु को उत्पन्न किया अर्थात् 'कुन, कहते ही सब सृष्टि उत्पन्न हो गई ईसाई भी अवस्तु से वस्तु मानने वालों के साथ ही हैं, जैनी तो उसकी उत्पति मानते ही नहीं, हिन्दुओं में भी इस बात में बड़ी भिन्नता है कोई तो अविद्या से जगत् की उत्पत्ति मानता है कोई पंच भूतों से। तात्पर्य यह कि यह बात भी झगड़े में पड़ी हुई है छटा झगड़ा इस बात का है कि जीव और ईश्वर में भेद है या नहीं? यवन तो हमे ओस्त (सर्व व्यापक) के मानने वाले हैं, हिन्दुओं में विशिष्टा द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, इत्यादि बहुत प्रकार की भिन्नता है, सातवां झगड़ा इस बात का है कि अनादि पदार्थ कितने हैं यवन एक, हिन्दु भिन्न भिन्न, ईसाई तीन. जैनी सब संसार को अनादि मानते हैं

आठवां झगड़ा वह जो इन सब झगड़ों की जड़ यह है कि मुक्ति किस प्रकार हो सकती है! जैनी कर्म से, यवन प्रार्थना से, ईसाई कुफारा से, हिन्दू उपासना ज्ञान कर्म इत्यादि भिन्न भिन्न नियमों से ॥

प्यारे पाठकगण! यह आठ झगड़े हैं जिसके कारण इस समय संसार में आत्मिक और शारीरिक दोनों प्रकार की लड़ाई हो रही है, अब देखना यह है कि वैदिक शिक्षा इन आठ झगड़ों को दूर कर सकती है या नहीं? मैं इस समय केवल उपनिषद् का एक वाक्य जो ऋग्वेद का एक मन्त्र का स्पष्ट अनुवाद है प्रविष्ट करता हूं।

एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति॥ तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्॥ १२॥

पहिला प्रश्न यह था कि ईश्वर है या नहीं। दूसरा यह था कि ईश्वर एक है या अनेक! उसका उत्तर मिला कि एक है क्यों कि नहीं का उत्तर 'है' कहने से और बहुत का उत्तर एक कहने से आगया, अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि एक क्यों है? और वह कहां है? उसका उत्तर मिला कि सर्व व्यापक है क्यों कि जहां दो होंगे वहां बीच की दूरी अवश्य होगी और जहां दूरी हो वह परिमित होगा, इसलिये जो परमात्मा अनन्त है वह एक ही है और उसमें झगड़ा भी मिट गया कि वह कहां है क्योंकि चौथे सातवें आकाश या वैकुण्ठ क्षीर सागर इत्यादि में मानने से परिमित हो जाता है फिर प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि कहां व्यापक है। उसका उत्तर मिला कि [सर्वभूतान्तरात्मा] अर्थात् कुल जीवों और पदार्थों के भीतर विद्यमान है और इस कहने से इस प्रश्न का उत्तर ही मिल गया कि ईश्वर कर्मों का फल किस प्रकार देते हैं अर्थात् वह प्रत्येक जीवात्मा के भीतर सब के कर्मों का साक्षी होकर देखता है और स्वयं ही उनका फल देता है, बहुत से मित्र कहेंगे कि हिन्दु के यम लोक का सिद्धान्त क्यों न माना जाय लेकिन, याद रहे कि एजेन्ट या पैगम्बर या दूत का मानना परिमित होने के रोग का निदान है चूंकि परमेश्वर को यह रोग नहीं इसलिये उसके एजेन्ट या कारिंदा

दूत इत्यादि कोई नहीं है और न उसके दूत माने जा सकते हैं क्यों कि जहां परमात्मा स्वयं विद्यमान न हो वहां पर उस के पैगम्बर एजेन्ट और दूत काम कर सकते हैं इस लिये ऐसा कहने से सिवाय परमात्मा की अप्रतिष्ठा करने के और कोई लाभ नहीं और वही खाते का रखना यह भूल के रोग की चिकित्सा है, क्योंकि परमात्मा को भूल का रोग नहीं है इस लिये उसके दरबार में लिखने का कोई काम नहीं, यह केवल सांसारिक राजाओं को जो थोड़े ज्ञान और थोड़ी शक्ति वाले हैं आवश्यकता है कुछ मित्र यह कहेंगे कि मुनकरनकीर के प्रश्नोत्तरको क्यों न मान लिया जाय? प्रथम तो यह वाक्य इस बात से मिथ्या है कि जब जीव शरीर से निकल जाता है तब उसको कब्र में गाड़ते हैं उस समय जो प्रश्न कब्र पर किये जावेंगे वह शरीर से होंगे न कि जीव से, दूसरे प्रश्न वह मनुष्य करता है जिसको उत्तर मिलनेसे पहले उसका ज्ञान नहीं होता, चूंकि ईश्वर सबको जानने वाला है इसलिये उस पर प्रश्न तथा उत्तर का अभियोग लगाना ठीक भीनहीं तीसरे क़यामतका सिद्धान्त तो सर्वांश में मिथ्या है क्योंकि प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीव मर कर कुल एक स्थान पर जाते हैं या अलग अलग स्थानों पर? यदि कहो कि एक स्थान पर तो भलों को बुरों के साथ में बन्दी गृह में रखना ईश्वर के न्याय पर धब्बा है यदि कहो कि नेकों को अच्छे स्थान पर भेजा जाता है और बुरों को दूसरे स्थान पर तो बस न्याय हो चुका। क़यामत की आवश्यकता ही न रही यह सिद्धान्त तो केवल मूर्ख लोगों ने संसारी बादशाहों के बन्दीगृहों और कारागार को देख कर गढ़ लिया है क्योंकि दुनियां में न्याय तिथि तक अपराधी बन्दीगृह में रहता है और उसके पश्चात् या तो वह छूट जाता है या कारागार में भेजा जाता है। पांचवां झगड़ा यह है कि ईश्वर ने संसार को किस वस्तु से बनाया? कुछ तो यह कहते हैं कि ईश्वर ने संसार को उत्पन्न ही नहीं किया जैसा कि जैनी, और बौद्ध, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि बदलने वाली वस्तु अनादि नहीं हो सकती और यह दुनियां बदलने वाली है इसलिये यह अनादि तो हो नहीं सकती, अब यवन कहते हैं कि असत् से सत् में आ गये परन्तु उनका यह कहना भी मिथ्या है, क्योंकि

अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति या आग से सर्दी की उत्पत्ति मानना बुद्धि और ज्ञान के विरुध्द है, परन्तु हमारे यवन भाई कहते हैं कि जब ईश्वर ने 'कुन' कहा तो दुनियां उत्पन्न हो गई यहां पर सोचना चाहिये कि कुन किस को कहा, क्योंकि कुन विधि है और आज्ञा दूसरे पर होती है जब दूसरा है ही नहीं तो कुन कहना नितान्त झूठ हो गया बहुत से हिन्दू कहते हैं कि अविद्या से जगत बन गया परन्तु यह भी मिथ्या है क्योंकि अविद्या से जगत की उत्पत्ति मानने वाले सिवाय ईश्वर के किसी दूसरी वस्तु को मानते ही नहीं अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तुम्हारी अविद्या कोई वस्तु है या नहीं। यदि कहें कोई वस्तु है तो स्वयं उनका सिद्धान्त मिथ्या हो गया क्योंकि ब्रह्म से भिन्न वस्तु उन्हों ने स्वीकार करली यदि कहें कि कोई वस्तु नहीं तो अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इन सारी अशुद्धियों को देखकर वेद ने उनके दूर करने के लिये उत्तर दिया कि वह परमात्मा एक सूक्ष्म प्रकृति से अर्थात् वस्तुओंके परमाणुओं से बहुत प्रकार की स्थूल वस्तुयें बनाता है॥

छटा झगड़ा संसार में यह पड़ा हुआ है कि जीव और ब्रह्म एक है या अलग अलग इसका उत्तर दिया गया कि उस आत्मा में रहने वाले अर्थात् जीव और ईश्वर का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है, सम्बन्ध सदैव दो में होता है इसलिये जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं॥

सातवां झगड़ा यह था कि पदार्थ अनादि कितने ह, उत्तर मिला, जो उसके भीतर दीखते हैं अर्थात् देखने वाला जीव, और देखने की वस्तु प्रकृति और उसके भीतर देखने के योग्य परमात्मा यह तीन पदार्थ ही अनादि हैं, फिर प्रश्न यह था कि मुक्ति किस प्रकार हो सकती है उत्तर मिला, ईश्वरके जाननेसे जो एक सारे जगत्में व्याप्त सबकी आन्तरिक अवस्था को जानने वाला और अपने आप कर्म का फल देने वाला जा उस को प्रकृति से जगत का अनादि उत्पादक मानते हैं उन्ही की मुक्ति हो सकती है दूसरों की नहीं, प्यारे पाठगण! हमारे बहुधा मित्र कह उठेंगे कि तुम्हारी मुक्ति भी उसी तरह की है जिस तरह पर ईसाई कहते हैं कि ईसामसीह पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है मुसलमान मुहम्मद की अनुग्रह से मुक्ति

मानते हैं लेकिन उनका यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह तो प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस स्थान पर पुलिस अफसर मौजूद हो वहां पर कोई भी चोरी नहीं करता जब कि उसको विश्वास हो कि मैं घूंस देकर बच नहीं सकता इसी पर जो मनुष्य ईश्वर को एक और सब स्थानों में और सब कर्मों का फल देने वाला मा- जानता है वह कहीं भी पाप नहीं कर सकता, उसे कष्ट किस तरह पर होसकता है। और जो ईश्वर को परिमित मानते हैं उनके मत में तो ईश्वर का होना न होना बराबर है और प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानने का तात्पर्य्य यह है कि जिससे ज्ञात रहे कि जगत् में आनन्द नहीं क्योंकि सत् प्रकृत्ति है सत्चित् जीव अर्थात् आत्मा है और सत्चित् आनन्द पर-मात्मा है जब प्रकृति सत् ठहरी और जगत् उसका कार्य है तो जगत् से आनन्द की इच्छा करना ठीक नहीं और तीन पदार्थों के नित्य मानने से ये लाभ है कि प्रकृति की उपासना से दुःख होता है और परमात्मा की उपासना से सुख होता है और जीव, सुख दुख और बन्ध मोक्ष दोनों से भिन्न साक्षीरूप है और संसार के जितने मत हैं सब में इस बात के अज्ञान से सहस्रों त्रुटियां होगई कि पाप कौन कराता है ? पुण्य कहां से होता है ? परन्तु उचित उत्तर नहीं था वैदि धर्म ने उसका उत्तर ऐसा दिया कि अब कहने का अवकाश नहीं अर्थात् प्रकृति के संसर्ग से मूर्खता और पाप उत्पन्न होता है जिस का फल दुख है और परमात्मा के संसर्ग से पुण्य उत्पन्न होता है जिसका फल सुख है।

प्यारे पाठकगण ! इस मन्त्र ने जिस प्रकार मनुष्यों के झगड़ों को शान्त किया वह तो आपको ज्ञात होगया, अब प्रश्न यह है कि वेद ईश्वर की सृष्टिनियम के अनुकूल है या नहीं, इसके उत्तर में हम आपके सामने यजुर्वेद का एक मन्त्र प्रविष्ट करते हैं जिससे आपको ज्ञात होगा कि वैदिक शिक्षा किस प्रकार पर सृष्टिनियम के अनुकूल है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ॥ ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ यजु० अ० ३१ मं० ११

इस मन्त्र में परमात्माने मनुष्य योनि का विभाग और उनके कर्मों का

प्रकार बतलाया है इस से पिछले मन्त्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस प्रकार एक मनुष्य के शरीर में चार भाग हैं, पहला भाग सिर से गर्दन तक जो मुख कहलाता है, दूसरा भाग गर्दन से नीचे और कमर से ऊपर जो "बाहू" कहलाता है तीसरा भाग (ऊरु) अर्थात् कमर से नीचे और घुटनों तक, चौथा भाग घुटनों से पांवों तक ये पाद कहलाता है क्या इसी प्रकार मनुष्य जाति के भी कोई भाग हो सकते हैं ? इस से परमात्माने बतलाया कि जिस काम के लिये हमने शरीर में मुख का भाग उत्पन्न किया है उसी काम के लिये संसार में ब्राह्म वर्ण बनाया और जिस काम का सम्बन्ध बाहू वाले भाग से है वह काम हमने क्षत्रियों के भाग में रक्खा है और जिस काम के लिये जंघा हैं वह वैश्यों का काम है और जो काम एक मनुष्य के शरीर में पांवों का है वही काम मनुष्य जाति में शूद्र का है।

प्यारे पाठकगण ! आप ध्यान से सोचें कि मुख वाले भाग का क्या काम है ! इस हिस्से में पांचों ज्ञान इन्द्रियां विद्यमान हैं और किसी भाग में यह ज्ञान इन्द्रिय नहीं हैं जिससे ज्ञात हुआ कि ब्राह्मणों का कर्त्तव्य पूरा ज्ञान प्राप्त करना है, दूसरे इस भाग में कर्म इन्द्रिय कौन है ? जीभ, इस का काम क्या है ! उपदेश करना। तीसरे यह भाग भौतिक शक्ति में नीचे के सब भागों से निर्बल है यदि आंख में थोड़ी सी मिट्टी पड़ जावे तो तुरन्त पीड़ा होने लगेगी और काम में रुकावट होगी, जिस से यह ज्ञात होता है कि यह भाग थोड़ी सी अविद्या और कुकर्मों के मेल को भी सहारने योग्य नहीं यदि इसमें थोड़ी भी त्रुटि आजायगी तो तुरन्त पीड़ा उत्पन्न होजायगी और उस भाग को जिस प्रकार से विद्या का प्रचारक समझ कर सब से ऊपर की कक्षा दी गई, इस से यह भी बतला दिया कि संसार में सब से प्रथम गणना की वस्तु जीवात्मा के लिये विद्या है दूसरे भाग का नाम क्षत्रिय रक्खा जिस में बतलाया कि रक्षा का काम क्षत्री का है अब आप सोचें कि यदि आंख में चोट आवे तो उसकी चिकित्सा कौन करेगा ! उत्तर हाथ, और पांव की रक्षा कौन करेगा ! हाथ सारांश यह है कि कुल शरीर की रक्षा हाथ से होती है जिससे ज्ञात हुआ कि जिस तरह इस शरीर में बाहू का भाग है वैसा मनुष्य जाति में

क्षत्रिय है परन्तु बाहु वाला भाग प्रकृति शक्ति में शरीर के सब भागों से बड़ा है जिस से बतलाया गया कि राजों को सब प्रजा से अधिक धनवान होना आवश्यक है। तीसरे यह भाग आंख कान इत्यादि की आज्ञानुसार काम करता है जिस से बतलाया गया कि क्षत्री को ब्राह्मण की आज्ञानुसार काम करना चाहिये या बलवान को विद्वानों की आज्ञा माननी चाहिये तीसरा भाग वैश्य का है जो ऊरू कहलाता है उसका काम परिवर्त्तन है और उसकी उत्तमता धन से है जिसमें बतलाया गया है कि विद्या और बल से धन का दर्जा बहुत कम है क्योंकि मूर्खों से विद्वान् सहजता से धन ले सकता है और निर्बल से बली साधारणता से छीन सकता है परन्तु धनी, विद्वान् से विद्या और बली से बल नहीं छीन सकता चौथा भाग घुटनों से पांवों तक है जिससे पाद कहा गया है इसे शूद्र कहते हैं क्या कोई कह सकता है कि इस भाग का काम केवल ऊपर के भागों को उठाकर ले चलने के कोई दूसरा नहीं होसकता है।

प्यारे पाठकगण। वैदिक धर्म इतना ईश्वरीय नियम के अनुकूल है कि इन दोनों में भेद मिल ही नहीं सकता और हमने यह भी कहा कि वेदों में पक्षपात है तो वह अवश्य मनुष्य वाक्य है यदि पक्षपात का लेश नहीं तो अवश्य उसे ईश्वरीय पुस्तक मानना पड़ेगा उसके प्रमाण में हम एक वेद मंत्र प्रविष्ट करते हैं।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च। ऋग्वेद अ० ८।४।८।१६

अर्थ—जो मनुष्य आदमियों के मांस से अपनी आत्मा को पालता है या घोड़ों के मांस से पालता है या और किसी जानवर के मांस से या गौ का दूध छल लेता है बछड़ों को बिलकुल न देकर जानसे मार डालता है, राजा का धर्म है कि इन सबको प्राणों का दण्ड दे अर्थात् इनके शिर तन से अलग करके शेष शरीर के टुकड़े २ करता दे।

प्यारे पाठकगण। देखिये कि वेद में स्पष्ट रीति पर बतला दिया कि चाहे वह मनुष्य को मारे चाहे पशु को, दंड दोनों को तुल्य है जैसा कि

मनुष्यकृत पुस्तकों में मनुष्यों का पक्षपात है कि मनुष्यों का नेक भी कष्ट देने वाला जानवर मूंजी कहलाता है और सहस्रों जानवरों को मार डालने वाला संसार में उत्तम कहलाता है परन्तु वेद में यह बात नहीं वरन वेद दोनों को एक दृष्टि से देखते हैं हमारे बहुत से मित्र कह उठेंगे कि-अंधेर होगया जीवों को मार कर खाना और मनुष्यों को मार कर खाना बराबर पाप बतलाया, परन्तु उनको याद रखना चाहिये कि वर्तमान दशा में गवर्नमेंट का भी यही नियम है वह कहेंगे किस प्रकार आपको ज्ञात हो कि संसार में मनुष्यों की दो दशायें हैं एक स्वतन्त्र दूसरी परतंत्र, स्वतंत्र आदमी अपने कामों को अपनी इच्छा के अनुसार करता है और उससे लाभ या हानि उठाता है, परन्तु परतन्त्र आदमी अपनी इच्छा से कोई काम नहीं कर सकता उसको जिस काम में लगा दिया है उसको करता चला जाता है परन्तु उसके करने से जो कुछ लाभ या हानि हो वह उस का उत्तरदाता नहीं जैसे एक बँधुआ १० आना नित्य का काम करता है और दो आना नित्य का भोजन खाता है अब शेष आठ आना नित्य का उसका अधिकार नहीं यदि वह एक आना नित्य का काम करता है और दो आना नित्य खाता है इस दशा में भी वह हानि का उत्तरदाता नहीं, स्वतन्त्र आदमी दोनों दशाओं में उत्तररदाता है, अब बतलाइये तो सही कि यदि कोई आदमी किसी अभियुक्तको मार डाले तो हनन का अपराधी कहा जावेगा मुझे जहां तक ज्ञात है अवश्य हत्या का अपराधी होगा और अभियुक्त और स्वतंत्र के मारने वाले को दंड भी एक जैसा होगा इसलिए इसका कारण यह है कि अपराध का न्याय तो वासना पर है जिस मनुष्य ने स्वतंत्रता का हनन किया है उसकी वासना भी हनन की थी और जिसने अभियोगी को हनन किया है उसकी वासना भी यही थी।

प्यारे पाठकगण! जिस प्रकार मानवी गवर्नमेंट मुक्त और अभियुक्त की हत्या को एकसा समझती है उसी प्रकार परमात्मा की सृष्टि में भी दो प्रकार के जीव हैं एक कर्मयोनि अर्थात् करने वाले दूसरी भोग योनि अर्थात् भोगने वाले, करने वाले शरीर मुक्त पुरुषों के तुल्य हैं और भोग योनि अभियुक्त के समान है पस दोनों प्रकार के शरीरों की हानि पहुँचाने वाला एकसा अपराधी है जिस तरह जो आदमी अपराध का

आदी हो जाता है और उसे इस अपराध से बचाने के लिये बद्ध किया जाता है, जिन हाथों से वह दूसरों का हनन करना चाहता था या दूसरों का माल उठाता था उन हाथों में हथकड़ी डालकर उसकी शक्ति रोक दी जाती है जिन पांवों से वह माल लेकर भागना चाहता था उनमें भी शृङ्खला डाल दी जाती है यदि बहुत थोड़ा अपराधी है और उससे अपराध अधिक होगया हो तो उसके शरीर को एक मकान में बन्द करके और कुछ समय तक उसकी पाप करने की आदत को कम किया जाता है जब आदत कम होजाती है तब वह छोड़ दिया जाता है।

हमारे बहुत से मित्र कहेंगे कि अभियोगी भी तो बहुधा पाप करते हैं और उनको दंड भी दिया जाता है तुम किस तरह कहते हो कि अभियोगी पाप नहीं करते, इसका उत्तर यह है कि गवर्नमेंट के दंडसे अज्ञानी होने के कारण और अल्पशक्ति होने से विपरीत फल होसकता है क्यों कि वह करने वाली मुख्य शक्ति पर अधिकार नहीं कर सकी।

प्यारे पाठकगण! जितने मनुष्य हैं यह कर्तव्य योनि और जानवर भोग योनि है और मनुष्य की करने की शक्ति बुद्धि और मन को स्वतंत्र रक्खा गया है और पशुओं के मन और बुद्धि को रोक दिया गया है मनुष्य अपने कर्मों का उत्तर दाता है और पशु बिलकुल उत्तर दाता नहीं, उनके कर्मोंके हानि लाभका भार ईश्वरीय नियमका है क्यों कि कर्तव्य योनि के ये अर्थ हैं कि जो अपनी आवश्यकता को उत्पन्न करने का ज्ञान रखती हों और उसके पास साधन अर्थात् द्वार भी उपस्थित हो, और भोग योनि के ये अर्थ हैं कि केवल नियत काम तो किया करें अपनी इच्छा से अपनी आवश्यकता के पैदा करने का ज्ञान न रक्खे और उसके करने का साधन भी उपस्थित न हो चूंकि संपूर्ण पशु जिनके उत्पन्न करने की शक्ति को प्रकृति ने रोक दिया है और अपनी भावी आवश्यकता के उत्पन्न करने में असमर्थ हैं और मनुष्य अपनी आवश्यकता से आज बीज बोकर दस वर्ष पश्चात् काटने की आशा रखता है इससे स्पष्ट विदित है कि मनुष्य कर्तव्य योनि और पशु भोग योनि है—

प्यारे पाठकगण! हमने ऊपर लिखे प्रमाणों का द्वारा जो इस पुस्तक

में दिये गये हैं आप को दिखला दिया कि वैदिक शिक्षा ही है कि जिस के होने से मनुष्य जाति के सम्पूर्ण झगड़े समाप्त हो सकते हैं और यह वैदिक शिक्षा ही है कि जिसकी विद्यमानता में सब संसार में एक ही धर्म उपस्थित था, जिस शिक्षा से महाराजा हरिश्चंद्र जैसे सत्यवादी और प्रतिज्ञा के पालन करने वाले महात्मा पैदा हुए थे कि जिन्हों ने सत्य के सामने राज्य को तुच्छ समझा स्त्री को बेच देना अंगीकार किया पुत्र को भी बेच दिया, स्वयं भी एक नीच के हाथ बिक गये, परन्तु क्या मजाल कि वचन में अन्तर आजावे जिसका वर्णन एक कवि करता है।

चन्द्र टरें सूरज टरे, टरै जगत ब्योहार।
सत्य वचन हरिचंद्र को, कोई न टारन हार॥

जिस वैदिक शिक्षा ने महाराजा रामचंद्र को इस योग्य बना दिया कि उन्होंने राज्य और सुख को धर्म के सामने तुच्छ समझा जिस राज्य के लिये दूसरे धर्मों के लोग, बाप को बंधन में डालने को संनद्ध और भाईयों का हनन स्वीकार करते हैं उस को वैदिक धर्म के मानने वाले वीरने ऐसा तुच्छ समझा कि पिता की आज्ञा होते ही छोड़ने को तत्पर होगये, जहां और मतों के लोग राज्य के सामने भाईयों को तुच्छ समझते हैं वहाँ वैदिक धर्म के मानने वाले भाई पर दूसरे भाई लाखों राज्य न्योछावर करने को संनद्ध हैं।

प्यारे पाठकगण ! वैदिक धर्म ही था कि एक अरब छिआनवें करोड़ वरस तक चला गया नहीं तो संसार के मतान्तर तो थोड़े दिनों में बदल जाते हैं, आज १३०० वरस के अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ कि इसलाम आरम्भ हुआ जिसकी ७२ से अधिक शाखायें दृष्टि आती हैं, एक दूसरे को झूठा वतला रहा है शीया सुन्नियों के विरुद्ध और सुनी शीयाओं को झगड़ालू वतला रहे हैं ईसाई मत भी दो हजार वरस तक ठीक तौर पर स्थित न रह सका यद्यपि प्रत्यक्ष रीति पर इसाई मत संसार में एक वड़ी शक्ति का समुदाय है परन्तु वह सव प्रकृति पूजक होगये हैं इन में धार्मिक प्रेम नाम मात्र है॥

हमारे वहुत से मित्र कहेंगे की ईसाई लोग अपने धर्म के ऐसे पक्के

हैं कि जान देकर दूसरे देशों में अपना धर्म फैला रहे हैं परन्तु ऐसे बहुत थोड़े मनुष्य हैं अधिकतर लोग नास्तिक और पोलटिकील (राजनैतिक) विचार के हैं और दैशिक पालिसी [विचार] के कारण पादरियों को बराबर सहायता दिये जाते हैं परन्तु उनका निज ढंग और कर्तव्य मसीही शिक्षा से नितान्त विरुद्ध है मसीह का यह विचार है कि सुई के छेद में से ऊंट का निकल जाना सहज है लेकिन एक दौलतमन्द का ईश्वर की बादशाहत में आना बहुत कठिन है यहाँ, इस समय अमरीका और यूरोप की कुलजातियाँ, इन धार्म्मिक नियमों को जो संसार में सब से आवश्यक है, उत्तर दे चुकी हैं इस के अतिरिक्त ईसाई धर्म की पुस्तकें नित्य बदली जा रही हैं, ईसाई धर्म भी अनगिनत शाखाओं में विभक्त होगया है यही दशा यहूदी और पारसी धर्म्म की है वह भी आज नाममात्र हैं।

प्यारे पाठकगण ! संसार में जितने मानुषीमत मनुष्यों के नाम से जारी हैं वह कभी भी मनुष्य की आत्मा को पूरी शान्ति नहीं दे सकते और जब तक मनुष्य जाति में पूरे तौर पर ईश्वरीय ज्ञान के अनुसार धार्मिक शिक्षा न हो तब तक मनुष्य जाति में शांति का आना असम्भव है और जब तक मनुष्य जाति में शांति न आवे तब तक आपस में प्रेम का बढ़ना और फूट का नाश होना असम्भव है क्योंकि मानुषी शिक्षा से स्वार्थ की जड़ नहीं उखड़ सकती और जब तक संसार में स्वार्थ की जड़ विद्यमानहै तब तक सचाई का बर्ताव कहाँ। और जब तक सचाई से बर्ताव न हो तब तक आपस का विश्वास कहां और जब तक आपस में विश्वास न हो तब तक प्रेम कहां ? और जब तक संसार में प्रेम न हो तब तक सुख कहां ?

प्यारे पाठकगण ! संसार में रात के समय बहुत से दीपक जलते हैं परन्तु दीपकों का प्रकाश रात की आने वाली त्रुटियों को दूर नहीं कर सकता जैसे शेर और भेड़िये कब घूमते हैं, रात में चोर और डाकू कब घूमते हैं, रात में, बदमाश कब बदमाशी के लिये निकलते हैं, रात में, यहां तक पता लगता है रात का समय बहुत से दीपकों के प्रकाश के होते हुए भी संसार में बुराई का द्वार होता है इसका कारण यह है कि

दीपक के प्रकाश में बैठने वाला मनुष्य अपने घर में तो प्रकाश देखता है परन्तु बाहर अंधेरा पाता है, ऐसे ही ईसाई मत के आदमी अपने आप को 'बहिश्ती' समझते हैं औरों को 'दोज़खी' पस यहां से एक दूसरे को घृणा करने लग जाता है और जब घृणा पैदा होगई तो उसके नाश करने का उपाय करना पड़ता है, जिससे संसार में अंधेरा फैल रहा है, इस लिए आप जानते हैं कि जब तक सूर्य न उदय होगा तब तक इन रोगों की कोई चिकित्सा नहीं हो सकती बहुधा मनुष्य दूसरों के दीपक बुझाने का प्रयत्न करते हैं जिसका फल यह होता है कि आपसमें लड़ाई आरम्भ होजाती है, और जिसके घर का दीपक बुझाया गया और सूर्य भी न निकला तो उसके घर में अंधेरा होजाता है इसी तरह से बहुत से औरों के मतों का खंडन करते हैं जिससे उस मत के लोगों से लड़ाई होती है और उस ओर के लोग अपने नियमों से तो गिर जाते हैं और वैदिकधर्म के प्रचार न होने से इस ओर आ नहीं सकते जिससे बड़ा अंधकार अर्थात् नास्तिकता फैलती जाती है आर्यसमाज के खण्डन वाली तर्कनाओं ने जहां शंकाओं के दूर करने में बड़ी भारी कृतज्ञता देश पर की है वहां पर मंडन के न होने से नास्तिकता को फैलाकर बहुत हानि भी पहुंचाई है।

प्यारे पाठकगण ! आपका और हमारा कर्त्तव्य है कि हम किसी मत का अधिकतर खण्डन न करके धर्म के नियमों को जनता में फैलाने का प्रयत्न करें जिससे सर्वसाधारण में नास्तिकता न फैले, और लोगों को संसार के धर्मों में वैदिकधर्म की तुलना करने का अवसर मिल जावे और वह संसार में आत्मिक शांति के अधिकारी होजावें जब तक वैदिक धर्म की शिक्षा पूरे तौर से नहीं फैल जाती, तब तक मतमतान्तरीय खण्डनों से हानि अधिक होगी और लाभ कम होगा। इसलिए हम सब आर्यभाइयों से प्रार्थना करते हैं कि वह वैदिकधर्म के प्रचार के लिये प्रयत्न करें और जहां तक बन सके वेद प्रचारनिधि को दृढ़ करके देश में लेख द्वारा व्याख्यानद्वारा वैदिक धर्म का प्रचार करें इस प्रचार के लिये मनुष्य बनाने का प्रयत्न करें यदि कुछ मनुष्य इस योग्य पैदा हो सकें जो दूसरे देशों में जाकर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा स्थापन करें तो भारतवर्ष को बहुत ही लाभ हो।

हमारे बहुत से मित्र राजनैतिक विषयों में यूरुप की जातियों से तुलना करना चाहते हैं परन्तु यह बात असम्भव है कि जिन यूरोपियों से इन विचारों की अधूरी शिक्षा ली उस शिक्षा से हम उनकी तुलना कर सके क्योंकि इसमें वह हमारे गुरु हैं परन्तु क्यों न हम आत्मिक शिक्षा की तलवार को लेकर संसार की बराबरी के लिये खड़े हो जावें क्योंकि आत्मिक शिक्षा आर्यावर्त की विशेष सम्पत्ति है और इसी देश से उसकी उत्पत्ति है और अब भी इसका सामान हमारे पास उन जातियों से लाखों गुना अधिक है इस लिये हम उनसे बढ़ सकते हैं। क्या जो प्रतिष्ठा स्वामी विवेकानन्द की अमरीका में हुई क्या ऐसी प्रतिष्ठा बाबू सुरेन्द्रनाथ की इङ्गलिस्तान में हो सकती है। कभी नहीं, इसका कारण यह है कि राजनैतिक शिक्षा जो उनसे भीख में मिली है उसको हम उनके सामने लेजाकर कब प्रतिष्ठा पा सकते हैं, परन्तु आत्मिक विचार हम उन को दे सकते हैं इस में वह हमारे हाथों की ओर देखने वाले हैं ये हमको अवश्य संसार में प्रतिष्ठा दिला सकते हैं, क्या हानि है यदि संसार की सब जातियां क्षत्रिय और वैश्योंका काम करे अर्थात् शासन और वाणिज्य उनके हाथ में रहे, और आर्यावर्त ब्रह्मण वर्ण का काम दे अर्थात् सबका गुरु हो जावे ॥

हमारे बहुत से मित्र कहेंगे कि दूसरे लोगों के राज्य में क्लेश होता है परन्तु उन्हें विचारना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य तो राजा बन नहीं सकता, इसलिये प्रत्येक को दूसरे के राज्य में रहना पड़ेगा, परन्तु जो लोग गुरू होते हैं उनकी प्रतिष्ठा राजा से कुछ कम नहीं होती और राजा का प्रभाव अपने सेवकों के हृदयों पर इतना नहीं हो सकता कि जितना गुरू का अपने चेलों के हृदय पर हो सकता है क्योंकि जब तक मनुष्य की बुद्धि किसी वस्तु के हेतु को ठीक प्रकार ज्ञात न करले तब तक उस पर अमल नहीं हो सकता और जब तक अमल न हो तब तक फल नहीं मिल सकता और प्रत्येक पदार्थ का सच्चा ज्ञान सिवाय वैदिक धर्म के किसी मत में नहीं क्योंकि प्रत्येक मत बुद्धिबल से निकृष्ट साबित हो चुका है इस लिये उन मतों के संचालकों ने मत में बुद्धि का प्रवेश ठीक नहीं माना जिस प्रकार से हर एक दीपक को वायु से डर

होता है उसी प्रकार हर एक मत को बुद्धि तथा युक्ति से घबराहट है परन्तु वैदिक धर्म बुद्धि से बिलकुल नहीं घबराता । जिस तरह प्रकाश और आंख दो वस्तुओं के होने से ज्ञान होता है न तो अकेली आंख से काम चलता है और न अकेले प्रकाश से ही काम हो सकता है । संसार के हर एक मत में एक ही वस्तु है कहीं तो बुध्दि नहीं है, कहीं ईश्वरीय विद्या नहीं है, मुसलमान, ईसाई, हिन्दू, यहूदी, इत्यादि तो मत में बुध्दि का प्रवेश ही नहीं मानते और जैनी बौध्द मत और ब्रह्म समाज वाले ईश्वरीय विद्या से नकार करते हैं अर्थात् यह मानवी दीपक वायु से घबराने वाले और अपूर्ण हैं जिनसे मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिल सकती इसलिये हरेक आदमी का फ़र्ज़ है कि संसार के झगड़ों को मिटा कर शांति देने वाले वैदिक धर्म का प्रचार करके अपनी और संसार की उन्नति करें और संसार में सुख पूर्वक दिन व्यतीत करके मोक्ष मार्ग पर चलें । इति शुभम् ॥

❀ वेद का विषय ❀

—o—

यद्यपि आर्य समाज के तीसरे नियम से स्पष्टतया विदित हो जाता है कि वेद का विषय क्या है ? जिसमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है। परन्तु पन्डित भीमसेन जी ने स्वामी दयानन्द जी को छली बताते हुये यह सिध्द किया है कि वेद का मुख्य विषय यज्ञ है और यहा परम धर्म है, यद्यपि स्वामी जी ने वेद का पढ़ना पढ़ाना परम धर्म माना है । कोई अहिंसा को परम धर्म मानते हैं । ऐसी दशा में हम यहां केवल वेद के विषय पर ही विचार करेंगे। हम पंडित भीमसेन जी के अपमान पूर्ण शब्दों को, जिनमें कि उन्हों ने स्वयं अपने हो को आर्यसमाज में सबसे बड़ा पंडित एवम् स्वामी जी भूलों को निकालने वाला माना है, मुण्डकोपनिषद्ह के इस वाक्य पर छोड़ते हैं:—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ॥
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥

अर्थ— अविद्या में रहते हुये अपने आप को धीर पंडित मानते हुये

मूर्ख लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार अन्धे के पीछे चलकर अन्धा कुएं में गिरता है।

अविद्यायांबहुधावर्तमाना वयंकृतार्थाइत्यभिमन्यन्तिबालाः यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्तिरागात्तेनातु राःक्षीणलोकाश्च्यवन्ते।

अर्थ—"अविद्या में रहते हुये 'हम उद्देश्य पर पहुंच गये हैं' ऐसा बालक अर्थात् अज्ञानी लड़के मानते हैं। क्योंकि जो कर्म करनें वाले ज्ञान को प्राप्त नहीं करते वह कर्म के राग में दुःखी होकर नीच योनि को प्राप्त होते हैं। वेद विषय के संबन्ध में लिखते हैं:—

तस्मै सहोवाचद्वेविद्येवेदितव्ये इतिहस्मयद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चवापराच ॥ मु० खं० १। ४

अर्थ—ब्रह्मज्ञानी कहते हैं अर्थात् वेद के जानने वाले बताते हैं कि हमारे जानने के योग्य दो विद्या हैं, एक परा दूसरी अपरा। अर्थात् एक प्रकृति और जीव का ज्ञान, दूसरी ब्रह्म विद्या।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा-यथा तदक्षरमधिगम्यते ॥ मु० खं० १। ५

अर्थ—"उनमें से अपरा विद्या इनमें हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। और परा विद्या वह है जिससे उस परमात्मा का ज्ञान होता है।"

इस उपनिषद् वाक्य से स्पष्ट विदित होता है कि अपरा विद्या अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका ज्ञान और इससेकाम लेनेकी विद्यावेदों में है। इसके अतिरिक्त ऋषियों ने बतलाया है कि ऋक् का अर्थ स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुणों का यथार्थ वर्ण करना है। इसी कारण ऋग्वेद में पदार्थों के गुण कर्म्म स्वभाव का वर्णन किया गया है। जैसा कि ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही अग्नि का लक्षण बतलाया गया है। यजुर्वेद में यजुः शब्द का अर्थ है जिससे यजन किया जावे। यज धातु का देवपूजा, संगतिकरण और दान के अर्थ में प्रयोग होता है। जिस वेद में अमिश्रित

पदार्थों को मिश्रित करने और देवताओं की पूजा अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञ और दान करने की विधि का वर्णन हो उसे यजु कहते हैं। और साम यज्ञों के फल का वर्णन तथा गायन का ज्ञान कराता है। और अथर्ववेद से उन यज्ञों में जिनका उन कार्य्य में प्रयोग होता है रक्षा की जाती है। और वेदों के देखने से भी विदित होता है कि वेद में केवल यज्ञों की विधि ही नहीं किन्तु प्रत्येक विद्या का मूल विद्यमान है और यजुर्वेद का ४० वां, अध्याय ब्रह्मविद्या संबंधी माना ही जाता है। इसी कारण उस का नाम ईशोपनिषद्व रखकर उपनिषदों में उसे मिला दिया गया है। पुरुष सूक्त में विराट् और सृष्टि की उत्पत्ति की विद्या भरी हुई है। "द्वे सृती" इत्यादि मंत्रों में पुनर्जन्म का विचार स्पष्टतया पाया जाता है। (संगच्छध्वम्) इत्यादि मंत्रों में "समाज से मिलकर रहने की विद्या पाई ही जाती है। (ब्राह्मणोस्य०) इस मन्त्र में वर्णों का विभाग दिखलाई देता है। इसी प्रकार प्रायः सभी मन्त्र विद्याओं से भरे पड़े हैं यज्ञ विद्या के संबंध में भी बहुत से मन्त्र हैं, पण्डित भीमसेन जी का यह लिखना कि स्वामी दयानन्द जी ने अंग्रेजी पढ़े लिखों को खेंचने के निमित्त वेद में सब विद्याओं का होना लिख दिया है उन के अपने हृदय के दुर्भाव को प्रकट करना है। जिस प्रकार वह अपने हृदय को सांसारिक इच्छाओं से भरपूर पाते हैं, जिसके कारण कि बेवहुधा अपने आत्मा के विरुद्ध करनेको प्रस्तुत होजाते हैं। जैसा कि उन के लेख से प्रकट होता है। एक स्थान पर तो वह बल पूर्वक लिखते हैं कि यदि सब आर्य्य समाजी प्रयत्न करें तो भी वह श्राद्ध को वेद विरुद्ध सिद्ध न कर सकेंगे। मानो उनके विचार में श्राद्ध एक अटल वैदिक सिद्धान्त है।

दूसरे स्थान पर वह यह लिखते हैं कि आर्य्य समाजों की प्रतिनिधियां लिखदें कि श्राद्ध में मेष महिषी और पशुहिंसा को छोड़कर शेष यज्ञ विधि जो ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में लिखी है उसको हम सत्य मानते हैं तो हम इन तीन विषयों को साध्यकोटि में छोड़ देंगे। क्या इस अटल सिद्धान्त को साध्यकोटि का समझने में आप अपने आत्मा का हनन नहीं करेंगे। पंडित जी! यदि आप श्राद्ध आदि को अटल सिद्धान्त समझते हैं तो उसे किसीके कहने से साध्यकोटि में डाल देना आपकी निर्बलता है, जोकि बतला रहीहै

कि आप को निश्चयात्मक ज्ञान नहीं। आज तक आपने जितने लेख लिखे हैं उनसे भी विदित होता है कि आपको किस विषय का ज्ञान यथार्थ नहीं हुआ। यदि आपको आर्य्य सिद्धान्त का ज्ञान होता तो कदापि ऐसे गोल मोल लिखने को उत्तम न समझते। जैसा आप श्राद्ध के संबंध में बल पूर्वक लिखते हैं क्या आपको शास्त्रों, वेदों और ब्राह्मणों का ज्ञान है। जिस के कारण आप स्वामी दयानन्द की भूलें ढूंढने चले हैं। यह तो आपको भ्रांति है। आपको विद्वान् होने का प्रमाण पत्र किसने दिया? क्या आपने काशी में जाकर किसी गुरु से दर्शन पढ़े हैं? क्या आपने काशी में किसी शास्त्री से शास्त्रार्थ करके विजय पाई? क्या आपने किसी गुरु से दर्शन के सिद्धान्तों पर विचार किया है। इस का उत्तर सिवाय नकार के आप के पास है ही क्या? आप केवल अष्टाध्यायी और कुछ भाग महाभाष्य व्याकरण का जानते हैं। आप महर्षि स्वामी दयानन्द की पुस्तकों के लिखने पर नौकर रहे। इस कारण आप की लेख प्रणाली उत्तम हो गई। और इसी से आपकी समाजों में प्रतिष्ठा होने लगी। जिसे आप सम्भाल न सके। अब आप को गुरु और आचार्य्य बननेकी सूझी? आपका यह दावा कि सिवाय आपके आर्य्य समाज में किसी ने वेद शास्त्रों को विचारा ही नहीं सर्वथा निर्मूल है और यदि यथासम्भव हम इसे सत्य भी मानलें तो क्या वेद ऐसी गाथाओंकी पुस्तक हैं कि जिसे विना दर्शन आदि लौकिक शास्त्रों के अध्ययन किये ही केवल थोड़ा सा व्याकरण पढ़कर मनुष्य समझ लेवे। महाशय जी! व्याकरण से केवल शब्दार्थ का ज्ञान हो सकता है। आन्तरिक विद्या से तनिकभी विज्ञता नहीं होती। और यदि आप का दावा (कथन) सत्य मान लिया जावे कि आप वेदों और ब्राह्मणों को भले प्रकार जानते हैं तो आपने उपनिषदों का भाष्य करने में छान्दोग्य और बृहदारण्यक का भाष्य क्यों छोड़ दिया। पहिले आठों का भाष्य करके फिर श्वेताश्वतर का जाकिया और इसमें भी बहुत सी अशुद्धियां हैं। यदि आप यज्ञ विषय को भले प्रकार समझने वाले थे, तो क्यों आपने काशी से रामकृष्ण भट्ट को, जो आपके सिद्धान्त के विरोधी थे, यज्ञ व्यवस्था और पद्धति बनाने के प्रयोजन से बुलाया। इसके अतिरिक्त यदि आपको ब्राह्मणों के जानने का दवा है तो एक वार स्वामी जी की भांति घूम कर दिग्विजय

तो कीजिये। जिस से कि आप की अनभिज्ञता शीघ्र ही प्रगट हो जावे वेदों का मुख्य विषय यज्ञ ही को मानना यह आपकी अनभिज्ञता का पूरा प्रमाण है। क्यों कि कणाद जी ने वैशेषिक दर्शन में स्पष्टतया माना है कि वेदों में धर्म्म का वर्णन है और धर्म्म का लक्षण उन्होंने यह किया है

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः ॥ वै० द० १।१।२

अर्थ—"जिससे अभ्युदय अर्थात् तत्वविज्ञान और निश्रेयस अर्थात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूपी मोक्ष की प्राप्ति हो उसे धर्म्म कहते हैं। यदि इस सूत्र का मध्यमपदलोपी अथवा पञ्चमी तत्पुरुष समास किया जावे तो वास्तविक अर्थ यह होता है कि जो तत्व ज्ञान के द्वारा मक्ष का कारण हो वही धर्म है। इसके आगे के सूत्र में बतलाया गया है कि "तत्व ज्ञान के द्वारा मुक्ति का कथन करने अथवा ईश्वर का उपदेश होने से वेद का प्रमाण समझना उचित है" जिस का आशय यह है कि "ईश्वर के उपदेश वेदसे तत्वज्ञान मिलेगा" महात्मा कणाद जी के विचार में तत्व ज्ञान वेद का विषय है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि तत्व ज्ञान किसका? इस का उत्तर स्पष्ट मिलता है कि प्रकृति' पुरुष और जीवात्मा का। क्योंकि जीव अपने स्वरूपको जान करही अपने इष्ट परमात्मा और अनिष्ट प्रकृतिको जानता है जीवात्माका मुख्य धर्म्म परमात्माको जानना है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है, जैसा कि वेद में कहा है:—

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय
यजुः। ३१। १८।

अर्थ—हम उस सारे जगत् में व्यापक परमात्मा को जानें, जो सूर्य्य की भांति प्रकाश युक्त, अर्थात् ज्ञान स्वरूप है जो अविद्या और अज्ञान से नितान्त रहित है, उसी एक परमात्मा के जानने से मोक्ष होती है, दूसरा कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं। इसी कारण महात्मा कणाद के लक्षण के अनुसार मुक्ति का हेतु जो ईश्वर का ज्ञान है वही मुख्य धर्म है, क्यों कि उससे मुक्ति की प्राप्ति होगी। क्यों कि परमात्मा का जानना अन्तः करण के मल, विक्षेप आवरणदोष होने से बहुत कठिन

है इस लिये वेद ने मलदोष के दूर करने के निमित्त कर्म्म काण्ड और विक्षेप दोष हटाने के निमित्त उपासना और आवरण दोष के दूर करने के निमित्त ज्ञान काण्ड का उपदेश किया। और मूल दोष का दूर होना सब से प्रथम आवश्यक है इसी कारण वेदने कर्म्म काण्ड को प्रथम सोपान बतलाया है, और क्यों कि यज्ञादि कर्म्म काण्ड में ही संमिलित है इस लिये यह कहा कि:-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्॥
यजु: ३१। १६॥

अर्थ-"यज्ञ जो विष्णु परमात्मा है उसको विद्वानों ने यज्ञ के द्वारा पूजा, इसी कारण यज्ञ पहिला धर्म है।" यहां प्रथम का अर्थ मुख्य नहीं किन्तु पहिला है। क्योंकि मुख्य धर्म त्याग के योग्य नहीं होता और कर्मकाण्ड को त्याज्य बताया है जोकि चतुर्थाश्रम में त्यागना ही पड़ता है। मुख्य धर्म्म ईश्वर का ज्ञान है और यज्ञादि उस के साधन हैं। साधनों को मुख्य धर्म्म मानना स्पष्ट भूल है। अब लीजिए मीमांसा के सूत्रों का अर्थ--

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः॥ मी० १।२।३।

अर्थ-"जिसमें वेदों की प्रेरणा हो वही धर्म्म है" यह लक्षण धर्म्म का मीमांसाकार महात्मा जैमिनि जी कहते हैं। वेदों की प्रेरणा किस में? कर्म्म, उपासना और ज्ञान में, यदि वेदों की प्रेरणा अकेले कर्म्मकाण्ड में होती तब तो यह सूत्र आपकी अर्थसिद्धि कर सकता। ऐसा कोई भी आर्य्य नहीं जो वेद को स्वतः प्रमाण न मानता हो। यदि कभी आर्य्य लोग सृष्टिक्रम आदि में मिलाते हैं तो वेदार्थ को मिलाते हैं, वेदार्थ में शंका करने वाले को आप वेद में शङ्का करने वाला नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द प्रमाण में मूलवेद स्वतः प्रमाण लिया जाता है वेदार्थ स्वतः प्रमाण नहीं लिया जाता, सम्भव है कि अर्थ करने वाले ने भूल की हो। अतः ब्राह्मणग्रंथ वा श्वेताश्वतर आदिक वेद नहीं उनमें तर्क करने वाले नास्तिक नहीं हो सकते। जो वेद के स्वतः प्रमाण होने में शङ्का करे वह आस्तिक स्थान से पतित हो सकता है, यदि ब्राह्मण वाक्यों में जो यज्ञ विधि आदिक लिखी है उसको न मानने में कोई

नास्तिक हो सकता है तो ब्राह्मण में लिखे हुए पशु वध को न मानने से आपकी भी नास्तिक कोटि में गणना होगी। एक ओर तो आप शब्द प्रमाण में प्रत्यक्ष आदि के अड़गे लगाने वाले को आस्तिक नहीं मानते दूसरी ओर आपने प्रत्यक्ष हिंसा दोष के होने से पशु वध को वेदविरुद्ध सिद्ध न होने पर भी छोड़ दिया। वा यों कहिये कि ब्राह्मण वाक्य को वेद विरुद्ध सिद्ध न होने पर भी छोड़ दिया।

जबकि ब्राह्मण और कपिल आदि के वाक्य में विरोध होने से आपने कपिल आदिक को पूर्ण वेदानुयायी माना, तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्ता पूर्ण वेदानुयायी नहीं थे? जो उन्होंने वेद के विरुद्ध हिंसा इत्यादि लिखदीं वेद के विरुद्ध बातें जो ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखी हैं वह इन चार अवस्था के अतिरिक्त नहीं हो सकती। (१) ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्ता वेदों के मानने वाले न हों इस कारण उन्होंने वेदों के विरुद्ध लिख दिया, (२) वह वेदों के ज्ञाता ही नहीं थे अतः भूल से वेद के अर्थ के विरुद्ध लिख दिया। अब यदि वे वेदों के मानने वाले नहीं तब तो वह नास्तिक ठहरे। और नास्तिक का अनुयायी भी नास्तिक होता है और यदि वे वेदों के जानने वाले नहीं तो वह स्वयं भ्रान्ति में थे और भ्रान्त का अनुयायी भी भ्रान्त होता है। (३) ब्राह्मण ग्रंथों में कुछ मिलावट हुई ऐसी दशा में वेद के अनुसार वाक्यों को मिलावट करने वाले के विरुद्ध होना आपने सिद्ध नहीं किया और इसलिये मिलावटी कह ही नहीं सकते। (४) यह वाक्य वेदानुकूल न हों, ऐसी दशा में आपका पशु हिंसा को यज्ञ में छोड़ देना क्या ब्राह्मणों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं है? किन्तु उनकी आज्ञा को प्रत्यक्ष हिंसा देखकर भंग करना है, जिसको कि आप नास्तिक का काम मानते हैं। जब आपने कपिल आदि की सम्मति को ब्राह्मण कर्ताओं की सम्मति से प्रबल माना। अर्थात् यज्ञ में पशुहिंसा (न करने) को कपिल आदि के मतानुसार प्रमाण माना, और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्रमाण न माना, और इसमें अपनी बुद्धि को ही न्यायकर्ता ठहराया, क्या कोई ऐसा प्रमाण भी है कि जहाँ कपिल आदि के शास्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में विरोध हो, वहां ब्राह्मण ग्रन्थ अप्रमाण हैं, यदि आप कहें कि हम ने अपनी बुद्धि से ऐसा किया तो आपकी बुद्धि ही स्वतः प्रमाण हुई। जिसने कि

ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य को वेद विरुद्ध न होने पर भी त्याज्य समझा, जिससे आपकी बुध्दि ने पशुहिंसा के अवसर पर ब्राह्मण को अप्रमाण ठहराया, उसी बुद्धि ने श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण को प्रमाण ठहराया। जिस बुद्धि में ब्राह्मणों के संबंध में यह दो सम्मति हैं उसके प्रमाण होने का विश्वास किसी विद्वान् को तो हो नहीं सकता। कृपया अपने अनुभव को विचारिये तो आपको स्वयं ज्ञान होजावेगा इस अनिश्चयात्मक बुद्धि के कारण आप नास्तिक कोटि में पहुंच गये हैं या नहीं ? यद्यपि आपने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेद का विषय यज्ञ है तथापि उसके सिद्ध करने में जो प्रमाण आपने दिये हैं, वह निर्मूल हैं। यज्ञ, धर्म्म के दस लक्षणों में से "शौच" के अन्तर्गत आजाता है, क्योंकि इसका आशय मल दोष को दूर करना है। आप जो स्वर्ग सुख मानते हैं वह विषय भोग से रहित है अथवा विषय भोग की ही कोई अवस्था विशेष हैं ? क्योंकि यह तो आपने लिखा है कि स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ करें, परतु पौराणिक लोग स्वर्ग एक देश विशेष को मानते हैं जिसकी राजधानी अमरपुरी है। यदि आरोग्यता को सुख माना जावे तो भी वह दृष्ट सुख है। यदि स्वर्ग कोई देश माना जावे जिसमें पहुंच कर कि हमें सुख मिलेगा तो वह भी दृष्ट सुख है जैसे लन्डन यद्यपि भारतवर्ष में रहने वालों को अदृष्ट प्रतीत होता है, परन्तु वहां चल कर देखने से इन्द्रियों का विषय होने के कारण दृष्ट है अर्थात् हम उसे देख सकते हैं। जहां तक शास्त्रों का आन्दोलन करोगे मोक्ष सुख के अतिरिक्त और सब सुख दृष्ट ही हैं, और उनका सुख भी अनित्य अर्थात् एक सम रहने वाला नहीं। इसी कारण कणाद जी ने धर्म उसको माना जिस में मोक्ष हो जावे। और कपिल के मतानुसार यज्ञ मुक्ति का दाता नहीं।

(देखो सांख्य दर्शन विज्ञान भिक्षु कृत भाष्य अध्या १ सू० ६)

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। (कारिक)

(गुरोरनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः तद्विहितयागादिरानुश्रविकः)

अर्थ—"जो गुरू से परम्परा से सुना ही जावे वेद है, उस में बतलाये हुये कर्म्म यज्ञादि हैं, इससे भी मनुष्य को दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति प्राप्त नहीं होती।"

"नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वे नाऽऽवृत्तियोगाद् पुरुषार्थत्वम् गुरोरनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तत्र विहित-मानुश्रविकं यागादि कर्म ततोपि न पूर्वोक्त पुमर्थसिद्धिः।

विज्ञान भिक्षु आपने भाष्य में लिखते हैं:—

अपिशब्देन नहष्टात् तत्सिद्धिरितिप्रागुक्तदृष्टसमुच्चयः गुरोरनुश्रूयत इत्यनुश्रवोवेदस्तद्विहितो यागादि रानुश्रविकं कर्मतस्मादपि न पर्वोक्तिपुरु पार्थसिद्धिः।"

जब कि कपिल जी के सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से मुक्ति नहीं होती और कणाद जी के सिद्धान्तानुसार धर्म्म वह है जो मुक्ति का कारणहो। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यज्ञ धर्म नहीं किन्तु कार्य्य कर्म्म है अर्थात् सांसारिक इच्छा जन्य, पुत्र आरोग्यता आदि का कारण है हम आप की बात को मानें कि 'यज्ञ धर्म्म है, अथवा कणाद और कपिल की बात को मानें कि यज्ञ धर्म्म नहीं, किन्तु मलदोष दूर करने का एक साधन है जैसा कि सांख्यकार महात्मा कपिल ने कहा है। देखो सांख्य दर्शन अध्याय २ सूत्र ३५।

"स्ववर्ण स्वाश्रम विहित कर्मानुष्ठानम्" ॥

अर्थः—अपने वर्ण और आपने आश्रम के अनुकूल कर्म करने में रुचि स्थिर होती है। विज्ञान भिक्षु तो यहां कर्म्म से 'यम नियम कोलेता है और यज्ञादि को नितान्त उड़ा देता है। परन्तु वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और गृहस्थादि आश्रमों के लिये पञ्च यज्ञ का विधान है, अतः वर्णाश्रम के कर्म में यज्ञ ही समझना चाहिये। धर्म्म का जो लक्षण कणाद और जैमिनि ने किया है वह दोनों एक ही हैं। क्योंकि कणाद के मता-नुसार जो मोक्ष का कारण हो वह धर्म्म है और वह तत्वज्ञान रूप वेद में है, सुतरम् वेद के अनुसार जो मुक्ति का कारण हो वह धर्म्म है। और जैमिन भी यही कहते हैं कि जिसमें वेदों की प्रेरणा हो वही धर्म्म है। वेदों की प्रेरणा मुक्ति के लिये ईश्वर के जानने में है इस कारण ईश्वर का जाना ही मुख्य धर्म्म है, और "धृति" आदि जो मनु ने वर्णन किये हैं यह दस लक्षण उपधर्म्म के हैं इन में शौच एक लक्षण

है जिसके लिये महात्मा मनु कहते हैं।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

अर्थात् जल शरीर से शुद्ध होता है, सत्य बोलने तथा सत्याचरण करने से मन शुद्ध होता है, परन्तु शुद्धि के लिये ही कर्मकाण्ड की विधि है, इस पर सम्पूर्ण विद्वान् सहमत हैं, और यज्ञ कर्मकाँड में हैं अतः यज्ञ शौच के अन्तर्गत आजाता है। और यह भी निष्काम भाव से किया जाना चाहिये। यदि पुत्रादिक की कामना से किया जावे तो वह धर्म की गणना में भी नहीं आ सकता। क्योंकि जिस प्रकार प्यास के कारण जल पीना धर्म्म नहीं है इसी प्रकार पुत्रादि की कामना से यज्ञ करना धर्म नहीं। अतः वेद का विषय कर्म उपासना, ज्ञान, या अपरा और परा विद्या है।

इति।

"वैदिक धर्म सब मतों की उत्तमताओं का केन्द्र है"

आज कल आर्यसमाज का सामना 'कुरान, किरानी, पुराणी और जैनी इत्यादि सभी मतों से हो रहा है। परन्तु ये लोग अपनी संख्या की अधिकता के रखते भी तथा जी तोड़ प्रयत्न करने पर भी पृथक् २ और कभी २ मिलकर भी सफलता को प्राप्त नहीं होते क्या आर्यसमाज में विद्वान् अधिक हैं! कदापि नहीं। क्या आर्यसमाज के पास सांसारिक पदार्थों की सहायता विशेष है? कभी नहीं। क्या आर्यों में बुद्धि अधिक है? कभी नहीं। तब क्या कारण है कि आर्यों की मुट्ठी भर संख्या समस्त मतों के हौंसले गिरा रही है सब की जड़ों को खोखला कर रही है। इसका उत्तर यह है कि संसार में जितने प्रकाश हैं वह दो प्रकार के हैं। एक तो परमात्मा के प्रदान किये हुए प्राकृतिक दूसरे मनुष्यकृत, प्राकृतिक प्रकाश सूर्य है और मनुष्यकृत प्रकाश दीपक, लेन्टर्न, लैम्प, विद्युत् तथा गैस आदिक हैं। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि आपने चन्द्र तथा तारागणों के प्रकाश की गणना प्राकृतिक प्रकाश में क्यों नहीं की? इस का उत्तर यह है कि चन्द्रमा और तारागण स्वयं प्रकाशमान नहीं, किन्तु

सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अब सूर्य तो किसी प्रकार से भी मनुष्य-कृत प्रकाश की सहायता नहीं चाहता, और नाहीं किसी मनुष्य द्वारा रचा गया है। परन्तु मनुष्यकृत जितने भी प्रकाश के पदार्थ हैं उनके वर्तन मनुष्य के बनाये हुए हैं, अर्थात् दीपक लैन्टर्न तथा तेल बत्ती इत्यादि परन्तु अन्य जो प्रकाश है वह मनुष्यकृत नहीं किन्तु सूर्य की किरणों से प्रकाश प्राप्त करते हैं। बहुधा मनुष्य समझते हैं कि अग्नि अथवा प्रकाश रगड़ने से उत्पन्न होता है। परन्तु वास्तव में कोई द्रव्य नहीं यह बड़ी भारी भूल है। क्योंकि उष्णता तथा प्रकाश आदि गुण हैं जिनका गुणी अग्नि है। अग्नि के बिना उष्णता और प्रकाश किस गुणी के गुण होंगे? और जोलोग अग्नि और उष्णता को एक समझते हैं वह और भी अधिक भूलते हैं। कोई २ मनुष्य कहते हैं कि 'अग्नि कभी बिना दूसरे पदार्थ के प्रकट नहीं होती अतः वह द्रव्य नहीं किन्तु गुण है'। परन्तु यह विचार सत्य नहीं। क्योंकि यदि जल बिना पात्र के न रहे तो उसके द्रव्य होने में कोई संदेह नहीं होसकता। रहने के लिये किसी पात्र अथवा स्थान का होना द्रव्य के लिये भी आवश्यक है। यदि पृथ्वी को सूर्य की आकर्षण शक्ति न खींचे हुए हो तो पृथिवी का ठहरना भी कठिन है। तो क्या ऐसी अवस्था में पृथ्वी द्रव्य न रहेगी? गुण हो जावेगी! कदापि नहीं। अग्नि गुणी है और उष्णता तथा प्रकाश उसके गुण हैं। संसार में जितनी अग्नि है सब सूर्य के प्रकाश से फैली है। यह विस्तार बहुत लम्बा है और इस छोटी सी पुस्तक में इसका पूर्णतया वर्णन करना दुस्तर है। सुतराम थोड़ासा ही निवेदन किया गया है। जैसे सांसारिक अथवा बाह्य प्रकाश दो प्रकार के हैं ऐसे ही आन्तरिक अथवा आत्मिक प्रकाश अर्थात् विद्या अथवा ज्ञान भी दो प्रकार का है एक ईश्वरीय ज्ञान, दूसरी मनुष्यकृत पुस्तकें इनमें से बहुत सी तो ऐसी होती हैं कि उनमें सिद्धान्त तो ईश्वरीय ज्ञान से लेते हैं और शेष आवश्यक तथा देश की अवस्था के अनुसार कल्पना करके समाज के लिये नियम बन जाते हैं। बहुत सी ऐसी होती हैं कि केवल प्राचीन कथाओं का वर्णन करती है। बहुतसी ऐसी होती हैं कि ईश्वरीय ज्ञान को लक्ष्य वस्तु मानकर उसके किसी उत्तम सिद्धान्त की व्याख्या तथा दर्शन के

रूप में दिखाई देती है। बहुतसी ऐसी कि जो कुछ सत्य बातें ईश्वरीय ज्ञान में से लेकर शेष अपनी वासनाओं की पूर्ति के साधन मिलाकर एक धार्मिक पुस्तक का रूप धारण कर लेती हैं। अधिक संख्या धार्मिक पुस्तकों की इसी प्रकार की बनी है। जब हम प्रत्येक मत को विचारपूर्वक देखते हैं तो उसके सिद्धान्त कुछ तो ऐसे मिलते हैं कि जो ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् वेद से लिये हुये हैं। जैनियों में अहिंसा कहां से आई? वैदिक धर्म से। यदि किसी को शंका हो तो वह 'अहिंसास्तेयादि' अथवा 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' यजुर्वेद अध्याय ४० के मंत्र को देखकर अथवा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' को पढ़कर समझ सकता है जिस प्रकार कोई अपने पर दुःख का आना नहीं स्वीकार करता उसी प्रकार दूसरे को। दुःखका देना भी अच्छा समझना उचित नहीं है। परन्तु जैनियों में जो झूंठी बाते हैं वह उनके आचार्यों की मिलाई हुई हैं। उदाहरणार्थ मुक्ति का आदि होना पर अंत न होना। बन्धन का आदि न होकर अन्त होना, इत्यादि और भी बहुत सी ऐसी ही बातें हैं कि जिनके कारण विद्वानों की दृष्टि में जैन मत निर्बल सिद्ध होता है। मुसलमानों में अद्वैत वाद तथा प्रारब्धवाद आदि बहुत सी बातें वेदों से ली गई है। परन्तु मुसलमान विद्वानों को इतना भी पता नहीं कि उसमें किस प्रकारकी अद्वैतता आवश्यक है आया स्वाभाविक, गौणिक अथवा कार्मिक (गुणों की अद्वैतता की व्यवस्थानुसार) अथवा किसी अन्यप्रकार से, क्योंकि यदि ईश्वर को ही अपने रूप में एक माना जावे तो समस्त संसार का उपादान कारण भी ईश्वर ही होगा। परन्तु उपादान कारण के गुणों का उपादेय में होना आवश्यक है। क्योंकि जो आभूषण स्वर्ण के बनते हैं उनमें स्वर्ण के गुण अवश्य पाये जाते हैं पाकज गुणों (वह गुण जो क्रिया से उत्पन्न होते हैं) को छोड़कर कोई गुण ऐसा नहीं जो कारण में हो और कार्य में न हों परमात्मा चेतन और ज्ञानी हैं इसलिये सारा संसार स्वयं ज्ञानवान होना चाहिये परमात्मा आनन्दमय है अतः समस्त संसार आनन्दमय होना चाहिये किसी को भी दुःख न होना चाहिये। परन्तु हम संसार के असंख्य पदार्थों को जिन्हें प्राकृतिक कहा जाता है

ज्ञान रहित पाते हैं करोड़ों ज्ञान वान मनुष्य तथा पशु दुःखी पाये जाते हैं इस कारण प्रत्येक बुद्धिमान् को मानना पड़ता है कि परमेश्वर उनका उपादान कारण नहीं है किन्तु (ज्ञानहित) वस्तुओं का निमित्त कारण है और क्योंकि ज्ञानवान जीव दो ही दशाओं में आ सकते हैं एक यह कि उनको कार्य और ईश्वर को उपादान कारण माना जावे, परन्तु इस दशा में जीव का दुःखी होना असम्भव होगा। दूसरी दशा में जीव को अनादि माना जावे तथा सुख-दुःख उसके नैमित्तिक गुण माने जावें परन्तु इस बात को गौणिक अद्वैतता का सिद्धान्त रोकता है क्योंकि अनादि होने का गुण ईश्वर के साथ जीव में भी आ जाता है। परन्तु गौणिक अद्वैतता का यह अर्थ करना स्पष्ट जड़ता है किन्तु उस का यह अर्थ है कि जितने गुण परमात्मा में हैं उतने गुण किसी दूसरी वस्तु में नहीं। बहुत से लोग प्रश्न करेंगे कि क्या कारण कि गौणिक अद्वैतता का ऐसा अर्थ करना मूर्खता है? परन्तु इसका उत्तर यह है कि ऐसे गुणों वाला अद्वैत ईश्वर है ही नहीं क्योंकि इस समय ईश्वर है इससे किसी को नकार नहीं, जीव है किसी को नकार नहीं और प्रकृति तथा प्राकृतिक शरीर है इसमें भी किसी का संशय नहीं क्योंम हाशय! अस्तित्व का गुण ईश्वर और मनुष्य में मिल गया फिर गुण से अद्वैतता कहाँ रही।

हमारे मुसलमान मित्र इस अवसर पर यह कहते हैं कि परमात्मा का अस्तित्व तो कर्ता की दशा में है और जीव प्रकृति का कर्म की दशा में। इस कारण दोनों के अस्तित्व में अन्तर है अब जब कि दोनोंका अस्तित्व भिन्न भिन्न प्रकार का है अर्थात् वह दोनों एक हैं ही नहीं, तब ऐसी दशा में उनका मिलना क्या अर्थ रखता है। परन्तु यह भिन्नता तो अनादि होने में भी है। क्योंकि ईश्वर का अनादि होना मालिक की अवस्था में है और जीव और प्रकृति का अनादि होना मिलकियत की अवस्था में है मुल्क और मालक दो हो सकते हैं एक साथ होते हुये भी न तो साझी होते हैं और नहीं एक पदार्थ हो सकते हैं हां वास्तविक अद्वैतता स्वरूपसे एककी ही उपासना है जो कि धर्मका जीवन है। परन्तु वेद में तो एक ईश्वर की उपासना को ही कर्तव्य ठहराया है पर मुसल-

मोमों के यहां पैगम्बर (दूत) को साझी किया गया और एक ईश्वर की उपासना करने वाले को "शैतान" बताया गया है। शैतान कौन था? फ़रिश्तों का उस्ताद। एक सहस्र वर्ष तक इबादत (उपासना) करने वाला वह किस अपराध में गिरोह से बाहर निकाला गया? आदम को सिजदा न करने के कारण बस जो पैगम्बर को न माने वह काफ़िर और जो आदमको सिजदा न देवे वह शैतान है अस्तु इसलाम में जितनी जितनी टूटी फूटी शिक्षा है वह तो वेदों से ही ली गई है परन्तु जो शहवत परस्ती (कामेच्छा को पूर्ण करने) की शिक्षा है सो हजरत मुहम्मद साहिब की मन गढ़ंत है। देखो कुरान शरीफ़ सिपारा। २२ सूरतुल अखराब।

वअज़्तकूलुल्लज़ी अलम्द अल्बनियाअते अलेइम्स-केज़देचकवतकूल्लतःवतख़फ़ीफ़िननफ़सकेमाअल्लाहमवंदलः वतख़ःशीउलनासवल्लाहक्कअजतख़शेफ़िलमाकजो ज़ेदमिनहाव्रमि-हराजुम्भालकलायकूनअलीउलमोमनीन फ़िज्जफ़ीइज़ादेवाज अ-बूउल हमाज़क्क़ामनहनवतरे ऊकानअमरअल्ताहम फ़ूउल्ताहु।

अर्थ—और जिस समय कि कहता था तू वास्ते उस मनुष्य के (कि नेमत) की है अल्लाह (ईश्वर) ने ऊपर उसके और नेमत की है तूने ऊपर उस के, थाम रख ऊपर अपने बीबी अपनी को और डर खुदा से और छिपाता था बीच जी अपने के जो कुछ कि अल्लाह प्रकट करने वाला है और डरता था तू लोगों से अल्लाह बहुत लायक है इसके कि डरे तू उससे। पस जब अदा करली जैदने उससे हाजत व्याह दिया हमने तुझ से ताकि न होवे ऊपर ईमान वालों के तंगी बीच बीवियों, लैपालकों उनके की; जब अदा करलें उनसे हाजत और है हुक्म खुदा का किया गया।

कहिये जनाब! इससे बढ़कर और शहवत परस्ती (कामेच्छा) की पूर्ति की क्या शिक्षा होगी लैपालकों अर्थात् मुतबन्ना (गोद का) की स्त्रियों में ईमान वालों की तंगी न रही! परन्तु शोक। ईमान वालों की तंगी दूर न हुई। क्योंकि न तो मुहम्मद साहिब के पूर्व किसी मुतबन्ना (पोष्यपुत्र) की स्त्री से विवाह किया, और नहीं हजरत के पश्चात् इस प्रकार का कोई विवाह ही हुआ यदि हुआ होतो मुसलमान विद्वान इस को सिद्ध करें क्या कोई मनुष्य मान सकता

है कि जो एक मनुष्य की ग़रज़ (आवश्यकता) के कारण लिखा गया हो वह न्याय (कानून) की सीमा में आसकता है । क्यों जनाब (महाशय) मुतवन्ना [गोद के पुत्र] के वधू से विवाह न करने से कौनसी हानि थी जिसको पूर अथवा दूर करने के लिये ईश्वर को ऐसी आवश्यकता पड़ी । मुतवन्ना (गोद का बेटा] तो सहस्रों में एक के होता है । यदि ईश्वर बेटों की स्त्री से विवाह करना जायज़ (प्रचलित) कर देता तब तो अवश्य ही कुछ तंगी दूर हो जाती यदि बहिनों बेटियों और माताओं से जाइज़ करता तब भी ईमान वालों को कुछ लाभ होता परन्तु यहां तो केवल अपनी ग़रज़ (इच्छा) के विना निकाह काम करना था उसके लिये गद्दर्दी क्यों घड़दी ? ताकि लोगों से भय न रहे इस आयत के पूर्व रसूल (पैगम्बर) भयभीत थे । आयत बनादेने के पश्चात् भय दूर हो गया । क्योंकि विवाह पर ईश्वर की मुद्रा लग गई । हमें विद्वान् मुसलमानों की बुद्धि पर खेद है कि वह क्यों ऐसे मनुष्यको जो मनुष्यों से भय मानता हो परन्तु ईश्वर से भय न रखता हो, क्योंकि यदि ईश्वर से डर मानता तो खुदा (ईश्वर] को यह कहने की आवश्यकता न पड़ती कि "डर खुदा से, कि अल्लाह बहुत लायक है कि डरै तू । इसी प्रकार की समस्त बातों से क़ुरान भरा है । कहां तक लिखूं, ईसाईयों की क्षमा, को तो प्रत्येक मनुष्य जानता है परन्तु वैदिक धर्म्मियों में धर्म्म का दूसरा लक्षण ही क्षमाको माना गया है । और 'सतलोम' भी वैदिक धर्म्म से ली गई है, केवल प्रकृति को रूहुल क़ुद्दस (पवित्रात्मा) बतलाने में भूल की है । नहीं तो बाप 'ईश्वर' और 'बेटा' जीव तो बना हुआ ही हैं । बौद्ध धर्म्म में जो उत्तम कर्मों की शिक्षा है वह यजुर्वेदके अध्याय ४०के दूसरेमन्त्रसे स्पष्टतया प्रकटहोती है । इसी प्रकार सिक्खों की ईश्वर भक्ति और अन्य मत मतान्तर भी जो भारवर्ष में प्रचलित हैं, वह तो मानते ही हैं, कि वेद हमारा केन्द्र है । मजूसी मत की शिक्षा भी वेद से ली गई है । मूसा को अग्नि में ईश्वर का दिखाई देना तो स्पष्ट शब्दों में वैदिक यज्ञ वालों की उस बात का अनुकरण है कि जब यज्ञ करते थे तब अग्नि में से विष्णु प्रकट होते थे । इसी प्रकार बलिदान भी वाम मार्गियों का अनुकरण है जिन्होंने कि वैदिक यज्ञ का उल्टा अर्थ करके यज्ञों में हिंसा का प्रचार किया । तात्पर्य यह है कि आज कल संसार की मतमतान्तरों में कोई ऐसी उत्तमता नहीं जिसका केन्द्र वेद न हो । जितने सिद्धान्त किसी मत के

वेदों के अनुसार हैं वह ऐसे अटल हैं कि उनका खण्डन असम्भव है। परन्तु जो सिद्धान्त कि मन गढ़न्त है और जिस समय उनपर प्रश्न आता है तब उनमतों के अनुयायी घबरा जाते हैं। मुसल्मान तौहीद (अद्वैत वाद) पर शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हैं परन्तु कुरान को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने से चकराते हैं कि देवरिया में ५६ मुसल्मान विद्वानों के होते हुए भी ५ दिन में ईश्वरीय ज्ञान का लक्षण न कर सके। और न नगीना में इस्लाम ने कुरान को इलहामी (ईश्वरीय ज्ञान) सिद्ध कर पाया। किन्तु मौलवी सनाउल्ला साहिब यही कहते रहे कि जबमैं कुरान को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने के लिये खड़ा हूंगा तबही कुरान पर के आक्षेपों का उत्तर दूंगा। कभी कहा कि आप मुद्दई [पूर्वपक्षी] हैं, आपही [ईश्वरीय ज्ञान का] लक्षण कीजिये। क्या इस्लाम कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने का मुद्दई नहीं !! परन्तु कुरान को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करना उतना ही कठिन है कि जितना सूर्य्य का पश्चिम में उदय होना इसी बदाऊं के मुसलमान विद्वानों ने प्रथम कह देने पर भी कुरान को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने से आनाकानी की और इलहाम की परिभाषा भी यही की कि 'वही' [आकाशवाणी] के द्वारा नाजिल [उतरने] होने वाला हो। परन्तु यह बात भी सिद्ध करनी है मुसल्मान विद्वानों को प्रथम तो 'वही' का लक्षण करना होगा तत्पश्चात् उसका अस्तित्व सिद्ध करना होगा यावत् वही का अस्तित्व सिद्ध न हो तावत् इस्लाम का पक्ष गिरा हुआ है प्रिय सुहृदगण ! वह समय निकट है जब कि सम्पूर्ण संसार के मत मतान्तर वेदों की शरण लेते हुये अपने आप को वेदों की शिक्षा के निकट लावेंगे और इस बात को मानने लगेंगे कि वैदिक धर्म ही समस्त धार्मिक खूबियों [उत्तमताओं] का केन्द्र है॥

इति

क्या वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको नहीं ?

यथेमांवाचंकल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ यजु० अ० २६ मं० २

(अर्थ) इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीवों को इस बात का उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार सम्पूर्ण मनुष्यों के वास्ते कल्याण के देने वाली अर्थात् मुक्ति

सुख के देने वाली ऋग्वेदादि चारों वेदों की शिक्षा का उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो, इस वेद मन्त्र से तो स्पष्ट शब्दों में प्रकट है कि मनुष्यों को वेद पढ़ाओ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री आदि कई प्रकार के मनुष्यों के वास्ते वेद हैं अस्तु मन्त्र तो सर्व मनुष्यों को वैसाही अधिकार बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य परमात्मा के दिये हुए सूर्य के देखने का अधिकार रखता है। परन्तु प्रायः मनुष्य यहां कहते हैं कि केवल द्विजों को ही वेदों के पढ़ने का अधिकार है शूद्रों को नहीं। क्योंकि शूद्र के वास्ते यज्ञोपवीत के मंत्र के पढ़ने का अधिकार नहीं जैसा कि स्वामी दयानन्द ने भी गृह्य सूत्रों के प्रमाण से लिखा है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयीत ॥ १ ॥ गर्भाष्टमेवा॥ २ ॥
एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्य नातीतः कालः
आद्वाविंशात् क्षत्रिस्य आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य
अतऊर्ध्वं पतित सावित्रीका भवन्ति—

अर्थ—जिस दिन जन्म हुआ अथवा जिस दिवस गर्भ रहा उस से आठवें वर्ष में ब्राह्मण और जन्म, वा गर्भ से एकादशवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म अथवा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के पुत्र का यज्ञोपवीत करें और ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रीके बाईस और वैश्यके चौबीसवर्ष पर्यंत यज्ञोपवीतकरने चाहिये यदि पूर्वोक्त समय के आभ्यन्तर यज्ञोपवीत नहीं लेवे तो इनको गायत्री और वेदों के पढ़ने का अधिकारी नहीं समझाजावे।

उत्तर—यहां तो स्पष्ट है कि जो ब्राह्मण बनने का अधिकारी लड़का हो उसका संस्कार आठवें वर्ष होना चाहिये क्योंकि इस दशा में उसको पढ़ने के वास्ते अठारह वर्ष मिल जावेंगे। अष्टादश वर्ष की शिक्षा के बिना ब्राह्मण होना कठिन है, यदि कोई अधिक बुद्धिमान् भी हो तो वह १६ वर्ष की आयु से पढ़ना आरम्भ करके प्रत्येक वर्ष में दो २–वर्ष की शिक्षा पाकर अर्थात् दो २ कक्षा पास करके नवें वर्ष में भी हो सकता है परन्तु इस से कम समय में ब्राह्मण होना असम्भव है और क्षत्रिय बालक को ग्यारहवें वर्षसे पच्चीस वर्ष पर्यंत चौदह वर्ष शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये इसके बिना क्षत्रिय बनना कठिन है।

परन्तु बहुत बलवान बालक जन्म से ही जिसके अच्छे संस्कार हों तो तीन वर्ष तक शिक्षा पाकर भी क्षत्री बन सकता है क्योंकि क्षत्रिय के कार्य में विद्या की अपेक्षा बल की भी आवश्यकता है और वैश्य पद के अधिकारी को बारह वर्ष से २५ वर्ष पर्यन्त तेरह वर्ष शिक्षा पानी चाहिये क्योंकि वैश्य का का काम परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष के अधिक आश्रय है बुद्धिमान् मनुष्य एक वर्ष में वैश्य की शिक्षा प्राप्त कर सकता है—क्योंकि इसके पश्चात् ब्रह्मचर्यावस्था समाप्त हो जाती है—निदान जो विद्यार्थी इस अवस्था तक विद्या पढ़नी आरम्भ नहीं करे वह शूद्र रह जाता है—

(प्रश्न) स्वामी जी ने तो ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य का बालक लिखा है तुम ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य पद का अधिकारी बालक कहां से निकालते हो

(उत्तर) सूत्र के पदों का अर्थ तो यह है कि आठवें वर्ष ब्राह्मण का उपनयन होवे—परन्तु उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार से पूर्व किसी की द्विज संज्ञा ही नहीं होती—क्योंकि जिसके दो जन्म हों उसको द्विज कहते हैं पहला जन्म तो माता पिता के यहां और दूसरा गुरु पिता और विद्या माता के कारण से होता है परन्तु जो विद्यारूपी माता के गर्भमें नहीं गया । वह द्विज किस प्रकार कहला सक्ता है और जो द्विजही नहीं बना तो वह ब्राह्मण किस प्रकार हो सकता है स्वामीजी को यह अर्थ करना पड़ा कि ब्राह्मण का बालक परन्तु जो दोष उस दशा में रहता है वह इस दशा में भी रहता है निदान ब्राह्मण के बालक से मतलब ब्राह्मण पद का अधिकारी बालक है जो स्वामीजी के अभिप्राय को प्रकट करता है और स्वामी जी ने जो मनु का प्रमाण दिया है वह इसको स्पष्ट कर देता है—

ब्रह्म वर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञोबलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ मनु । २ । ३७

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको विशिष्ट विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तो ब्राह्मण के बालक का जन्म वा गर्भ से पाँचवें क्षत्री का छठे और वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार करें यह बात तबही हो सकती है जब कि उनके माता पिता का ब्रह्मचर्य पूर्ण होने पर विवाह हुआ हो उन्हीं के लड़के इस प्रकार

की इच्छा प्रगट करके शीघ्र विद्याको प्राप्त करने वाले हो सकते हैं परन्तु हमारे बहुत से मित्र यह प्रश्न करेंगे कि श्लोक के शब्दों से भी ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य का ही उपनयन प्रकट होता है शूद्र की सन्तान के वास्ते कोई समय नियत नहीं है परन्तु स्मरण रहे कि ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य के अधिकारी को उपनयन संस्कार की आवश्यकता होती है शूद्र के बनने के वास्ते उपनयन की आवश्यकता नहीं— अर्थात् जो मनुष्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य न रहकर और वैदिक शिक्षा न पाकर उपनयन से खाली रहते हैं वही शूद्र हैं और उपनयन संस्कार से पूर्व सब ही शूद्र होते हैं– क्योंकि द्विज बनाने वाला वेदारम्भ संस्कार है जो उपनयन के पश्चात् होता है यह तो सबही को ज्ञात है कि वर्ण गुण कर्म और स्वभाव से होता है न कि जन्म से जैसा कि गीता में लिखा है कि तीनों वर्णों की उत्पत्ति गुण कर्म से होती है यदि उत्पत्ति से वर्ण होवे– तो आन्हिक सूत्रावली में जहां ब्राह्मणादि वर्णों के नित्य कर्म लिखे हैं उनको इस बात की आवश्यकता नहीं होती कि उनके लक्षण लिखते जो प्रत्येक वर्ण के पृथक २ दिखलाये हैं जैसे ब्राह्मणोंके यह लक्षण लिखे हैं–

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।
प्रियातिथित्वमिज्याच ब्रह्मकायस्यलक्षणम् ॥

अर्थ– शौच अर्थात् शुद्ध रहना (आस्तिक) ईश्वर का पूर्ण विश्वासी हो वेदों का अभ्यास नित्य करता हो– गुरु का पूजन करना सर्वदा सब से प्रीति पूर्वक बोलना– अतिथि का सत्कार करना अग्नि होत्र करना-जिसका-यह स्वभाव हो– अर्थात् वह किसी दिखावे वा बनावट के विना इनका अभ्यासी हो तो वह ब्राह्मण है आगे पुनः लिखते हैं कि–

शान्तः सन्तः सुशीलाश्च सर्वभूतहितेरता ।
क्रोधंकर्तुनजाति एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(अर्थ) शान्त होने से जिसकी आशा दमन हो गई है इसी वास्ते उसको किसी से राग द्वेष न रहा और जिसका चाल चलन वेदानुसार है जिसने अपने शरीर को सुशीलता (इस लोक) से शुद्ध किया है और संम्पूर्ण प्राणियों से प्रेम करना किसी समय भी स्वार्थ जिसके मनमें नहीं आवे क्रोध करना जानता ही न हो यह ब्राह्मण के चिन्ह हैं आगे चल कर और भी कहते हैं।

संध्योपासनशीलश्चसौम्यचितो दृढव्रतः
समःस्वेषुपरेषुच एतद्ब्राह्मण लक्षणम् ॥ ५

(अर्थ) जो सन्ध्या अर्थात् परमात्मा की उपासना और ध्यान को करने वाला और जिसका हृदय नर्म होने के कारण दूसरे का दुःख सहन न कर सके दृढ़व्रत अर्थात् जो कुछ काम करना चाहें उसके करने में चाहे क्लेश क्यों न हो परन्तु करने से न रुकना और जो अपने और परायेके साथ एकसा प्रेम करता है उसे ब्राह्मण कहते हैं इस ही प्रकार से और भी लक्षण बतलाए हैं जिनके लिये इस लघु ट्रैक्ट में आवकाश नहीं है यदि शास्त्रकार उत्पत्ति से वर्ण मानते तो लिख देते कि जो ब्राह्मण के रज वीर्य से उत्पन्न हो वह ब्राह्मण है ॥

(प्र०) जब कि मनु ने लिखा है कि जो ब्रह्म तेज की इच्छा रखने वाला हो उसका पाँचवे वर्ष में उपनयन किया जावे तो शूद्र का उपनयन किस प्रकार हो सकता है ॥

(उत्तर) क्योंकि पांचवे वर्षकी आयु में कोई ब्राह्मण हो नहीं सकता अतः यह शब्द अनर्थक है कि ब्राह्मण का पांचवें वर्ष में उपनयन किया जावे । क्यों कि उपनयन से पूर्व द्विज संज्ञा ही नहीं ? और ब्राह्मण सब से उत्तमद्विज को कहते हैं द्वितीय उस में यह अन्योन्याश्रय दोष भी है कि द्विज हो तो उस का उपनयन संस्कार और वेदारम्भ संस्कार हो और ठीक संस्कार हो तो द्विज बने निदान ऐसा विचार दूषित होने से त्याज्य है ॥

(प्र) जब कि स्वामी जी ने ब्राह्मण के बालक का उपनयन पांचवें वर्ष में लिखा है पुनः आप इस के विरुद्ध किस प्रकार कहते हो ?

(उत्तर) ब्राह्मण के बालक का यह अभिप्राय किस प्रकार निकाल लिया कि ब्राह्मण के वीर्य से उत्पन्न हुआ बालक किन्तु उसका अर्थ यही वेदानुकूल है कि ब्राह्मण पद का अधिकारी बालक । वरन वेद मंत्र के विरुद्ध होनेसे सारे सूत्र अप्रमाण होजावेंगे ॥

(प्रश्न) जिस प्रकार पूर्व आश्रम अर्थात् विद्यार्थी पने में जो पिता की जीविका [पेशा] हो वही जीविका विद्यार्थी की भी मानी जाती है जिस प्रकार

एक किसान का बालक स्कूल में पढ़ने के वास्ते जाता है जब उसकी जीविका पूछते हैं तो जमींदारी ही बतलाता है यदि पूर्वआश्रम के वर्णको मानकर संस्कार करा दिया जावे तो क्या दोष होगा ?

(उत्तर) इस दशा में प्रथम तो यह ही दोष होगा कि गुरु के यहां दश ब्रह्मचारी जिनके माता पिता मृत्युको प्राप्त होगए हैं और अनाथ होकर पहुंचे उनके जानने वाला वहां कोई नहीं है और वह दशों बालक द्विजों के हैं अब जो गुरु उन से पूछता है तो वह बतला नहीं सकते। अब यदि न बतलाने के कारण उनका संस्कार न किया जावेतो द्विजों की सन्तान को पतित करने का दोष गुरु को लगेगा यदि संस्कार किया जावे तो किस प्रकार ? क्योंकि वह जानते नही कि कौन किस वर्ण का लड़का है यदि किया जावे तो उन की बुद्धिका अनुमान करके ही। निदान स्वामीजी का ब्राह्मण के बालक से अभिप्राय यही जानना चाहिए कि ब्राह्मण पद का अधिकारी बालक—

(प्रश्न) जब कि स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि जो शूद्र कुल और गुण युक्तहो उसको मन्त्र संहिता छोड़कर विना उपनयनं किए पढाए, ऐसा कई एक आचार्य मानते हैं तो इससे शूद्रको वेद पढ़ने के अधिकार का न होना तो सिद्ध ही है ?

(उत्तर) यहां शूद्र का बालक तो लिखा नहीं जिस से आपका अभिप्राय सिद्ध हो, किन्तु दिखलाया यह है कि जिसका चौबीस वर्षतक संस्कार तो हुआ नहीं कि जिससे द्विजों में मिलसके और वह पढ़ना चाहता है तो आयु के व्यतीत होजाने से वह उपनयन का अधिकारी नहीं रहा और विना उपनयन के मन्त्र पढ़ नहीं सकता निदान शास्त्र पढाए।

(प्रश्न) जिस प्रकार सूर्यका अधिकार सबको है ऐसेही वेदका अधिकार बताया था परन्तु अब चौबीस वर्ष तक जिसका संस्कार न हो उसको अधिकार नहीं दिया अतः वेदका अधिकार सबको नहीं ?

(उत्तर) क्या सूर्यका अधिकार सबको है, इसका यह अभिप्राय है किअंधे को सूर्यका अधिकार है अंधा भी सूर्य से देख सक्ता है, अथवा चक्षु बंद करके चलने वालोंको सूर्य दिखासक्ता है, नहीं इसका अभिप्राय यह है कि देश काल

और जाति भेद किये बिना जिसकी बुद्धि वेद के पढ़ने योग्य है जिसके संस्कार यथा योग्य किये गये हों जिसको वेदों की पढ़ने की इच्छा हो उन सब कोवेदों के पढ़ने का अधिकार है। अन्धा सूर्य के प्रकाश में देख नहीं सकता परन्तु यह कोई नहीं कहता कि सूर्य का अधिकार उसको नहीं, निदान जो मनुष्य अपनी सन्तान को वेद पढ़ाना चाहें तो उसका धर्म है कि वह उनके नियमानुसार संस्कार कराए, ताकि वह वेदों के पढ़ने योग्य हो, जिसके संस्कार नहीं वह संस्कार शून्य, शूद्र है अर्थात् वह चक्षु बन्द करके सूर्य के सामने जाता है ऐसे मनुष्य को शूर्य्य किसी प्रकार भी नहीं दाख सक्ता, इस में सूर्य का दोष नहीं दोष तो उसी आंख बन्द करके चलने वालेका है-ऐसे ही वेदके अधिकार तो सबको है, परन्तु जिनके माता पिता संस्कार न करायें उसमें दोष उनके माता पिता का है, न कि वेद का—

(प्रश्न) क्या यह अन्याय नहीं कि संस्कार तो पिता ने नहीं करायाऔर वेदों की शिक्षा से पुत्र को रोका जावे क्यों कि इस दशा में दूसरे के कर्म का फल दूसरे को मिलता है जिससे न्याय दूर होजाता है ?

[उत्तर] यह प्रत्यक्ष बात है कि यदि किसी को माता पिता उसकी आंख फोड़दें तो वह सूर्य के प्रकाश से रुक जाता है सूर्य से तो वही देखेगा जिस की आंखें ठीक हों चाहे उसने नेत्रों को स्वयं फोड़ दिया हो वा माता पिता ने, दोनों दशाओं में देखने से रुक जाता है। निदान वेदों की शिक्षा का समय बाल्यावस्था ही से आरम्भ होता है यदि उसी समय संस्कार कराकर वेदों की शिक्षा आरम्भ करदी जावे तो उस मनुष्य को वेदों का अधिकार है यदि माता पिता उस काल को अपनी मूर्खता के कारण खो बैठे और बालक का संस्कार न करा कर उसके शिक्षा के काल को मुफ्त खोयें, तो यह दोष माता पिता का है॥ इस से यह अभिप्राय निकालना ठीक नहीं कि वेदों के पढ़ने का अधिकार सब को नहीं किन्तु वेदके पढ़ने का अधिकार सबको है परन्तु नियम यह है कि, यथा काल संस्कार हुये हों अतः वेदोंने तो शूद्रादि सबही को अधिकार दिया है। परन्तु शिक्षा के समय को टालने वाला पितर यदि अयोग्य बनावे यह उसका दोष है ऋषियों के किसी नियम में दोष नहीं॥

प्रश्न—यदि बाल्यवस्था में संस्कार न हुवे तो बड़ी आयु में संस्कार करा कर पढ़ लेने में क्या दोष है ?

उत्तर—जिस प्रकार बिना ऋतु के कृषि बोने पर कृषि ठीक उत्पन्न नहीं होती इसी प्रकार शिक्षा समय के खोदने से बड़ी आयु में इस योग्य नहीं रहता कि वेदों की गूढ़ बातों को समझ सके। निदान शिक्षा समय में ही ठीक प्रकार से पढ़ सकता है। नियम के टूट जाने से मनुष्यों ने डरकर शिक्षा को प्राप्त नहीं किया॥ जब के वेद मन्त्र ने सबको वेद पढ़ने का अधिकार दिया है और वेदको सब स्मृति आदि शास्त्रसे अधिक माना है और वेदके विरुद्ध होनेसे कोई पुस्तक भी प्रमाण नहीं रहती अब यह सिद्ध हुवा है कि वेद पढ़ने का अधिकार सब को है जो अपनी मूर्खता से समय खो बैठे तो उसका अपना दोष है॥

॥ इति॥

❋ सृष्टि प्रवाह से अनादि है ❋

आर्य समाज का सिद्धांत यह है कि जीव ब्रह्म और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं अर्थात् इनका कोई कारण नहीं है परन्तु सृष्टि प्रवाह से अनादि है जिसका उत्पन्न करने वाला ईश्वर है, अनादि शब्द का अर्थ जिसका आदि न हो अर्थात् जिसका कारण कुछ न हो, और सृष्टि का अर्थ है जो पैदा करी गई हो, इस स्थान पर वादी तर्क करता है कि आर्यसमाज का यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्यों कि इस में नीचे लिखे दोष ज्ञात होते हैं प्रथम तो प्रत्येक कार्य के पूर्व क्रिया का होना आवश्यक है और प्रत्येक क्रिया से पूर्व इच्छा का होना आवश्यक है और इच्छा से पूर्व कर्त्ता में उस गुण का होना लाजमी है कि जिससे स्पष्ट प्रगट है कि कार्य से क्रिया पूर्व होगी और कार्य पश्चात् होगा। क्रिया और कार्य का एक साथ होना असम्भव है और क्रिया से इच्छा (इरादा) पहिले होगी और क्रिया पीछे, क्रिया और इच्छा का एक समय होना भी असम्भव है इच्छा से उस पूर्वोक्त गुण का पूर्व होना भी आवश्यक है क्योंकि असम्भव पदार्थों की इच्छा नहीं होती अतः सृष्टि का अनादि होना और ईश्वर का अनादि होना किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। और सृष्टि को प्रवाह से अनादि कहना भी कोई आशय नहीं रखता क्योंकि यह संबन्ध सगुण (तासीफी) है क्योंकि प्रवाह सृष्टि का गुण है और गुण किसी दशा में द्रव्य

के बिना नहीं रह सकता अतः प्रवाह से सृष्टि अनादि है इसका अभिप्राय यह लेना होगा कि सृष्टि अनादि है जिसका आशय यह है कि उसका कोई कारण नहीं जब सृष्टि का कोई कारण नहीं तो ईश्वर की सत्ता के लिये जो सृष्टि का करण होना हेतु दिया गया है अथवा आर्यसमाज के प्रथम नियम में जो ईश्वर को आदि मूल बताया है वह मिथ्या सिद्ध होता है जिससे आर्यधर्म (दयानन्दीयमत) नास्तिक सिद्ध होता है क्योंकि प्रथम तो उसका प्रथम नियम ही गिर जाता है द्वितीय ईश्वर की सत्ता में कोई हेतु नहीं रहता।

[उत्तर] वादी का यह तर्क अनभिज्ञता के कारण है क्योंकि संसार में तीन प्रकार के पदार्थ हैं [१] अज्ञ [गैर मुदरक] जिनको तीनों काल में ज्ञान हो ही नहीं सकता [२] अल्पज्ञ जिनको कुछ ज्ञान तो स्वाभाविक होता है और विशेष ज्ञान पदार्थ और सामान के द्वारा उत्पन्न होता है, [३] सर्वज्ञ जिसका ज्ञान नित्य और निर्भ्रान्त होने से उसमें किसी प्रकार का बाह्य ज्ञान आता नहीं, अब अज्ञ तो कर्म करने की शक्ति ही नहीं रखता और अल्पज्ञ स्वेच्छा से कर्म करता है और सर्वज्ञ स्वभाव से कर्म करता है न कि इच्छा से अब वादी ने अपनी अज्ञानता से अल्पज्ञ के वास्ते जिन साधनों की जरूरत है उनको सर्वज्ञ के गले में भी मढ़ना चाहा है, परन्तु उसे सोचना चाहिये था कि जहां हम क्रिया से पहले इच्छा को देखते हैं वहाँ हम उसके कारण को भी देखते हैं क्योंकि इच्छा अप्राप्त इष्ट की होती है यदि वह लाभदायक भी हो तो न किसी प्राप्त हुई वस्तु की इच्छा होती है; और नहीं अलाभ कारक वस्तु की इच्छा होती है। इस इच्छा का कारण उस अप्राप्त और इष्ट अर्थात् अप्राप्त लाभका कारक है जिसके प्राप्त करने की वह इच्छा करता है प्रथम तो आप कोई ऐसी वस्तु बता ही नहीं सकते जो ईश्वर की इच्छा का कारण हो क्योंकि उसका ईश्वर की इच्छा से पूर्व होना जरूरी है यदि अभ्युपगम सिद्धान्तनुसार ऐसा मान भी लेवें तो वह वस्तु जो ईश्वर की इच्छा का कारण होती है, नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य मानोगे तो ईश्वर के साथ इच्छा का कारण भी नित्य मानना पड़ेगा, पुनः कार्य कारण भाव का झगड़ा पड़ जावेगा और अन्त में एक ही नित्य मानना पड़ेगा।

यदि अनित्य माने तो उसके जन्यत्व में इच्छा का होना आवश्यक होगा,

ज़िसके लिये पुनः किसी कारण की आवश्यकता होगी और पुनः उस कारण की अपेक्षा भी यह प्रश्न होगा जिससे अनवस्था दोष [दौरेतसल्सुल] आ-जायगा, जिससे ईश्वर की इच्छा से कर्ता होना मिथ्या है द्वितीय आपने यह जो कहो कि सृष्टि प्रवाह से अनादि है और संबन्ध सगुण [तोसीफी] है। यह भी मिथ्या है, क्योंकि प्रवाह सृष्टि के अनादि होने का कारण है न कि सृष्टि का गुण। बहुत से मनुष्य यह कहेंगे कि प्रवाह का अर्थ क्या है इसका उत्तर यह है कि ईश्वर के सम्पूर्णगुण अनादि होने से और उसका इच्छा र-हित कर्ता होने से और सृष्टि की बार २ रचना करने का नाम प्रवाह है क्यों कि ईश्वर सर्वदा सृष्टि की रचना करता रहता है, अतः उसका कार्य सृष्टि भी अनादि है वादी इस स्थान पर यह प्रश्न कर सकता है कि जब ईश्वर इच्छा रहित करता है और उसका सृष्टि उत्पन्न करना स्वभाव है तो प्रलय के समय वह क्या करता है क्योंकि उस वक्त सृष्टि तो उत्पन्न करता ही नहीं इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की दी हुई शक्ति [हरकत] से प्रकृति के पर-माणुओं में हरकत बराबर जारी रहती है जिस प्रकार रात्रि के दोपहर पर्यन्त अन्धेरा बढ़ता जाता है और दोपहर के पश्चात् घटना आरम्भ हो जाता है इधर दिन के बारह बजे तक धूप पड़ती जाती है और दिन के बारह बजे से ही घटना आरम्भ हो जाती है कोई पल भी ऐसा नहीं जो घटने से रहित हो ऐसे ही २५ दिसम्बर से दिवस बढ़ना आरम्भ हो जाता है और २५ जून से घटना, कोई दिन नहीं जिसमें वृद्धि क्षय न हो यही दशा सृष्टि और प्रलय की अर्थात् चार अर्ब बत्तीस करोड़ वर्ष सृष्टि और इतना ही समय प्रलय में व्यतीत होता है परन्तु जिसको ब्राह्म दिन अर्थात् सृष्टि कहते हैं उसका आदि वेद रूपी सूर्य के उदय होनेसे होता है अर्थात् जबसे मनुष्य जाति उत्पन्न होती है और जब तक मनुष्य जाति रहती है इसके आभ्यन्तर का यह नियत समय (मयाद) है पशु कीट पतङ्ग स्थावर पर्वतादिक इस समय से पूर्व उत्पन्न होजाते हैं और इसके बाद भी रहते हैं और जिस तरह प्रत्येक रात्रि के पूर्व दिवस होता है और प्रत्येक दिन के पूर्व रात्रि होती है कोई दिन नहीं जिसके पूर्व रात्रि नहो और कोई रात्रि नहीं जिसके पूर्व दिन नहो, इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि से पूर्व प्रलय और प्रलय से पहिले सृष्टि होती है यद्यपि

प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का आदि और अन्त होता है परन्तु इस चक्र का आदि और अन्त नहीं हो सकता ।

प्रश्न—जिस अवयवी के अवयव अनित्य हों वह अवयवी भी अनित्य होता है, यदि सृष्टि का उत्पन्न होना मानते हो तो चक्र (प्रवाह) भी अनित्य मानना पड़ेगा जिस प्रकार रात्रि से पहिले दिन और दिवस से पूर्व रात्रि होती है तो उसका आदि भी पाया जाता है क्योंकि रात्रि और दिन सूर्य के उत्पन्न होने के पश्चात् हो सकता है और सूर्य का अनित्य होना सर्व तन्त्र सिद्धान्त है जब से सूर्य उत्पन्न हुआ तब ही से रात दिन का चक्र आरम्भ हुवा अतः स्पष्ट सिद्ध है कि जिस जञ्जीर या चक्र की कड़ी का आदि हो वह चक्र भी अनित्य होता है ।

उ०—जिस प्रकार एक दिन में घड़ी अथवा घण्टे होते हैं उसी प्रकार एक सृष्टि में युगादिक होते हैं वर्त्तमान सूर्य के प्रकट होने से दिन, और लोप हो जाने से रात्रि कहलाती है परन्तु सृष्टि और प्रलय के चक्र का कारण क्या है जिससे सृष्टि और लय होता है तो मानना पड़ेगा कि उसका कारण ब्रह्म है परन्तु ईश्वर नित्य है सूर्य की तरह उसका उत्पन्न होना असम्भव है अतः सारांश यही है कि जिस चक्र का कारण नित्य है वह नित्य और जिस का कारण अनित्य है वह अनित्य—अतः इस चक्र को जिसको दूसरे शब्दों में ईश्वर में उत्पन्न करने का स्वभाव कह सकते हैं नित्य कहना पड़ेगा ।

प्रश्न—यदि इस ही तरह पर ईश्वर को स्वभाव से जगत बनाने वाला अथवा इच्छा रहित कर्ता कहेंगे तो वह कर्मों का जान कर फल देने वाला नहीं हो सकता जिससे आर्यों के सिद्धान्त की तो समाप्ति होगई ।

उ०—जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा जो चाहे सो कर सक्ता है उनके सिद्धान्त की तो अवश्य समाप्ति हो गई परन्तु जिसको यह ज्ञात है कि सर्वज्ञ परमात्मा का कोई कार्य नियम के विरुद्ध नहीं होता उसका प्रत्येक कार्य ज्ञान की सत्ता होने से नियम के आभ्यन्तर होता है—उन के सिद्धान्त को कोई हानि नहीं पहुंचा सक्ता है जैसे सूर्य का प्रकाश प्रत्येक पदार्थ पर एकसा पड़ता है वह न तो किसी का शत्रु और न किसी का मित्र है यदि उसका प्रकाश है तो सब के वास्ते यदि गर्मी है तो सब के वास्ते परन्तु उस सूर्य से भी प्रकृत्यनुसार पृथक् २ असर पड़ता है जैसे एक मनुष्य की प्रकृति शीत है और द्वितीय

मनुष्य की प्रकृति मध्यम दर्जे की और एक की बहुत उष्ण है यदि यह तीनों मनुष्य सूर्य के समीप जावें यद्यपि सूर्य स्वाभाविक कर्म करता है परन्तु उन को पृथक् २ ही फल मिलेगा जिसमें सर्दी अधिक है उसको सूर्यके समीप जाते हुवे सुख मिलेगा और जिसमें गर्मी अधिक है उसको दुःख और जो मध्यम है उस को मध्यम दुःख सुख मिलता है इस ही प्रकार परमात्मा तो स्वभाव से न्याय और दया करते हैं परन्तु प्रत्येक जीव अपने कर्मानुसार उनसे फल पाता है।

प्र०—यदि परमात्मा को स्वभाव से कर्ता मानोगे तो उस में एक ही प्रकार का कर्म होगा उसे विना किसी कारण के दो प्रकार का प्रभाव अर्थात् उत्पन्न करना और नाश करना नहीं हो सक्ता क्योंकि दोनों कर्म संसार में देखे जाते हैं इससे मानना पड़ता है कि वह स्वेच्छा से कर्ता है जब चाहता है उत्पन्न करता है जब चाहता नाश करता है।

उ०—यह तो बिलकुल मिथ्या है क्योंकि जहां स्वभाव से सृष्टि कर्ता मानने में उससे दो प्रकार की सृष्टि का विना किसी कारण के सम्भव नहीं—वहां स्वेच्छा से कर्त्ता मानने में भी दो प्रकार की इच्छा के लिए किसी कारण का होना आवश्यक है पर तु स्वभाव से सृष्टि कर्त्ता (फाइलबिल खासा) मानने वालों के पास तो जीवों के कर्म इस सृष्टि और प्रलय का कारण है उन के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आसकता परन्तु इच्छा से सृष्टि कर्त्ता के मानने वालों में दोष आता है क्योंकि उन के पास कोई कारण इच्छा के बदलने का नहीं है अतः उनका सिद्धान्त बिलकुल तुच्छ है।

प्रश्न—तुम्हारा यह अपना मन घड़त है अथवा इन में किसी प्रामाणिक पुस्तक का प्रमाण है।

उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद में स्पष्ट लिखा है।

नतस्यकार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते।
परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(अर्थ) उस परमात्मा का शरीर नहीं है और नहीं उसके इन्द्रियां [हवास] हैं और नहीं उसके बराबर और न अधिक है उस ईश्वर की शक्ति अनेक प्रकार की वेदों में बतलाई है उसका ज्ञान, बल, क्रिया सब स्वाभाविक है परमात्मा के सम्पूर्ण गुण स्वभाविक हैं उस में कोई नैमित्तिक गुण नहीं है निदान जबकि परमात्मा का क्रिया करना असम्भव है तो उससे जो काम होगा

वह प्रत्येक समय होता रहेगा क्योंकि परमात्मा को अपने कार्य के वास्ते किसी साधन की आवश्यकता नहीं अतः उसके काम में कोई विघ्न नहीं होगा; निदान परमात्मा के अनादि होने से उसका काम भी अनादि है, क्योंकि उस काम से दो प्रकार का असर होता है जिसको सृष्टि और प्रलय कहते हैं क्योंकि दोनों में पहिले और पीछे किसी को नहीं कह सकते अतः स्पष्ट प्रकट है कि सृष्टि प्रवाह से अनादि है। इति शम्।

आत्म शिक्षा।

(१)

यह चिन्ह संसार में उन्नति की इच्छा प्रकट करता है और अवनति से अरुचि, परन्तु बहुत थोड़े मनुष्य हैं जो उन्नति के मार्ग पर पहुंचे हों परन्तु इस दशा में बहुत से मनुष्य आनन्द में दीखते हैं क्या उन्होंने उन्नति के मार्ग को जान लिया है? अथवा वह वहां पर पहुंच गए—उनके उत्तर में शोक से कहना पड़ता है कि कदापि नहीं—किन्तु बहुत अधोगति की दशा में आनन्द हो रहे हैं आप आश्चर्य से प्रश्न करेंगे कि यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि किसी मनुष्य को असिद्धि (नाकामयाबी) अथवा अधोगति में आनन्द हो—परन्तु अविद्या महारानी का ऐसा प्रबल प्रताप है कि मनुष्य अलाभ को लाभ जान कर प्रसन्न होते हैं—आप पुनः प्रश्न करेंगे—कि मनुष्य अलाभ को लाभ किस प्रकार समझ लेते हैं इसका उत्तर यह है कि मूल (असली पूंजी) अर्थात् आत्मा के गुण को न जानने के कारण मनुष्य अपनी हानि और लाभ को समझने में ज्ञान की कमी से दुःख को सुख समझते हैं। प्रश्न—आत्मा शब्द से क्या ले सकते हैं? उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक अथवा प्रत्येक अंग में रहने वाला है परन्तु जीवात्मा और परमात्मा दोनों के वास्ते सेवन किया जाता है आत्मा शब्द का संकेत कहीं ब्रह्म और कहीं जीव का होता है अतः जीवात्मा और परमात्मा भी कहते हैं। प्र०—परमात्मा कैसा है? उ०—सत् स्वरूप अर्थात् नित्य जो संसार से पृथक हो उसको सत् स्वरूप कहते हैं चित् स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप है जिसके ज्ञान में किसी प्रकार की न्यूनता हो ही नहीं सकती—आनन्द स्वरूप अर्थात् प्रत्येक क्लेश से पृथक है और आनन्द से पूर्ण है। वह सत् है अर्थात् उसका नाश कोई नहीं कर सकता वह नित्य

है कष्ट अर्थात् संपूर्ण खराबियों से पृथक है और जड़ जगत से पृथक विचारने योग्य है इत्यादि। प्र०—जीवात्मा किसे कहते हैं ? उ०—प्रत्येक शरीरमें व्यापक सत् चित् स्वरूप और निराकार है परन्तु स्वरूप में सर्व व्यापक नहीं किन्तु जाति से व्यापक और स्वरूप से परिच्छिन्न और नाना हैं अतः एक देशी होने से उसका ज्ञान भी एक देशी और घटने बढ़ने वाला है ज्ञानोन्नति से जीवात्मा की उन्नति होती है और ज्ञान की अवनति से जीवात्मा की अवनति होती है जीव बाह्य ज्ञान और कर्म के वास्ते इन्द्रिय और शरीर के आधीन है बिना इन्द्रिय और शरीर के जीवात्मा बाह्य ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। प्र०-जीवात्मा के ज्ञान की उन्नति का क्या कारण है और अवनति का क्या कारण है ? उत्तर—सद्विद्या से जीवात्मा का ज्ञान उन्नति प्राप्त करता है और अविद्या से अवनति। प्र०--सद्विद्या गुण है अथवा द्रव्य ? उ०—सद्विद्या गुण है। प्रश्न—किस का गुण है ? उत्तर--सद्विद्या परमात्मा के ठीक ज्ञानरूपी गुण का नाम है प्र०— जीवात्मा के ज्ञान का नाम सद्विद्या क्यों नहीं कहा जावे ? क्योंकि जीवात्मा का ज्ञान भी अनादि है। उत्तर— जीवात्मा का ज्ञान दो प्रकार का है। एक स्वाभाविक। दूसरा नैमित्तिक। इन दोनों को बुद्धि और विद्या के नाम से पुकारते हैं क्योंकि जीवात्मा का ज्ञान अल्प होने से सत्य अर्थात् सर्वदा रहने वाला नहीं इस वास्ते उसे सद्विद्या नहीं कह सकते और न जीवात्मा बिना सत्विद्या अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के सत्पदार्थों को जान सकता है अतः उसका ज्ञान सत् नहीं कहला सकता क्योंकि जितने तीनों काल में रहने वाले पदार्थ हैं वह कारण रूप अर्थात सूक्ष्म हैं जिसका ज्ञान पञ्चेन्द्रिय से नहीं हो सकता है और मन सद्विद्या के आधीन (खुद मुहताज) है। प्र०— अविद्या जिससे जीवात्मा के ज्ञान को हानि पहुंचती है वह द्रव्य है अथवा गुण। उ०— अविद्या गुण है। प्र०— अविद्या किस का गुण है। उ०-- अविद्या जीवात्मा की अल्पज्ञता और प्रकृति जन्य अनेक विकारों से उत्पन्न होती है यह जीवात्मा का नैमित्तिक गुण प्रकृति से बने हुये पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। प्र०-- अविद्या यदि उत्पन्न होती है तो कार्य है ? परन्तु बहुत से महात्माओं जैसे शंकराचार्यादि ने अविद्या को अनादि माना है जन्य पदार्थ कैसे अनादि हो सकते हैं ? उत्तर— आदि और अन्त दो प्रकार से होता है प्रवाह (सिल सिले) से द्वितीय स्वरूप से। निदान

अविद्या प्रवाह से अनादि है और स्वरूप से आदि है द्वितीय महात्मा शंकराचार्य ने जो अविद्या को जन्य न मान कर अनादि माना है उनका अभिप्राय अविद्या के अधिकरण से है अर्थात् जीव ब्रह्म और प्रकृति यह अनादि है ब्रह्म सर्वज्ञ जीव अल्पज्ञ और प्रकृति अज्ञ है ब्रह्म के जब जीव समीप जाता है अर्थात् उसकी उपासना करता है तो उससे जीव अल्पज्ञ से तत्वज्ञ हो जाता है और जब प्रकृति की उपासना करता हैं तो मिथ्या ज्ञान के उत्पन्न होते ही मिथ्या ज्ञानी बन जाता है यह जीव का हानि और लाभ है अल्पज्ञ जीवका तत्वज्ञ हो जाना उसकी उन्नति है और मिथ्या ज्ञान वाला होना उस की अवनति है। प्र०— बहुत से लोग जीव को अणु मानते हैं और बहुत से विभु मानते हैं इनमें से ठीक कौनसा है ? उ० — अणु तो नहीं किन्तु शरीर में व्यापक है और स्वरूप से विभु नहीं किन्तु जाति से विभु है। प्र०— जीव के अणु होने में बहुत से प्रमाण हैं जैसा कि उपनिषद्‌ में लिखा है ।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
जीवोभागः सविज्ञेयः स चानन्त्यायकल्पते। श्वेताश्व० ॥

अर्थ - यदि वाल के नोक के सौवें भाग को सौ वार भाग करें तो वह बाल का दस हजारवां भाग जीव होगा अर्थात् जीव इतना छोटा होगा कि जिससे स्पष्ट जीव का अणु होना ज्ञात होता है।

उत्तर - यह श्रुति जीव के अणु परिमाण होने का प्रमाण नहीं किन्तु उस के सूक्ष्म होने में प्रमाण है यदि जीव को अणु परिमाण माना जावे तो इस श्रुति और सब शास्त्रों के कि जिन्हों ने जीव को पुरुष और आत्मा कहा है विरुद्ध होगा, जैसे ब्रह्म को कहा था, कि वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और बड़े से भी बड़ा है, जो अण्ड का अर्थ उस जगह है वही जीव के वारे में समझना चाहिये क्योंकि इस श्रुति ने जीव को शरीर में व्यापक माना है देखो छान्दोग्यउपनिषद्‌ छापा काशी पृष्ठ १७७ ॥

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति ॥

जीव जब इस शरीर के भाग को त्याग देता है तब वह भाग शुष्क हो जाता है और जब दूसरे को त्यागता है तो दूसरा भी सूख जाता है जब

कुल को त्याग देता है तब कुल शुष्क हो जाता है जब के किसी भाग को छोड़ देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह पहले व्यापक था अणु जीव शरीर के एक भागमें रहेगा दूसरे भागमें रहनहीं सकता अतः जीवको सारे शरीरमें व्यापक मानना चाहिये (प्रश्न) यदि जीव को शरीरमें व्यापक माना जावे तो मध्य परिमाण वाला मानना पड़ेगा जिससे जीव अनित्य माना जावेगा ? अतः द्वितीय जीव में संकोच और विकाश मानना पड़ेगा, अतः जीव को अणु अथवा विभु ही मान सकते हैं परन्तु जीव को विभु मानने में एक मानना पड़ेगा न कि बहुत और जीव नाना अर्थात् बहुत से हैं अतः जीव स्वरूप से तो विभु हो नहीं सकता अतः अणु मानना ही ठीक है जिन श्रुतियों में जीवको शरीरमें व्यापक बतलाया है वहां जाति से व्यापक नहीं किन्तु स्वरूप शक्ति से व्यापक माना है।

उत्तर—मध्यम परिमाण वाला होना अनित्य होने का कारण नहीं किन्तु सावयव और साकार होना अनित्य का कारण है क्योंकि जीव निराकार है अतः अनित्य हो नहीं सकता और संकोच पृथ्वी का धर्म होने से पार्थिव द्रव्यों में होता है निराकार जीव पृथ्वी बना हुआ नहीं इस वास्ते उसमें संकोच नहीं और विकाश आकाश का धर्म है क्योंकि जीव के सूक्ष्म और निराकार होने से उसके अन्दर आकाश नहीं अतः विकाश नहीं । यदि तुम संकोच विकाश को अपनी भूल से जीव में मानकर अनित्य कहोगे तो यह दोष शक्ति के व्यापक होने पर भी रहेगा क्योंकि शक्ति में संकोच विकाश मानना ही पड़ेगा यदि शक्ति को गुण के साथ गुणी का सर्वदा सम्बन्ध रहता है गुण के नाश से गुणी का भी नाश होता है ऐसी शक्ति के संकोच विकाश से जीव में भी संकोच विकाश आजायगा।

प्रश्न—यदि आत्मा को अणु माना जावे और शक्ति को शरीर में व्यापक समझा जावे तो क्या दोष है ?

उत्तर—तो ऐसे परमात्मा को एक देशी मानकर भी उसकी शक्ति को जगत् में व्यापक कह सकते हैं परन्तु उसमें दोष है क्योंकि शक्ति का प्रभाव समीप में अधिक होता है, दूरी पर कम होता है जैसे जहाँ अग्नि जलती है उसका प्रभाव समीप वालों पर अधिक होता है और दूर वालों पर कम जिस देश में जीवात्माकी क्रिया मानोगे उस देश में ज्ञान और क्रिया अधिक होगी और द्वितीय भाग में कम। कृमी आदि के शरीर में ज्यादह और मनुष्य के शरीर में

कम और कृमी जं और चींटी इत्यादिक जीवों के शरीर में अधिक ज्ञान होना चाहिये क्योंकि हम एक देशी वस्तु की शक्ति का नियम पाते हैं जितनी अधिक देश में फैली उतना २ ही प्रकाश भी अधिक कमजोर प्रतीत होता है इसके अतिरिक्त जीव और पदार्थ दोनों के वास्ते शरीर और जगत् में कोई स्थान स्थापित करना पड़ेगा और उस शक्ति को रोकना भी सम्भव होगा, और व्यवधान भी हो सकता है ऐसे अनेक दोष आजावेंगे जिनका समाधान करना कठिन होगा इसके अतिरिक्त वेद उपनिषद और दर्शनों का खंडन होगा।

प्र०—जिस प्रकार ईश्वर को सूक्ष्म समझकर उसको सर्वव्यापक माना जाता है यदि उसके गुणों को सर्वव्यापक माना जावे और उसको एक देशी माना जावे तो दोष नहीं आता क्योंकि जिस ज्ञान और क्रिया शक्ति को काम करना है वह दोनों दशाओं में बराबर हैं अर्थात् ब्रह्म के सर्वव्यापक होने पर भी वह शक्ति सर्वव्यापक है और ब्रह्म की शक्ति को सर्वव्यापक मानने पर भी वह शक्ति सब जगह पर है।

उ०—किसी एक देशी वस्तु की शक्ति सर्व व्यापक नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म की शक्ति का विभु होना प्रत्यक्ष प्रमाण से तो जाना ही नहीं जाता अनुमान ही करना पड़ेगा अनुमान व्याप्तिज्ञान से होता है व्याप्ति प्रत्यक्ष से होती है जबकि प्रत्यक्ष में कोई एक देशी वस्तु अनन्त गुण धारण नहीं कर सकती इस वास्ते ब्रह्म को एक देशी मानकर उसकी शक्ति को अनन्त मानना ठीक नहीं।

प्र०—अनुमानादि प्रमाणों को ब्रह्म की शक्ति पर लगाना ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं तो उसकी शक्ति किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकती है ? परन्तु ब्रह्म को प्रमेय अर्थात् प्रमाणों के शक्ति से बाहर बतलाया गया है अतः उस की शक्ति का प्रमाण से खोज करना ठीक नहीं।

उ०—प्रथम तो ब्रह्म सत्ता में शास्त्र प्रमाण है और उसमें उसकी शक्ति का एक विचार भी पाया जाता है तो ब्रह्म को प्रमाणों से रहित बतलाना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता और योगियों को ब्रह्म का मानसिक प्रत्यक्ष भी होता है जिसका विचार सांख्य शास्त्र ने किया है और न्यायशास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति में उसका अनुमान भी किया गया है अतः शब्द अनुमान और प्रत्यक्ष का विषय है परन्तु उसको ज्ञात करने के लिये अधिकारी की आवश्यकता है

जो उसके जानने का अधिकारी है उसी को उसका ज्ञान होता है।

प्र०—यदि प्रमाणों से जानने योग्य होता तो उसको अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से बाह्य क्यों कहा जाता अब रहा शब्द प्रमाण सो ब्रह्म के गुणों को बहुत ही कम प्रकट करता है किन्तु नेति नेति वाक्यों से दूसरों को हटाकर बतलाता है कि वह ब्रह्म से अलग है परन्तु यह ब्रह्म है और यह उस का गुण और स्वरूप है ऐसा वेद से भी स्पष्ट प्रकट नहीं होता। रहा मानसिक प्रत्यक्ष उसके प्रमाण होने में ही झगड़ा है।

उ०—अतीतेन्द्रिय कहने का यह अर्थ है कि वह इन पञ्चज्ञानेन्द्रियों से नहीं जाना जाता, न कि उनके होने में कोई प्रमाण नहीं? और शब्द प्रमाण ही से तो ब्रह्म के स्वरूप और लक्षणों ठीकाठीक का ज्ञान होजाता है ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप वेद ने बताया है और वेदान्तदर्शन में आरम्भ ही से ब्रह्म के लक्षणों का विचार किया है जैसा कि लिखा है कि जिससे सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होता है, उस को ब्रह्म कहते हैं इस में ब्रह्म की शक्ति को सिद्ध किया है पुनः तीसरे सूत्र में कहा है कि ऋग्वेदादिकों के उत्पन्न करने से ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्ध है इस ही प्रकार वेदान्त शास्त्र में ईश्वर की सिद्धि प्रमाण के साथ २ की है और ब्रह्म को सर्वव्यापक ही सिद्ध किया है। रहा मानसिक प्रत्यक्ष उस के बारे में उपनिषदों का प्रमाण जहां पर लिखा है कि यह आत्मा ब्रह्म है इस बात का प्रमाण है कि योगी को जब समाधि की दशा में ब्रह्म का साक्षात् होता है तब वह कहता है कि मेरे अन्दर जो व्यापक आत्मा है यही ब्रह्म है अतः मानसिक प्रत्यक्ष का होना सिद्ध है।

अतः ब्रह्मज्ञान का जो अधिकारी होता है उस को ब्रह्मज्ञान होता है और जो मल विक्षेप आवरण दोष से युक्त लोभी और आलस्यादिक बीमारियों से ग्रसित होता है उस को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता जब तक कि वह इन रोगों को दूर कर के आरोग्य नहीं हो जावे इन रोगों के दूर करने का साधन वेदों में लिखा है अतः जो लोग वेद को पढ़ कर उसके अनुसार चलते हैं वह रोगों से रहित हो जाते हैं उन्हीं को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझना चाहिये और जो लोग लोभी, आलसी और अत्याचारी होते हैं वह धर्मोपदेश के अधिकारी नहीं जैसा कि भगवान् मनु ने लिखा है:—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते।

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ मनुः

अर्थ--जो अर्थ और काम की इच्छा नहीं रखता हो उनको धर्म के जानने का अधिकार है और जो धर्म के जानने की इच्छा रखते हों उनके लिये श्रुति अर्थात् वेद ही सब से बढ़ कर प्रमाण है।

❀ आत्म शिक्षा ❀

प्रश्न--ब्रह्म के जानने में जो मल विक्षेप और आवरण आदि दोष बतलाये गये हैं उन को दूर करने का क्या उपाय है और उनका लक्षण क्या है।

उत्तर--मल दोष को अथवा दुर्वासना को कहते हैं जब मन में दूसरों को हानि पहुंचाने का विचार होता है तो मनुष्य चोरी हिंसा आदि मलीन कामों में रात दिन लगा रहता है। ऐसी दशा में उसे ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि वह एक समय में दो ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। और जिस के संस्कार मन में अधिक विद्यमान होते हैं अथवा जो संस्कार उद्भूत रूप में होते हैं मन का विचार उसी ओर चलता है।
इसी कारण मल दोष वाले का मन ईश्वर की ओर लग ही नहीं सकता। मन को ईश्वर की ओर लगाने के लिये सब से पूर्व परोपकारादि की ओर लगाकर उत्तम संस्कार उद्भूत करना उचित है। क्योंकि यावत् उत्तम संस्कार उद्भूत न होंगे उपदेश से पूर्ण लाभ न हो सकेगा।

प्र०--हम किस प्रकार जान सकते हैं कि मन में उत्तम संस्कार उद्भूत हो गये क्योंकि मन की दशाओं को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते?

उ०--जब तीन प्रकार की एषणा निवृत्त होजावें उस समय समझ लेना चाहिये कि मन के उत्तम संस्कार उद्भूत हो गये और दुःसंस्कार दब गये।

प्र०--तीन प्रकार की एषणा कौनसी है?

उ०--पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र की इच्छा, वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा और लोकैषणा अर्थात् अपनी कीर्ति की इच्छा। जब तक मन में बुरे संस्कार रहते हैं तब तक वह इच्छाएं रहती हैं और जब मन के दुःसंस्कार दब जाते हैं तब उनके साथ इच्छायें भी दब जाती हैं।

प्र०--इन तीन प्रकार की एषणा के निवृत्त करने एवं दुःसंस्कारों के दब जाने का क्या उपाय है?

उ०—वेदोक्त कर्म काण्ड को निष्काम भाव से अपना धर्म्म समझकर करना ही इस रोग की चिकित्सा है। जब वेदोक्त कर्म निष्काम भाव से किये जावेंगे तब यह वासनादिक भी स्वयं निवृत्त होजावेंगी।-अतः प्रथम वेद पढ़ना तत्पश्चात् उसके अनुसार निष्काम कर्म करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है।

प्र०—जब कि यह नियम है कि कोई मूर्ख से मूर्ख मनुष्य बिना फल की इच्छा के काम नहीं करता और जहां से काम निकलता दिखाई देता है वहीं काम किया जाता है। तो ऐसी दशा में निष्काम कर्म करना मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है और जो प्रकृति के विरुद्ध हो उसका होना ही असम्भव है।

उ०—यहां काम का आशय भोग के बदलने की इच्छा है और वहां पर कर्त्तव्य पालन है। अर्थात् वर्त्तमान भोग की इच्छा न रख कर केवल आत्म सुधार के निमित्त जो कर्म किया जाता है वह निष्काम ही कहलाता है। क्योंकि वस्तुतः उससे कोई लाभ नहीं केवल आस्तिक भाव से आगामी के लिये अपना कर्त्तव्य समझ कर किया गया है। कामना अथवा इच्छा लाभ (मुफीद) का प्राप्त करने में होती है और जो सुधार के निमित्त काम करता है वह लाभ को प्राप्त करना नहीं चाहता किन्तु बुराइयां जो आत्मा में हैं उनसे द्वेष करता है। अतः जो कर्म शारीरिक सम्बन्ध और कीर्तिआदि की इच्छा से परे हों वह निष्काम ही कहलाते हैं। जब निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होजावे तत्पश्चात् विक्षेपदोष दूर करने का प्रयत्न करना उचित है।

प्र०—जब अन्तः करण शुद्ध होगया तो फिर क्या कर्त्तव्य होगा?

उ०—अन्तः करण के शुद्ध होने से नित्य और अनित्य वस्तु के विचारने की शक्ति होजावेगी? उससे प्रत्येक समय विवेक करना उचित है। अर्थात् इस बात का विचार करना उचित है कि आत्मा के लिये सुखप्रद और नित्यत वस्तु क्या है और अनित्य तथा दुःख खद कौन है।

प्र०—क्या अन्तः करण के शुद्ध हुये बिना विवेक नहीं हो सकता?

उ०—जिस प्रकार शुद्ध दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और मलिन में नहीं इसी प्रकार शुद्ध अन्तः करण में विवेक उत्पन्न होता है मलिन में नहीं।

प्र०—अनित्य किसे कहते हैं? उ०—जिसकी उत्पत्ति और नाश हो उसे अनित्य कहते हैं, जैसे घड़ा। प्र०—नित्य किसे कहते हैं? उ०—जो इसके प्रतिकूल हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति और नाश सम्भव न हो वह नित्य है। इस

कारण शरीर, अन्तःकारण, इन्द्रिय और जीवात्मा तथा संसार की वस्तुओं में नित्य अनित्य का विचार करना ही विवेक कहलाता है।

प्र०—विवेक होने के पश्चात् क्या फल होगा ? उ०—विवेक होने से वैराग्य होता है। प्र०—वैराग्य किसे कहते हैं ? उ०—जिसके मन में संसार के बड़े से बड़े राज्य सुख की इच्छा नहीं रहती जैसे वमन द्वारा निकले हुए भोजन को कोई नहीं चाहता इसी प्रकार वैराग्य होने पर संसार के राज्य और विषयों की इच्छा नितान्त जाती रहती है।

प्र०—वैराग्य से क्या होता है ? उ०—शम, दमादिक छः साधन प्राप्त होते हैं प्र०—छः साधनों का पृथक् २ लक्षण क्या है ? उ०—जिससे अन्तःकरण के विषय से पूर्ण घृणा होजाने के कारण मनएकान्त हो उसे शम अथवा शान्त कहते हैं ? प्र०—दम किसे कहते हैं ? उ०—जिसकी इन्द्रियां विषयों से सर्वदा पृथक रहें उसे दान्त अर्थात् दमयुक्त कहते हैं। जिसके बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ विषयों में पूर्णतया पृथक रहें उसे उपरत कहते हैं।

प्र०—तितिक्षु अथवा सहन शील किसे कहते हैं ? उ०-सुख दुःख भय निर्भयता, लाभ हानि, जय पराजय निन्दा और स्तुति से रहित अर्थात् उन में न फांसने वाला हो उसे तितिक्षु कहते हैं प्र०—मुमुक्षु किसे कहते हैं ?

उ०—इस प्रकार का अधिकारी जिसकी दृष्टि में मुक्ति के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु तुच्छ हो उसे मुमुक्षु कहते हैं। प्र०—मोक्ष का अधिकारी किस प्रकार होता है ?

उ०—जब कर्मकाण्ड से मनको शुद्ध करके ब्रह्मोपासना द्वारा चित्त को स्थिर करके नित्य अनित्य का विचार करता है तब वह ब्रह्म के जानने का अधिकारी अर्थात् मुक्ति के योग्य होता है। जब तक अधिकारी न हो उसे ब्रह्म का ज्ञान होही नहीं सकता। यही कारण है कि आजकल लाखों करोड़ों मनुष्य अपने चित्त के बिगड़ने से ईश्वर के अस्तित्व तथा उसकी कृपा और शक्ति को नहीं मानते। यदि उलूक को सूर्य नहीं दीखता तो इसमें उलूक के नेत्रों का दोष है या सूर्य का प्रत्येक मनुष्य यही कहेगा कि सूर्य के कारण तो सब मनुष्य देखते हैं ऐसी दशा में उसका दोष कैसे हो सकता है ? निस्संदेह सूर्य के उदय में जबकि सब देखते हैं उलूक ही नहीं देखता। अतः उसी का दोष है।

प्र०—जब इन साधनों में मनुष्य पार होजावे तो क्या होगा ?

उ०—मल विक्षेप दो दोष जो मनुष्य को ब्रह्म ज्ञानी होकर मुक्त होने से रोकते थे वह दूर होजावेंगे। केवल एक आवरण दोष शेष रहगया। अब जीवात्मा इस योग्य होगया-कि आवरण दोष को निवृत्त करके ब्रह्म को जानले। उसे अब ब्रह्म के जानने की योग्यता होने के कारण उसके जानने की इच्छा उत्पन्न होजाती है क्योंकि उसने वेदों का पठन करते समय यह सुन लिया था कि ज्ञान से ही मोक्ष होती है अब ज्ञान के लिये श्रवण, मनन निदिध्यासन की आवश्यकता होती है।

प्र०—श्रवण किसे कहते हैं? उ०—ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्म निष्ठ गुरु से ब्रह्म के गुणों का श्रवण करना जैसा कि श्रुतियों में है और स्वयं ब्रह्म ज्ञान से मुक्त होकर, संसार को तुच्छ समझ कर कोई कामना नहीं रखता वही गुरु हो सकता है। टका पंथी अज्ञानी स्वामी गुरु कहलाने के योग्य नहीं, और न उनका उपदेश श्रवण के अन्तर्गत आसकता है।

प्र०—जबकि कर्मकाण्ड से प्रथम ही वेद पढ़ लिये, तथा वह उपदेश जिससे ब्रह्म ज्ञान होता है, वेदों के अन्तर्गत होने के कारण, पूर्व ही शिष्य ने सुन लिया, फिर दुबारा उपदेश की क्या आवश्यकता है?

उ०—जब प्रथम वेद पढ़ा था उस समय कर्म और उपासना के न होने के कारण मल विक्षेप का रोग, जो सैकड़ों जन्म के संस्कारों से उत्पन्न हो चुका है, निवृत्त नहीं हुवा था, अतः ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी न होने से उस समय के उपदेश से ज्ञान भी नहीं हुआ था, और जब ज्ञान हुआ तो दुबारा सुनने की आवश्यकता बनी ही रही।

प्र०—क्या दुबारा श्रवण से ज्ञान होजावेगा? उ०—जब छः प्रकार के लिङ्गों के साथ वेदों के वाक्यों का अर्थ विचारा जावेगा तब अवश्य ही ज्ञान होजावेगा।

प्र०—यह छः लिंग जो अर्थ जानने के लिये है कौनसे हैं।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तीच लिंगं तात्पर्य निर्णये॥

अर्थ—"उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति अर्थात् युक्तियों से अन्वेषण करना यह किसी श्रुति अर्थात् वेद मंत्र के जानने के लिंग है।

प्र०—उपक्रम किसे कहते हैं ? उत्तर–किसी विषय के सम्बन्ध में जितने बाह्यसाधन आवश्यक हों, उन को मिला कर उस का वर्णन करना उपक्रम कहाता है; जो बहुधा भूमि के रूप में होता है। प्र०व उपसंहार किसे कहते हैं ? उ०–अन्तिम परिणाम जिससे निकाला जाताहै उसे उपसंहार कहतेहैं।जहांपर किकिं कहा जाताहै, यह आशय है प्र०—अभ्यास किसेकहते हैं ? उ०—विषयको बारम्बार विचारना तथा उसकी सूक्ष्मता को जानने का प्रयत्न करना इसका नाम अभ्यास है। प्र०—अपूर्वता फल किसको कहते हैं ?

उत्तर–जो फल पहिले प्राप्त हो अर्थात् प्रत्यक्ष फल पर ही दृष्टि न हो, वरन् उसके सूक्ष्म तथा अपरोक्ष फलों का भी विचार करना अपूर्वता फल कहाता है।

प्र०—अर्थवाद किसे कहते हैं ? उ०-उसके गुणों का यथार्थतः वर्णन करना किन्तु जो गुण औरों से अधिक हो उसका भी वर्णन करना अर्थवाद कहाता है, इसे अत्युक्ति भी कहते हैं।

प्र०—उत्पत्ति अर्थात् युक्तियों से देखने का क्या अर्थ है ? उ०-अनुमान बहुत से साधनों द्वारा करना पड़ता है। अतः अतिव्याप्ति आदिक दोष का का परिहार और उसके पांचों लिङ्गों के सम्बन्धसे विचार करना आवश्यकहै।

प्र०—जब श्रवण से ज्ञान होकर मुक्ति होवेगी तब ? उ०-यद्यपि श्रवण से आत्मज्ञान होजायगा, जो मुक्ति का कारण है तथापि यदि मनुष्य बुद्धि हीन होगा, उसको ज्ञान नहीं होगा। वरन् असम्भावना तथा विपरीत भावना दो प्रकार के संशय उत्पन्न हो जावेंगे जिनके कारण मनन की आवश्यकता है

प्र०—असम्भावना किसे कहते है ? उ०'यद्यपि सहस्रों श्रुतियों से विदित होताहै तथापि शरीर और इन्द्रियों से पृथक् आत्मा को बुद्धि नहीं मानता। इस प्रकार का विचार असम्भवना है।

प्र०—विपरीत भावना किसे कहते हैं ? उ०-'बहुधा सुनने और विचारने पर भी अनात्म पदार्थों को आत्म तथा आत्म को अनात्म समझना'इस प्रकार का ज्ञान विपरीत भावना है। इनमें से असंभावना को दूर करने के निमित्त श्रवण के पश्चात् मनन होना आवश्यक है।

प्रश्न—मनन किसे कहते हैं ? उत्तर- जो कुछ वेदार्थ गुरुओं की वाणी द्वारा सुना है उसको युक्तियों द्वारा पूर्णतया सिद्ध करके हृदय पर अंकित

करने से असम्भावना को दूर करना है। जिस प्रकार कोई गंवार मनुष्य चंदन नहीं मानता तो उसको घिस कर अन्य उपाय से दिखा देते हैं। इसी प्रकार बुद्धि हीन आत्मा की सत्ता को नहीं मानता उसे युक्तियों द्वारा विश्वास करा देते हैं।

प्र०—विपरीत भावना के निवृत्त करने का क्या उपाय है? उ०-निदिध्यासन से विपरीत भावना दूर हो सकती है बिना निदिध्यासन के इसका दूर होना संभव नहीं।

प्र०—निदिध्यासन किसे कहते हैं? उत्तर-जो आत्मा बहुत सी श्रुतियों और युक्तियों से सिद्ध हुआ है, बस वही आत्मा है इस प्रकार का अटल विचार निदिध्यासन है।

प्र०—क्या आत्म ज्ञान होजाने पर संसारी कामों में मनुष्य फंसा रहेगा अथवा नहीं? उ० जिसको आत्मा का साक्षात् अर्थात् मानसिक प्रत्यक्ष न होगा वह तो श्रवणादि द्वारा ज्ञान होने पर भी संसार में फंसा हुआ दिखलाई देगा।

प्रश्न—हम आत्माके साक्षात् होने पर भी संसार में फंसा रहना देखते हैं

उत्तर—यदि ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म शेष रहे तो उसके भोगने के लिये ज्ञानी को भी उतने दिन तक शरीर में रहना पड़ेगा। क्यों कि और प्रकार के शेष कर्म तो ज्ञान से नाश होजाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म भोगने ही से नाश होते हैं।

प्रश्न- जब कर्मों का कारण मिथ्या ज्ञान नाश होगया तो उसके कार्य प्रारब्ध आदि का अवश्य नाश होजाना चाहिये नहीं तो कर्मों का तनिक भी नाश न होना चाहिये। क्यों कि यह नियम है कि कारण के नाश होने से कार्य का भी नाश हो जाना है।

प्र०—क्या उपादान कारण के नाश से उसके कार्य का नाश हो जाता है

उ०—प्रत्येक कारण के नाश होने से कार्य का नाश होने का नियम नहीं। जैसे रज्जू में सर्प का ज्ञान होने से कोई मनुष्य डर कर भागा और उसे चोट लग गई। अब प्रकाश आजाने के कारण सर्प का ज्ञान तो दूर होगया परन्तु उसके दूर होने से वह चोट दूर नहीं हो सकती।

इति

आत्मिक बल ॥

—०—

प्रिय पाठकगण ! आज कल हमारे अधिक भाई कार्य का आरम्भ करके मध्य में ही छोड़ देते दिखाई देते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उनको उस काम के करने की शक्ति न थी आप कहेंगे कि जब कि वह शिक्षित चिन्ता रहित और बलवान् हैं तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि उनमें उस कार्य के करने की शक्ति न थी हमने जहां तक परीक्षा की है उससे विश्वास हो गया है कि प्रत्येक कार्य का होना आत्मिक बल के आधीन है यद्यपि शारीरिक बल और धन का बल भी सांसारिक कार्यों के करने के लिये एक आवश्यकी पदार्थ है परन्तु आत्मिक बल के होने पर ये सब वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं और इनके होने पर आत्मिक बल का होना निश्चित नहीं और नाहीं इनसे आत्मिक बल उत्पन्न हो सकता है, अब प्रश्न यह होता है कि आत्मिक बल क्या पदार्थ है जिसके होने से समस्त कार्य पूर्ण रूप से हो सकते हैं और जिसके न होने से बहुधा धनों की विद्यमानता में भी कार्य नहीं हो सकता, इसका उत्तर यह है कि ज्ञान और प्रयत्न वाली शक्ति को आत्मा कहते हैं। और ज्ञान और प्रयत्न उसके गुण कहलाते हैं और गुणों के बढ़ने का नाम बल का बढ़ाना कहलाता है इसलिये आत्मा में ज्ञान और प्रयत्न की निर्बलता आत्मिक निर्बलता है और ज्ञान व प्रयत्न का बढ़ाना ही आत्मिक बल है, हमारे बहुत से मित्र कह देंगे कि "न्यायशास्त्र,, में जीवात्मा के ये लक्षण लिखे हैं, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न और ज्ञान तुमने पहले चार क्यों छोड़ दिये, और अन्त के दो क्यों रख लिये इसका उत्तर यह है कि पहले चार तो शरीरस्थ आत्मा के गुण हैं, उदाहरण—कोई मनुष्य हाथ से लकड़ी कुल्हाड़ी की शक्ति से काटता है। अब लकड़ी काटना कुल्हाड़ी से मिले हुये हाथ का कार्य है केवल हाथ का नहीं क्योंकि न तो बिना कुल्हाड़ी के हाथ काट सकता है और नहीं बिना हाथ की सहायता के कुल्हाड़ी काट सकती है जब कि दोनों में से पृथक् २ कोई भी काटने की शक्ति नहीं रखता और मिलकर बराबर काट सकते हैं तो वह मिले हुओं का धर्म्म है एक का नहीं।

इसी प्रकार सुख दुःख और इच्छा द्वेष सूक्ष्म शरीरके साथ आत्मा को प्रतीत होते हैं न कि एका की (अकेले) आत्मा को प्रतीत होते हैं और न अकेले शरीर को यदि अकेले आत्मा के गुण मान लिये जावें तो सुषुप्ति की दशा में भी इनका अनुभव होना चाहिये परन्तु सुषुप्ति की दशा में किसी को भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष विदित नहीं होते इससे निश्चय होता है कि यह आत्मा के धर्म नहीं यदि अकेले शरीर के मान लें तो मृतक में भी होने चाहियें परन्तु मृतक में यह गुण नहीं जिससे प्रगट होता है कि ये गुण आत्मा और शरीर के मेल से उत्पन्न होते हैं।

प्रिय पाठक महाशयो हमारे अनेक मित्र कहेंगे कि सुषुप्ति काल में आत्मा को ज्ञान नहीं रहता इसी कारण उस समय सुख दुःख आदि विदित नहीं होते नहीं तो आत्मा में यह गुण सदैव रहते हैं परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा किसी काल में भी ज्ञान और प्रयत्न से रिक्त नहीं हो सक्ता और किसी द्रव्य के गुण उसकी विद्यमानता में उसे छोड़कर जाही नहीं सकते फिर किस प्रकार माना जा सकता है कि चैतन्य आत्मा के गुण ज्ञान और प्रयत्न पृथक् हो जावें जब कि वह विद्यमान हो और प्रत्येक द्रव्य गुणों का समूह है तो द्रव्य के होने के लिये गुणों का होना आवश्यक है— परन्तु अधिकांश मित्र यह कहेंगे कि क्या कारण है, कि जो सुषुप्ति की दशा का ज्ञान प्रतीत नहीं होता, इसका उत्तर यह है, कि ज्ञान दो प्रकार का है एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान तो वह है कि जो बिना किसी इन्द्रिय और मन के संबन्ध के, बना रहता है जैसे अपने होने का ज्ञान, दूसरा ज्ञान पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जैसे— रूपज्ञान के लिये रूपवाली वस्तु और रूप के ग्रहण करने वाली इन्द्रियें अर्थात् चक्षु और रूप के प्रकाश करने की शक्ति जैसे सूर्य दीपक इत्यादिका होना आवश्यक है। आत्मा ज्ञानी होने पर भी बिना इन तीन पदार्थों के रूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। और शब्द ज्ञान के लिये कान, आकाश और शब्द का होना आवश्यक है इसी प्रकार बाह्य पदार्थों का ज्ञान बिना साधनोंकेहो नहीं सकता परन्तु अपने ज्ञान अथवा आन्तरिक पदार्थों के जानने के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं।

प्यारे पाठको ! ऊपर के दृष्टान्तों से आपने समझ लिया होगा कि जिन

पदार्थों के लिये साधनों की आवश्यकता है ये बाह्य पदार्थ हैं और जिनका ज्ञान बिना साधनों के होता है वह उसका अपना गुण है अब सुख दुःख इच्छा द्वेषका होना बिना मन की वृत्ति संयोग के हो नहीं सकता जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो इच्छा उत्पन्न होती है।

जब उसको बुरा समझते हैं तो उस में द्वेष हो जाता है और जिस पदार्थ का संयोग आत्मा के अनुकूल प्रतीत होता है उसे सुख मानते हैं और जब आत्मा के प्रतिकूल होता है, उसे दुःख कहते हैं इसलिये यह गुण मन के कारण से उत्पन्न होते हैं और सुषुप्ति काल में जब कि इन्द्रिय मन और बुद्धि अपने काम छोड़देते हैं तब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष सर्वथा नहीं रहते केवल ज्ञान और प्रयत्न जो आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं शेष रह जाते हैं, अब यह शङ्का होगी कि सुषुप्ति समय में आत्मा को किस वस्तु का ज्ञान रहता है और वह किस के लिये प्रयत्न करता है इसका उत्तर यह है कि सुषुप्ति काल में आत्मा को अपने होने का ज्ञान होता है और वह शरीर की उस न्यूनता को जो जागृत अवस्था के दुःखों से उत्पन्न होगई है पूरा करने के लिये प्रयत्न करता है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि जब महात्मा गोतम ऋषि ने अपने दर्शन में जीवात्मा के छः गुण माने हैं और महर्षि कणाद ने इस से भी अधिक तो तुम्हारा कहना किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकता इसका साधन यह है कि विचार पूर्वक महात्मा गोतम का दूसरा सूत्र तो पढ़ो जिसमें महात्मा गोतम ने इन गुणों को मिथ्या ज्ञान की सन्तानमें बतलाया है इसलिये ये चार जीवात्मा के गुण नहीं हो सकते, प्रिय पाठको ! महात्मा कणाद जी ने अपने वैशेषिक शास्त्र में आत्मा संयोग से ही कर्म माना है और बिना आत्मा के कर्म हो ही नहीं सकता जैसा कि लिखा है:—

आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म । वै० ५।१।१

जब आत्मा का हाथ के साथ सम्बन्ध होता है तब ही हाथमें कर्म अर्थात् कार्य करने की शक्ति होती है बिना आत्मा के संयोग के नहीं होती॥

तथा हस्त संयोगाच्चमुसले कर्म ॥ वै० ५।१।२

और जब आत्मा से युक्त हाथ मूसल से सम्बन्ध उत्पन्न करता है तो

मूसल में कार्य करने की शक्ति आजाती है यहां हाथ से सारे शरीर के अङ्ग से प्रयोजन हैं और मूसल से सर्व प्रकार के बाहरी शस्त्र अर्थात् साधन जिनसे मनुष्य कार्य्य लेते हैं इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिये।

मित्रवर्गों! जब यह निश्चय होगया कि आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न दो गुण हैं और इन दोनों का नाम आत्मिक बल और घटने नाम आत्मिक बल की हानि है।

तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन के बढ़ने और घटने का कारण क्या है। इसका उत्तर यह है कि संसार में हमें एक नियम विदित होता है कि जहां जिसके सदृश पदार्थ मिलते हैं वहां उस की उन्नति होती है जहां विरुद्ध मिलते हैं वहां हानि जैसे वर्षा ऋतु में जब कि चारों ओर पानी बरस रहा हो और ठण्डी पवन के झोंके वेग से चल रहे हों उस समय यदि आप एक दिया सलाई को गीली जलायेंगे तो कठिनता से जलेगी परन्तु उसको ग्रीष्म ऋतु में जब कि लू अर्थात् गर्म वायु बह रही हो जलाना चाहो तो बड़ी आसानी से जल जायगी दूसरे यदि रोगी को जिसको गर्मी के कारण ज्वर आता है गर्म औषधि देते चले जावें तो गर्मी के बढ़ने से रोग बढ़ता जायगा यदि ठण्डी औषधियां दी जावे तो रोग निवृत्त होजायगा इस से प्रकट है कि सदृश पदार्थों के संयोग से उन्नति और विरुद्ध के संयोग से हानि होती है।

अब जानना चाहिये कि कौन २ से पदार्थ हैं जो आत्मा को मिलते हैं उन से कौन २ अनुकूल और कौन प्रतिकूल हैं। इसका विचार करने से जहां तक ज्ञात होता है वे दोही पदार्थ हैं एक प्रकृति दूसरा परमेश्वर जिन से आत्मा सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जो चैतन्य और शरीर के सम्बन्ध से गति वाली प्रकृति परिवर्त्तन वाली और ज्ञान शून्य है, परमेश्वर ज्ञानस्वरूप और स्वाभाविक क्रियावान् आनन्दस्वरूप हैं प्रिय पाठक! जब कि प्रकृति ज्ञान शून्य और क्रिया रहित है और जीव ज्ञान सहित और क्रियावान् है तो जो प्रकृति से अपना सम्बन्ध करेंगे तो उस ज्ञान और क्रिया की उन्नति तो होती नहीं हां प्रकृति के गुण उस में प्रतीत होने लगेंगे यद्यपि प्रकृति में जीव के सम्बन्ध से क्रिया उत्पन्न हो जायगी तथापि कुछ अंश ज्ञान का भी संयोग से प्रतीत होगा, परन्तु जीव के यह दोनों गुण न्यून होते चले जायगे जितनी प्राकृतिक शक्तियां

जो उस के ज्ञान और क्रिया की शक्ति अधिक होती जायगी, जैसे जितने समय तक दीपशलाका धूप में पड़ी रहेगी उतनी ही तीव्र होती चली जायगी।

भ्रातृवर्ग ! अब यह तो सिद्ध हो गया कि आत्मा का बल ईश्वरोपासना है ॥

अनेक पाठक कहेंगे कि यह केवल कथन मात्र ही है परन्तु यदि वे विचार पूर्वक लौकिक इतिहासों को अवलोकन करें तो उन पर विदित हो जायगा कि आत्मिक बल ईश्वर भक्तों का ही भाग है।

अर्थात् अनुसाधन तो कीजिये कि क्या कारण था की राजा हरिश्चन्द्र इतनी आपत्तियों के उपस्थित होने पर भी अपने सत्य पर दृढ़ स्थिर रहा। क्या कारण था कि महात्मा रामचन्द्र जी ने पिता की आज्ञा पाते ही राज्य को तुच्छ समझ कर त्याग दिया और वन को चले गए, क्या कारण था कि लक्ष्मण जी ने सब प्रकार के सुखों को परित्याग कर भाई के साथ वन को जाना स्वीकार किया ? क्या कारण था कि सीता जी जैसी सुकुमाररानी ने वनों में भ्रमण करना स्वीकार किया और राज्यादि आनन्दों की कुछ भी इच्छा न की, क्या कारण था कि राजा मोरध्वज का शरीर चीरा गया तो भी आनन्द पूर्वक चीरे जाने से प्रसन्न चित्त रहा, क्या कारण था कि महात्मा भर्तृहरि जी ने अपने सारे राज्य को तुच्छ जान जङ्गल जाना स्वीकार किया ? क्या कारण था कि गुरु तेग बहादुर यवनों के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होने से, भयभीत न हुए ? क्या कारण था कि गुरु गोविन्द सिंह के दोनों लड़के दीवार में चुने जाने पर भी मृत्यु से न डरे, क्या कारण था कि महात्मा पूर्ण भक्त ने सहस्रों आपत्तियों को सहन किया परन्तु उसका आत्मा पाप की ओर आकर्षित न हुआ, क्या कारण था कि महात्मा हकीकतराय ने १६ वर्ष की अवस्था में यवनों के हाथ से मरना स्वीकार किया परन्तु धर्म को न त्यागा ? क्या कारण था कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने सारे भारतवर्ष को शत्रु बनाना ईंट पत्थर खाना उत्तम समझा परन्तु अधर्म का मूलोच्छेद किया और धर्म्म के विरुद्ध चलना महा पाप समझा आप विचारोगे तो प्रत्यक्ष ज्ञात होगा कि यह आत्मिक बल का ही कारण था कि जिसने इन महात्माओं को संसार के सन्मुख विजयी किया।

प्रिय पाठकवृन्द ! क्या आपने कभी विचार नहीं किया कि वह कौन से कारण हैं जिन्हों ने रानी पद्मनी को प्रचण्ड अग्नि में भस्म होकर मरना स्वीकार कराया, परन्तु यवन बादशाह की बेगम बनना अस्वीकार किया ? क्या

कारण था कि जिस ने राजा दाहर की रानी को चिता में जलकर मरने पर कटिबद्ध किया वह कौनसी शक्ति थी कि जिसने कृष्णाकुमारी को जलती हुई चिता पर बिठा दिया ? कहाँ तक गिनायें इस भारतभूमि में असंख्यात दृष्टांत हैं जिनके नाम सूर्य के समान इस संसार में प्रकाशित हैं । आप इसका उत्तर यही देंगे कि धर्म भाव इन में था जिसने इन सुकमार सतियों को प्रसन्नता पूर्वक इन आपत्तियोंके सहने पर सन्नद्ध कर दिया यह धर्म्म क्यावस्तु है केवल ईश्वरोपासना ! बस आप समझ गये होंगे संसार में धर्म्म और अधर्म्म या पाप और पुण्य जो दो शब्द हैं इन का आशय केवल ईश्वरोपासना और प्रकृति की उपासना है ईश्वरोपासना धर्म है जिससे आत्मिक बल मिलता और वह ऐसे उन्नति केकार्य करता है जिस से संसार में सुखों की प्राप्ति होती है दूसरे ईश्वरोपासना से ईश्वरीय शक्ति अर्थात् वैदिक ज्ञान की प्राप्ति होकर जीव की ज्ञान शक्ति बढ़ जाती है संसार में जितने योगी हुये हैं जिन्हों ने अपने अपने आत्मा को प्रकृतिसे अलग करके ध्यान की ओर लगाया है वे सब संसार में ज्ञानी और विद्वान् कहलाये और अब पर्य्यन्त उनका नाम व कार्य्य संसार में विख्यात है परन्तु जितने प्रकृति के उपासक हुये जिन्होंने आत्मिक हानि को प्राप्त किया वे दास होकर चले गये उन्हें जीवन में मूर्खता और दुःख ने आक्रमण किये रक्खा मरनेके पश्चात् भी कष्टके अतिरिक्त कुछ न मिला और उन्हें आज कोई जानता भी नहीं ।

प्रियवरो ! आत्मा एक राजा है जिसकी राजधानी यह शरीर है, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि मन इस के कर्म्मचारी हैं यदि यह राजा बलवान् होता है तो अपने कर्मचारियों पर शासन करता है और अपनी इच्छानुसार उनसे काम लेता है उससमय उस के कर्म्मचारी उस के दास होकर उसको प्रत्येक प्रकारका सुख देते हैं, परन्तु जिससमय निर्बल होजाता है उस समय कर्म्मचारी उसको दबा लेते हैं और वह प्रत्येक से विनय करता है और वह उन के लिये भोजनका यत्न करता है यद्यपि यह कार्य इन कर्म्मचारियोंका था कि अपना भोजन प्राप्त करते अर्थात् अपने विषयों को भोगते हुये भोजन अर्थात् बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते परन्तु आत्मा को निर्बल देखकर ऐसे आलसी और अहंकारी हो जाते हैं कि राजाको स्वयम् इनके भोजन का संदेह लगा रहता है उसकी सारी स्वतन्त्रता और प्रधानता बिक जाती वह अपने आपको राजा के स्थान में दास अनुभव करने लगता है अब उसका कार्य यह होता है कि साईस की भांति

घोड़ों के पालन पोषण में लगा रहे उसे अपने उस मार्ग का ध्यान तक नहीं रहता कि जहां जाना है और वह जिन कार्यों को प्रबलता की दशा में तुच्छ समझता था उस निर्बलता की दशा में उसको एक आवश्यक कार्य समझ लेता है और पदार्थों का ज्ञान उसे प्रबलता की दशा में सुगमता से हो सकता था अब वह उसके विचार में अधिक भारी दृष्टि आते हैं भ्रातृगणों यह तो आप जानते ही हैं कि जिस प्रजा का राजा अयोग्य है वह प्रजा सदैव अकृतकार्य रहती है इसी प्रकार जिस जाति का मुखिया अयोग्य है उसकी भी यही दशा होती है राजा का कार्य राजा से होता है दास से नहीं इसी प्रकार प्रबल आत्मा के कार्य निर्बल आत्मा से हो नहीं सकते और संसार में भी देखा जाता है कि जिस मनुष्य की इन्द्रिय उसके वश में नहीं उसका कुटुम्ब उसके वश में नहीं रहता और जो अपने कुटुम्ब पर शासन न कर सके वह अपने मुहल्ले पर शासन नहीं कर सकता, और जो अपने मुहल्ले पर शासन नहीं कर सकता वह अपने ग्राम पर शासन नहीं कर सकता और जो ग्राम पर शासन नहीं कर सकता वह प्रान्त पर शासन नहीं प्राप्त कर सकता और जो प्रान्त के योग्य नहीं वह देश पर क्यों कर शासन कर सकता है और जो एक देश पर भी शासन नहीं कर सकता है वह संसार पर किस प्रकार हकूमत कर सकता है यहां से पता मिलता है कि संसार में सब से बड़ी उत्तीर्णता की सोपान आत्मा का इन्द्रिय और मन पर शासन है जिसके लिये आत्मा को अत्यन्त भारी शक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि ये इन्द्रियें संसार के सहस्रों पदार्थों को मन के द्वारा सन्मुख करके आत्मा को धोका देना चाहती हैं परन्तु प्रबल आत्मा जिसका ज्ञान गुण परमात्मा की प्रबल शक्ति से सहायता पाकर उन्नति कर चुका है जिसको प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान है वह इन इन्द्रिय और मन के वशीभूत नहीं हो सकता जो इन्द्रियं और मन को वश करने योग्य बल आत्मा में रखता है वह कृत कार्य हो सकता है ॥

॥ इति ॥

* ओ३म् *

एक डाक्टर पादरी साहब का भोंदू जाट के साथ प्रश्नोत्तर।

एक डाक्टर पादरी साहब ईसाई मत का उपदेश और रोगों का निदान करते हुए जाटों के गांव में जा निकले वहां एक वृक्ष के नीचे तम्बू तान उपदेश करने लगे। प्रथम भागवत् इत्यादि पुराणोंका प्रमाण देकर हिन्दूओंके मत को खूब झूठा बतलाया तदनन्तर बाइबिल की उत्तमताओं का वर्णन करके कहा कि तुम लोग खुदावन्द ईसामसीह पर विश्वास लाओ तब वहां के रहने वालों में से जो बहुधा औषधियों के लालच से और बहुधा दृश्य समझ इकट्ठे होगये थे एक जाट जी ने, जिसका नाम भोंदू था जो गांव में सबसे अधिक मूर्ख प्रसिद्ध था पादरी साहब से कहा कि मैं गांव का रहने वाला हूं और अपढ़ और मूर्ख मनुष्य हूं आपकी बातों को अच्छी तरह पर नहीं समझता अगर आप किसी युक्ति से मुझको समझा देवें कि आपका मत सच्चा है तो मैं बहुत प्रसन्नता से उसे स्वीकार करूं।

पादरी साहब- कहो क्या बात तुम्हारी समझ में नहीं आई ?

भोंदू जाट- प्रथम मैं आप से यह निवेदन करना चाहता हूं चूंकि मैं एक नितान्त अपढ़ सर्वांश में मूर्ख नाम मात्र को मनुष्य हूं मुझको मूर्ख समझ कर गांव वाले मेरी बातों से बुरा नहीं मानते यदि कोई अनुचित शब्द मेरे मुंह से निकल जावे तो कृपा करके आप मुझको क्षमा करदें क्योंकि आप विचारशील हैं।

पादरी साहब-मूर्ख नहीं तुम सब गांव वालों से अधिक बुद्धिमान ज्ञात होते हो जो प्रभु ईसामसीह ने तुम्हारे आत्मा के भीतर प्रकाश किया तुम बिना भय वर्णन करो हम कुछ अप्रसन्न न होंगे तुम्हारे समान लोगों को ईश्वर बहुत प्यार करता है ऐसे ही लोग आसमान की बादशाहत में सम्मिलित होंगे

भोंदू जाट—खुदावन्द ईसामसीह कौन थे ?

पादरी साहब—खुदा के बेटे।

भोंदू जाट—खुदा के कितने बेटे हैं ?

पादरी साहब—केवल एक बेटा है।

भोंदू जाट—तब तो तुम्हारा खुदा अधिक भाग्यवान् नहीं है क्योंकि यदि वह बेटा मर जावे तो उसका जीवन नष्ट हो जावे।

पादरी साहब—ऐसा नहीं हो सकता ?

भोंदू जाट—अच्छा आप यह कहिये यदि खुदा का बेटा हो तो स्त्री अवश्य होगी क्योंकि बेटा बिना स्त्री के नहीं हो सकता।

पादरी साहब—खुदा को कोई स्त्री नहीं है।

भोंदू जाट—फिर वह किस के पेट से पैदा हुए।

पादरी साहब—मरियम के पेट से।

भोंदू जाट—मरियम कौन थी॥

पादरी साहब—एक स्त्री थी॥

भोंदू जाट—उसका कोई पति भी था या नहीं।

पादरी साहब—उसकी मँगनी यूसुफ नामी एक बढ़ई से हुई थी परन्तु विवाह होने से पूर्व अविवाहिता के पेट से ईसामसीह पैदा हुए॥

भोंदू जाट—क्या आपकी समझ में ऐसा हो सकता है ?

पादरी साहब—हां हो सकता है।

भोंदू जाट—मेरी समझ में तो आप का कथन नहीं आता कि बिना पुरुष के साथ संगति किये किसी कवारी या ब्याही के लड़का उत्पन्न हो जावे, यदि कहीं पर ऐसा हो भी जाता है तो हम गांव के रहने वाले गँवार लोग भी उस को मुख्य पुत्र नहीं कहते।

पादरी साहब—तुम बड़ा गँवार, आदमी है ऐसी बातें तुम जंगली आदमियों के यहां हुआ करती हैं सभ्य मनुष्यों की बातें जो वो कहें सब सच्ची होती हैं,

भोंदू जाट—दीन दयालु मैंने तो आप से पूर्व ही निवेदन कर दिया था, कि मैं गँवार मनुष्य हूं अगर कोई बेजा बात मेरे मुंह से निकल जावे तो क्षमा करें क्योंकि मुझको यह ज्ञान नहीं था कि झूंठे लोगों के साथ ऐसी वार्तालाप नहीं किया करते हम जंगली लोग तो उसको सच्च जानते हैं।

पादरी साहब—तुम अवश्य जंगली है तेरा नाम भोंदू बहुत ठीक गांव वालों ने रक्खा है जो शुद्ध शब्द को नहीं समझता फिर सभ्य मनुष्यों की बात को क्या समझेगा।

भोंदू जाट—दीनदयाल आप बुरा न मानें मैं जंगली, मेरा बाप, दादा, परदादा, जंगली आप काज़िब आप के बाप दादा काज़िब।

पादरी साहब—हम काज़िब नहीं काज़िब झूठे को कहते हैं जैसे तुम्हारे सदृश मनुष्य होते हैं।

भोंदू जाट—महाशय! अप्रसन्न न हो अज्ञानता के कारण मेरे मुंह से ऐसा निकल गया मुझको आप काज़िब नहीं किन्तु वाजिब कहें मैं अप्रसन्न न हूंगा यदि आप मजज़ूब हैं तो मजज़ूब ही सही हम गंवार जाट लोग इन बातों को नहीं समझते॥

पादरी साहब—इस बात को छोड़ो मूर्ख मनुष्य कोई दूसरी बात पूछो जो तुम्हारी समझ में आवे।

भोंदू जाट—बहुत अच्छा महाशय इन दिनों बहुत सी क्वारियों के पेट से लड़के उत्पन्न होते हैं क्या वे भी ईसामसीह हैं?

पादरी साहब—ऐसा नहीं हो सकता।

भोंदू जाट—हमारे गांव में थोड़े दिनों से एक मुदर्रिस आया है जो हमारे लड़कों को पढ़ाता है उस ने एक समाचारपत्र के भीतर से ये पढ़कर सुनाया है कि एक लड़की जिसका पति विवाह होने से दो दिन पश्चात् मर गया था और विवाह के समय उसकी उम्र केवल ५ वर्ष की थी परन्तु अब वह लड़की युवा होगई है एक लड़का पैदा हुआ है।

पादरी साहब—तुम लोग बड़ा मूर्ख है जो नहीं समझता वह लड़का जो उस लड़की से उत्पन्न हुआ हरामी बेटा है और ईसामसीह खुदा से उत्पन्न हुए थे इस लिये वह खुदा के बेटे हैं और खुदा भी हैं।

भोंदू जाट—भला जी तब उनकी आकृति आदमियों के विरुद्ध होगी जैसे घोड़ी और गधे से खिच्चर एक तीसरी प्रकार की आकृति पैदा होती है

पादरी साहब-तुम बड़ा गंवार, आदमी है ऐसी बातें जंगलियों के यहाँ हुआ करती हैं सभ्य लोगों के यहां नहीं।

भोंदू जाट—दीन दयाल! आप का कथन सब प्रकार ठीक है हम लोग निःसंदेह मूर्ख जंगलियों के बेटे हैं जैसा कि इतिहासों में प्रगट है यद्यपि आपके पूर्वजों की कृपा से कुछ कुछ बुद्धि हमको आने लगी है जो सूत कातने के लिये चरखे बनाते हैं परन्तु अब भी जंगलीपन हम लोगों में से नहीं गया क्योंकि यदि ऐसे न होते तो इतनी देर तक परिश्रम करके आपके समझाने से भी सब

और झूंठ की परीक्षा न कर सकते परन्तु ब्राह्मण लोग तो जंगली नहीं हैं वह पत्रा देखकर आपकी भांति परोक्ष की बातें बतलाते हैं।

पादरी साहब-उनकी बातें सब झूंठ और हमारी सच।

भोंदू जाट--हम कैसे जानें कि उनका झूंठ और आपका कहना सच है।

पादरी साहब--वह काला आदमी है और हम गोरा आदमी है।

भोंदू जाट--पुस्तक तो तुम्हारे और उनके पास एक ही प्रकार की हैं दोनों के पत्र श्वेत और स्याही काली है।

पादरी साहब--तुम बड़ा मूर्ख और झक्की आदमी है कौन सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आई जल्दी पूछ लो निष्फल बातों को छोड़ो।

भोंदू जाट--बहुत अच्छा दीनदयाल यह कहिये कि ईसामसीह में यह कौन सी अनोखी बात थी जो हम में नहीं है इस तरह तो सब खुदा के बेटे हैं हैं यदि चाहें तो अपने आपको भी खुदा भी कह सकते हैं।

पादरी साहब-सब नहीं हो सकते क्योंकि वह बातें हर एक में नहीं हैं।

भोंदू जाट--कल्पना करो कि वह सब बातें मुझ में विद्यमान हैं?

पादरी-- कैसे?

भोंदू जाट--जैसे ईसामसीह खुदा भी हैं और खुदा के बेटे भी और उनकी मां एक खातन और बाप खाती था इसी तरह मैं खुदा भी हूं और खुदा का बेटा भी हूं मेरी मां जाटनी और बाप जाट।

पादरी साहब--इस बात का क्या प्रमाण?

भोंदू जाट—आपकी बात का क्या प्रमाण

पादरी साहब—बाइबिल के भीतर लिखा है।

भोंदू जाट—मेरे हृदय के भीतर ऐसा लिखा है॥

पादरी साहब—बाइबिल को खुदा ने बनाया है।

भोंदू जाट—मेरा हृदय भी खुदा ने बनाया है।

पादरी साहब—तुमने कैसे जाना?

भोंदू जाट--आप इतने बड़े डाक्टर पादरी साहब होकर यह नहीं जानते कि हृदय को खुदा ने बनाया है जिसको बच्चे भी समझते हैं सम्पूर्ण संसार के मनुष्य हिन्दू मुसलमान ईसाई मूसाई परिडत मूर्ख हर एक से पूछलो कोई इनकार नहीं कर सकता।

पादरी साहब—तुम जानता है हृदय क्या वस्तु है?

भोंदू जाट—आप जानते हैं बाइबिल क्या वस्तु है।

पादरी साहब—बाइबिल एक कलामपाक है।

भोंदू जाट—हृदय वह वस्तु है जिसके द्वारा और सैकड़ों इसी प्रकार की पुस्तकें बनाई गई हैं।

पादरी साहब— हृदय को किसने बनाया ?

भोंदू जाट—परमेश्वर ने।

पादरी साहब—इसी तरह बाइबिल को भी परमेश्वर ने बनाया।

भोंदू जाट—मेरी बात का सम्पूर्ण संसार साक्षी है आपकी बात का कौन साक्षी है।

पादरी साहब—हमारी बात के ईसाई साक्षी हैं।

भोंदू जाट—जिस बात की एक जाति साक्षी हो वह ठीक या जिसको सब जातियां कहें वह ठीक।

पादरी साहब—जिस बात को हम कहें वह ठीक।

भोंदू जाट—यह आपने कैसे जाना इसी प्रकार तो हम भी कह सकते हैं।

पादरी साहब—प्रभु ईसामसीह की करामात से।

भोंदू जाट—प्रभु ईसामसीह में कौन २ सी करामातें थीं ?

पादरी साहब-उस ने सहस्रों मृतकों को जीवित किया, अन्धों को आंखें दीं, कोढ़ियों को चङ्गा किया, भूत निकाले, वह मरगया फिर ३ दिन के पश्चात् जीवित होकर अपने बाप के पास चौथे आकाश पर चलागया अब उस के दाहिने हाथ की ओर बैठा है।

भोंदू जाट—पहिले यह कहिये कि आकाश किसको कहते हैं ?

पादरी साहब—आज कल दार्शनिक लोगों के कथनानुसार तो आकाश कोई वस्तु नहीं केवल शून्य स्थानकी संज्ञा आकाश है परन्तु बाइबिल के अनुसार आकाश एक ठोस वस्तु है जिसके ऊपर खुदा और उसका बेटा दोनों बैठे हैं।

भोंदू जाट- इन दोनोंमेंसे दार्शनिक लोगों का कहना ठीक है या पादरी साहब लोगों का ?

पादरी साहब- पादरी लोगों का।

भोंदू जाट-पहिले तो अपने मुंहसे मियां मिट्ठू बनना आपको उचित नहीं यदि उचित है तो इस बातका कोई प्रमाण भी हो।

पादरी साहब-बाइबिल में जो लिखा है वह पूरा २ प्रमाण है।

भोंदू जाट-बहुत अच्छा महाशय जो आज्ञा शिरोधार्य आप यह तो कहिये कि आपके ईसामसीह जो खुदा के दाहिनी ओर बैठे हैं सदैव बैठे ही रहते हैं या कभी २ खड़े भी होजाते हैं और चल फिर सकते हैं या नहीं और दोनों आज कल क्या काम कररहे हैं ?

पादरी साहब-परमेश्वर सर्व शक्तिमान् है।

भोंदू जाट-मेरे प्रश्न का उत्तर आपने ठीक २ नहीं दिया अस्तु आपकी इच्छा जोआज्ञा वह सिरमाथे आप यह कहिये कि सर्वशक्तिमान् किसको कहते हैं ?

पादरी साहब-जो सब कुछ करसके।

भोंदू जाट-क्या परमेश्वर कोई अपना बाप भी बना सकता है ?

पादरी साहब—नहीं बना सकता।

भोंदूजाट-क्यों नहीं बनासकता जिसप्रकार बेटा बनालिया उसी प्रकार अपना बाप भी बना सकता है और मैं यह पूछना चाहता हूं कि उसने बेटा तो बनाया पोता क्यों नहीं बनाया क्योंकि इस संसार में हम ऐसा किसी को नहीं देखते जो अपने कुटुम्ब को उन्नति देना न चाहता हो फिर उसने अपनी निजकी सन्तान वंश क्या खोदिया ?

पादरी साहब-इन बातों को हम तुम लोग नहीं समझ सकते यह खुदा की बातें हैं उसको वही अच्छी तरह से जानता है।

भोंदू जाट-अगर आप अपने मत को अच्छी तरह से नहीं जानते तो क्यों गांव २ में उपदेश करते फिरते हो कि अपने मतको छोड़कर ईसाई मत में आजाओ।

पादरी साहब-हमको ईसामसीहको ऐसी आज्ञा है।

भोंदू जाट-क्या आपको ऐसी आज्ञा है जो बात स्वयं अपनी समझ में भी न आई हो उसको दूसरों को समझाओ ?

पादरी साहब-हम यह नहीं कहते कि खुदाकी सब बातों को नहीं समझते बहुधा बहुत सी बातें हम नहीं समझ सकते !

भोंदू जाट,किन २ बातों को आप समझते हैं वह बतलाइये।

पादरी साहब-सिवाय इस पिछले प्रश्नके और सब बातें समझते हैं।

भोंदू जाट-बहुत अच्छा महाशय अब यह तो कहिये कि आप के ईसामसीह

था मृतक से जीवित होकर आकाश पर चढ़गये थे तो कोई सीढ़ी लगाकर चढ़े थे या कुलांच मारकर जैसे बन्दर लंगूर कूद २ कर ऊपर चढ़जाते हैं या किसी और युक्ति से।

पादरी साहब–बिना सीढ़ी स्वयं चढ़ गये थे।

भोंदू जाट–इस बात को कौनसी युक्ति से सिद्ध किया!

पादरी साहब–जो बाईबिल में लिखा हुआ बहुत सच्ची युक्ति और पूरी २ प्रमाण है।

भोंदू जाट–जबकि आपकी बायबिल में लिखा हुआ बहुत पक्का प्रमाण है तो हमारे पुराणों में तो ऐसी बड़ी २ करामतें लिखी हैं कि जिनके आगे आप की करामातें समुद्र और बूंद की तुलना भी नहीं एक पुरान में एक राजा का हाल इसप्रकार से लिखा है जब कभी किसी शत्रु के साथ उसकी लड़ाई होती थी सायंकाल के समय अपनी सेना के लाखों मनुष्यों को जो लड़ाई में मारेजाते थे एक दम में जीवित करलेता था और शत्रु के मनुष्यों को मृतक छोड़ देताथा और २ ये क्या किन्तु इस प्रकार की हजारों और लाखों करामातें पुराणोंमें विद्यमान हैं बात बढ़ने के कारण वर्णन करना उचित नहीं समझता पहली बातोंको जाने दो अबभी बहुतेरे वैद्य लोग ऐसे विद्यमान हैं जो अंधों और कोढ़ियों को दवाओं के बलसे अच्छा करदेते हैं रहा भूत निकालने का कथन यह तो बहुत सहज बात है इस प्रकार के हजारों आदमी गाँव में इस समय भी विद्यमान हैं जो अपने सिरों को हिला २ कर और कूद २ कर भूतों को निकाला करते हैं इस प्रकार के आदमी बहुधा नीच जातियों में अवतार लिया करते हैं।

पादरी साहब—पुराणों में जो कुछ लिखा है वह सब झूठ है और वैद्य लोग औषधियों के बल से अच्छा करते हैं जैसे हम हैं पर ईसामसीह ने करामात के बल से चंगा कियाथा और आजकल के भूत निकालने वाले बड़े ठगिया हैं परन्तु पूर्वकाल के और ईसामसीह ठगिया नहीं थे।

भोंदू जाट—जिस तरह आपकी किताबों में लिखा है उसी तरह हमारी भी किताबों में लिखा है तुम्हारी किताब पर कौनसी खुदाकी मुहर लगीहुई है जो हमारी किताबों पर नहीं है फिर यह कैसे जानागया कि आपकी किताब का लिखा हुआ सच है और हमारी किताब का झूठ?

पादरी साहब—हमारी किताबों में जो कुछ लिखा है वह हजरत ईसामसीह के चेलोंने अपनी आंखोंसे देखकर लिखाहै इससे वह जाना जाताहै कि सचहै।

भोंदू जाट—आपने स्वयं अपनी आंखों से नहीं देखा।

पादरी साहब—निस्सन्देह हमने नहीं देखा।

भोंदू जाट-फिर आप ने कैसे जाना कि उन लोगों ने आंखों से देखकर सच सच लिखा है।

पादरी साहब- बाइबिल के अन्दर जो लिखा है वह सब सच है।

भोंदू जाट- सुनी हुई बात ठीक होती है या आँखों से देखी हुई।

पादरी साहब-आंखों से देखी।

भोंदू जाट-महाशय मैं आंखोंसे देखी बात कहताहूँ। कान लगाकर सुनिये—मेरे पास एक हाली नौकर था जो हल जोता करता था उसने लाखों मृतकोंको जीवित किया अंधो को आंखें दी,कोढ़ियों को चंगा किया, भूत निकाले मरगया तीन महीने के पश्चात् जीवित होकर विना सीढ़ी लगाये केवल एक बांसके द्वारा पहले दूसरे तीसरे इत्यादि सातों आकाशों पर सब आदमियों के सामने चढ जाया करता था और सातों आकाश पर एक चक्करके ऊपर दोनों पैर से खड़ा होकर लोगों को खेल दिखाया करता था उसके बाप और दादा भी उस में आकर सम्मिलित होगये थे, उन्होंने बहुत से गांवों में इस प्रकार की करामातें दिखलाई पर यह तीनों एक दमसे अलग होगये और अब परोक्ष शिला के ऊपर चौदहवें आकाश पर तीनों बैठे हैं और नरसिंहा फूकने की मश्क कर रहे हैं इसी तरह मेरी के २४ अवतार पहले वहां विद्यमान थे अब इन तीनों के चले आने से २७ होगये हैं प्रलय के होने से कुछ दिन पूर्व यह सब के सब पृथिवी पर उतरेंगे और ऐसे बलसे नरसिंहा फूकेंगे कि सम्पूर्ण संसार में उनका शब्द सुनाई देवेगा फिर उनमें से पिछला जो सबसे छोटा है परन्तु मान में अपने पूर्वजों का भी पूर्वज है सोनेके एक तख्त पर बैठकर न्याय करेगा केवल मद्द लोगों को वैकुण्ठ भेजेगा और सब को नरक में और चूंकि उसने मेरा नमक खाया है इस लिये मेरी आज्ञा को प्रसन्नता से मानेगा, मेरे कहने से मेरे विरोधियों को नरक में और पापियों को वैकुण्ठ में भेजेगा क्योंकि वह पूरा नमक हलाल है वह कहने के लिये सबसे न्यारा है परन्तु मुझको सम्मिलित रखता है कृपालु भी है मगर अपने स्वामी के लिये शिष्टाचार और उसकी तामील की कुछ परवाह नहीं करेगा जब मेरे यहां हल जोता करता था तब उसने मुझसे कहा था कि मैंने तुझको सबसे पहिले पैदा किया सूर्य चांद पृथिवी इत्यादि उस ने सब मुझसे पीछे बनाये हैं यदि वह मुझको पैदा न करता तो कुछ भी न करता

उसका होनो न होना बराबर था वह विशेष विशेषण सहित है परन्त कहने के लिये विना अपने मालिक अर्थात् मेरे विना वह कुछ नहीं कर सकता परन्तु फिर भी वह मेरा खुदा है और मैं उसका बंदा।

पादरी साहब- तुम्हारा कोई साक्षी है।

भौंदू जाट-आपकी बातका कौन साक्षी है॥

पादरी साहब-उसके दूत साक्षी हैं।

भौंदू जाट-उस के दूत कहां हैं उनको हमारे सामने बुलाओ?

पादरी साहब-हम नहीं जानते कहां हैं और न हम बुला सकते हैं।

भौंदू जाट-मेरी बात के सब गांव वाले साक्षी हैं जो इस समय तुम्हारे सामने विद्यमान हैं।

पादरी साहब-'बल' गांव वाला क्या जानता है।

गाँव वाले-दीन दयाल यह लट्ठमोगरी आदमी है इसके साथ आप निष्प्रोयोजन बोलते हैं इस से आप न जीत सकेंगे यहां तक कि आप के लार्ड पादरी भी इस के सामने दम मारने की शक्ति नहीं रखते यथार्थ बात यह है कि इस के पास एक हाली नौकर था जो जात का [illegible] था वो इस के यहां हल चलाया करता था किसी जोगी ने कुछ जड़ी बूंटी उसको बतला दी थी कितने ही आदमी आँखों से अंधे देह से कोढ़ी उसके पास आये और औषध के प्रभाव से अच्छे होकर चले गये कतिपय स्त्रियों को भूत चिपट गया था, वह एक राख की चुटकी उन के माथे पर लगाकर छू मन्त्र पढ़ देता था परमेश्वर जाने क्या बात थी वह अच्छे होकर चले जाते थे कतिपय रोगी मरने वाले आये किन्तु हम लोगों ने मृतक समझ कर उनका कफ़न भी तैयार कर लिया था परन्तु न मालूम कुछ उसकी औषध ने प्रभाव किया या क्या हुआ वो अच्छे हो गये एक बार वह स्वयं बड़ा रुग्ण हुआ तीन महीने तक मृतक पड़ा रहा न बोल सकता था न बात चीतकर सकता था उसके बाद वही परमेश्वर की कृपा से अच्छा हो गया उस का हाल सुन कर उस का बाप और दादा यहां आ गये फिर उस ने इस की नौकरी छोड़ दी वह तीनों नटों का तमाशा किया करते थे सात बांस बड़े २ लम्बे अपने पास रखते थे उन को एक दूसरों से बांध कर जमीन में गाड़ देते थे और रस्सों से सुदृढ़ बांध देते थे और सबसे ऊंचे सातवें बांसपर चढ़कर नरसिंह फूंककर खेल दिखलाया करते थे-वह बहुत ऊंचे अर्थात् आकाश में चढ़ने से छोटे २ दिखलाई दिया करते थे इसी तरह कुछ अरसे तक

वह बहुत से गांवों में तमाशा दिखलाते और भीख माँगते फिरा करते थे फिर वह अलक्ष्य होगये कुछ पता नहीं लगा इस कदर हाल हम को मालूम है।

पादरी साहब—'बस, झूठा आदमी तुम कैसे कहता था कि मेरी बात के सब आदमी साक्षी हैं।

भोंदूजाट—दीनदयाल आप पहले कह चुके हैं कि दार्शनिक लोगों के कहने के अनुकूल आकाश कोई वस्तु नहीं है यदि इस बात को माने, तब तो आकाशों के बनाने की कुछ आवश्यकता न थी परन्तु आप उन लोगों की बात को झूंठ बतलाते हैं और अपनी बातों को सच, इस लिये उन सातों बांसों के सन्मुख सात आकाश कल्पना किये गये इसी प्रकार से शेष वस्तुओं को भी समझलो जैसे पाठशाला के भीतर भारतवर्ष, यूरोप, एशिया, इत्यादि सम्पूर्ण संसार के चित्र रहते हैं वह नाम के बनाये जाते हैं इसी प्रकार आकाश भी नाप के बनाये थे।

पादरी साहब—लोगों का कहना झूंठ और पादरी लोगों का कहना सच और आकाशों की ऊंचाई ज्ञात नहीं है फिर नाप से कैसे उसका चित्र बन सकता है।

भोंदू जाट—आप के ईसामसीह आकाश पर कुलांच भरकर चले गये उस के पश्चात् हजरत मुहम्मद साहब अन्तिम पैगम्बर [दूत] आकाश के ऊपर चढ़कर उससे भी तीन आकाश ऊंचे थोड़ी देर में चले गये क्योंकि जब वह चले थे, उनकी चारपाई के पास पानी का भरा हुआ घड़ा रक्खा था पैरों की ठोकर लगकर वह लुढ़क गया था जब तक वह सात आकाशों तक पांच पांच सौ वर्ष का मार्ग तै कर के लौट आये तब तक वह पानी ढल रहा था इस से ज्ञात होता है कि आकाश बहुत दूर नहीं है उसी अनुमान से वह सातों बांस सात आकाश कल्पना किये गये हैं यदि आप अधिक ऊंचे जानते हैं तो भी कुछ आश्चर्य नहीं वह बांस दूसरी माप में आकाश की गणना में आजायेंगे।

पादरी साहब—नहीं २ सभ्य आदमियों का कहना सब ठीक होता है ईसामसीह में यह बात न थी वह आदमी जो जीवित हुए बिल्कुल न मरगये होंगे परन्तु मसीहने मृतकोंको चंगा किया था और आप खड़ा होकर आकाश पर चला गया बाइबिल के भीतर जो लिखा है वह बड़ी पक्की युक्ति है क्योंकि वह लोग जिन्होंने ईसामसीह का हाल लिखा है बड़े पवित्र और ईश्वरोपासक थे मछली, ककड़ी, अण्डा, मुर्गी ऐसे २ उत्तम पदार्थ खाकर जीवन व्यतीत किया

करते थे और बहुधा उनमें से जंगलों में भेड़ बकरियां चराया करते थे।

भोंदूजाट—हम लोग उन से भी अधिक पवित्र और ईश्वरोपासक उन की भांति किसी जीव को नहीं सताते और न किसी अपवित्र वस्तु का प्रयोग करते हैं क्यों कि अण्डों के भीतर बिलकुल अपवित्र वस्तु होती है जिस के नाम ही लेने से ग्लानि आती है और आप सभ्य लोगों के आगे वर्णन करते इस लिये डरता हूं कि कदाचित आप अप्रसन्न होजायें हम लोग परिश्रम करके हल जोतते हैं खेती करते हैं जो नाज उत्पन्न होता है उसको आप भी खाते हैं और दूसरों का भी पालन करते हैं और हम लोग आपके पैगम्बरों की तरह भेड़ बकरियां गायें चराया करते हैं और सर्वदा जंगलों में रहते हैं यदि आप को जङ्गली आदमियों की बातें बहुत प्रिय हैं तो मुझ पर क्यों विश्वास नहीं लाते क्योंकि जैसे वे जङ्गली थे वैसा ही मैं जंगली हूं वे मरगये मैं जीवित हू यदि कोई इस समय आप की ओर मारने को दौड़े तो वह तुम्हारी कुछ सहायता नहीं कर सकते परन्तु मैं लट्ठ दूं और तुम्हारे शत्रुओं का सिर तोड़ दूं।

पादरी साहब—जानवरों को सताने में कुछ दोष नहीं क्योंकि उनके भीतर जीवात्मा नहीं है।

भोंदू जाट—जिस तरह वनस्पतियों के भीतर आम, अमरूद, जामन, गुलाब फूल इत्यादि लाखों प्रकार के वृक्ष हैं इसी प्रकार पशुओं के भीतर आदमी, गाय, घोड़ा, गधा इत्यादि लाखों प्रकार के जीव हैं जिस प्रकार जीवन आम में विद्यमान है उसी प्रकार शेष अन्य वृक्षों में विद्यमान है इसी उदाहरण से जैसा जीवात्मा आदमियों के भीतर है वैसे ही पशुओं के भीतर है यदि कोई यह कहे कि वनस्पतियों में केवल आमके पेड़ के भीतर जीव है शेष वृक्षों के भीतर नहीं और वे सब वृक्ष आदमियों के वास्ते बनाये हैं जैसा उसका कहना झूठ है इसी तरह जो मनुष्य कहता है कि केवल आदमियों के भीतर जीव है पशुओं के भीतर नहीं और यह सब आदमियों के भोजन के लिये बनाये हैं उसका कहना भी झूठ है जैसा वृक्षों के भीतर आम इत्यादि दूसरों से उत्तम है जिससे दूसरों को सुख मिलता है इसी तरह पशुओं के भीतर आदमी उत्तम हैं जब कि इससे दूसरों को सुख पहुंचे यदि कोई विरुद्ध इसके काम करे अर्थात् दूसरों को सुख के बदले दुःख देवे उससे नीच कोई नहीं है उसको जीवित रहने से मरना उत्तम है दूसरे पशु गाय इत्यादि घास फूस खाते हैं और अमृत तुल्य दूध देकर दूसरों को सुख पहुंचाते हैं और अपने आप दुःख उठाते हैं और दूसरों की

उनसे उसकी शक्ति के अनुकूल जैसा कि काम कर सकता हो उस से काम लेकर स्वयं लाभ उठाओ और समय के पूर्ण हो जाने पर वह भी स्वतन्त्र हो जाय यदि यह इच्छा न होती तो लाभ पहुंचाने के गुण भी उनमें न रखता जैसा कि गाय है उसके जीवित रहने से चार लाख पचहत्तर हजार सुख देते हैं और आदमी सम्पूर्ण संसार की अच्छी २ वस्तुयें खाता है परन्तु उसके बदले जो जो वस्तुयें इससे प्राप्त होती हैं वो सब की सब अपवित्र हैं इस से सिद्ध होता है कि इस बात में आदमी पशुओं से न्यूनकक्षा रखता है एक उत्तम वस्तु जो उसके भीतर है वह बुद्धि है जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा को पहिचान सकता है दूसरों को लाभ पहुंचा सकता है यदि उसने इसने काम न लिया या आत्मा को पहिचानने का यत्न न किया न दूसरों का भला किया बल्कि उलटी हानि पहुंचाई तो जानो कि उससे जानवर अच्छे हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि आप लोग बुद्धिमान् होकर यह नहीं सोचते कि खुदा को आपके साथ कौनसी मैत्री और इनसे कौनसी शत्रुता है जो दूसरे पशुओं को कष्ट दिलाने को तुम्हारा भोजन बनाया फिर उस पर आश्चर्य यह है कि आप लोग परमेश्वर को दयालु और न्यायकारी भी बतलाये जाते हैं ऐसे जैसा अत्याचारों का माथे थेप कर आप लोगों ने उसको अच्छे आदमियों से बुरा बना दिया। शोकमहा शोक आपकी बुद्धि और विद्या पर जो अपने हाथों से गला काट रहे हो, और नहीं चेत करते। कल्पना करो एक मनुष्यने आपको बहुत कष्ट दिया आज्ञा देने वालेने उस अत्याचारी को पकड़कर आपके अधिकार में दिया कि जिस तरह तुम्हारा मन चाहे इसे दण्ड दो इस दशा में यदि आप बुद्धिमान् होंगे तो उस आदमी से अपने घोड़े के लिये घास खुदवावें या खेतों के भीतर माल पुरवावेंगे या और कोई उसकी योग्यता के अनुकूल ऐसा काम उससे लोगे जिससे आपको सर्वदा लाभ होता रहे और उसको भी रोटी मिलती रहे यदि आप यह न करके इसको यह चाहो कि मारकर खा जावें तो इसमें प्रथम तो आपकी प्रत्यक्ष हानि है दूसरे ऐसे कठिन दंड से डर है कि हाकिम आपसे अप्रसन्न होजावे और उलटे आपको लेने के देने पड़जावें फिर आप किस भूल में भूले हुए हो कहावत प्रसिद्ध है कि—

"कांटा किसी के मत लगा गो मिस्लगुलफूला है तू।
वह हक़में तेरे जहर है किस बात पर भूला है तू॥"

क्योंकि हम तुम और सब पशु सब उसकी प्रजा हैं और बादशाह के सामने

सब बराबर हैं उसने जो उनको आपके अधिकार में किया इसी कारण से आप ४७५००० आदमियों के लिये एक दिन का भोजन मिल सकता है और उस को मारडालने से केवल ७० या ८० आदमी एक रोज अपने पेट को समाधि (क़ब्र) बना सकते हैं फिर यदि भविष्य में दूध की आवश्यकता पड़े तो उसका मूत्र भी मिलना दुर्लभ है।

पादरी साहब—काले आदमियों की बात स्वीकार करने योग्य नहीं होती।

भोंदू जाट—धौले आदमियों की बात भी स्वीकार करने योग्य नहीं होती! प्रथम तो हम लोग काले नहीं होते हैं कश्मीर के रहने वाले भी तो हमारे भाई हैं जो आप लोगों से भी अधिक गोरे होते हैं हमारी संस्कृत पुस्तकों में पश्चिम के रहने वालों को बिडालाक्ष लिखा है जिस के माने हैं बिलाव कीसी आंखों वाले। काले तो हबश के देश वाले होते हैं सो आप लोगों ने धन के घमण्ड में आकर हठसे हमारा काला आदमी नाम रख लियाहै जैसे मुसलमान बादशाहों ने आर्य्यों से, कि जिसके माने श्रेष्ठ और ईश्वरपूजक के हैं "हिन्दू" नाम रख लिया था जो चोर डाकू मूर्तिपूजक इत्यादि का नाम है इस के सिवाय आपके ईसामसीह इत्यादि भी काले ही आदमो थे क्योंकि वो एशिया के रहने वाले थे यूरोप के नहीं फिर उनकी बातों को क्यों स्वीकार करते हो यदि आप हठ से यह कहें कि वे लोग काले नहीं थे केवल तुम ही लोग काले हो तो आपके कथन के अनुकूल स्वरूप से काले हैं परन्तु हमारा मन आप लोगों के तुल्य काला नहीं है जिसके अन्दर से यह कच्ची बातें आपको सुना रहे हैं चूंकि आप का हृदय काला है इसलिये आप सच और झूंठ में भेद नहीं कर सकते आपकी यह दशा है कि एक मनुष्य ने बन्दर न देखा था उसके गुरु ने कुत्ते को बन्दर बतलाया उसने इस बात को अपने ध्यान में इतना पक्का करलिया कि हजार कोई समझावे कि यह कुत्ता है बन्दर नहीं परन्तु वह कदापि नहीं मानता था। सो ऐसी हट करना आप के जैसे बुद्धिमान् लोगों को नहीं चाहिये सचको स्वीकार करना चाहिये और झूंठ को छोड़ना उचित है।

पादरी साहब—तुम बड़ा 'फूल' (मूर्ख) है तुमको किस तरह समझावें अच्छा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस बात को तुम मानते हो या नहीं।

भोंदू जाट—ग़रीबपरवर मैं बड़ा 'फूल' नहीं हूं बड़े तो हजूर हैं रही दूसरी बात भैंस और लाठी की उसको हम मानते हैं।

पादरी साहब-आज कल हमारा राज्य है जिस बात को हम कहें उसको

सच जानो और वालों लोगों का कहा हुआ सब झूंठ हमारी बातों में जरा भी शुबहा मत करो तभी तुम्हारा कल्याण है।

मौलू जाद—राज्य होना और बात है और धर्म्म का सच्चा होना और बात है। हां राजाने तो मनादी करादी है कि वह किसी के धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं करते और सब को अपने धर्म के मानने की स्वतन्त्रता देदी है फिर तुम्हारी बातें कैसे सच्ची हो सकती हैं मनुष्य को योग्य है कि इस राज्य और माया को छोड़ अपनी मृत्यु और अपने पैदा करने वाले परमेश्वर को हर समय स्मरण रक्खें और ऐसा काम कदापि न करें जो न्याय के विरुद्ध होवे। और जो प्रतिज्ञा करते हैं कि हमारा राज्य है यह कथन भी आपका ठीक नहीं है आज कल राजराजेश्वरी श्री विक्टोरिया माई का राज्य है हम तुम सब लोग उसके बेटे हैं कोई बेटा आपकी तरह योग्य और कोई हमारी तरह मूर्ख परन्तु मां के सन्मुख बराबर प्यारे हैं उसके राज्य में राज विद्या की उन्नति होती जाती है जिस तरह दूसरे बादशाहों की बनाई हुई इमारत वग़ैरः अब तक उनकी स्मारक हैं इसी तरह यह विद्या की और धार्मिक बातों की स्वतन्त्रता हमेशा तक यादगार रहेगी इसके अतिरिक्त आप को राज्य का अभिमान मिथ्या है हमेशा न कोई रहा न रह सकता है पहले जमाने में सैकड़ों बरसों तक आर्यों ने इस मुल्क में चक्रवर्ती राज किया है और बिगड़ी हुई हालत में महाराज युधिष्ठिर से लेकर पृथ्वीराज तक कुल पांच हजार वर्ष तक राज्य इनका स्थिर रहा है कदाचित इन बातों को आप झूंठ बतावें क्योंकि आप की किताबों के अनुसार केवल पांच छः हजार वर्ष पृथ्वी की उत्पत्ति को हुए हैं और उस से पूर्व असंख्यात वर्षों से परमेश्वर खाली बैठा था और महाप्रलय के पश्चात् सदा के लिये खाली बैठा रहेगा अस्तु इन बातों को जाने दो। जिस प्रकार आप विचार करते हैं कुछ काल पूर्व मुसलमान भी ऐसा विचार किया करते थे आपके पश्चात् जो आवेगा वह भी ऐसा विचार करेगा क्योंकि जीव अल्पज्ञ है हां जिसका यश सदैव बना रहे वह भाग्यशाली है और जिसका

अपयश सदैव बना रहे वह भाग्यहीन है नौशेरवां बादशाह कहां है परन्तु उसके न्याय के कारण अब तक उसका शुभनाम चला जाता है और बराबर चला जावेगा इसको भाग्यशाली समझो। इन दिनों विक्टोरिया माई के राज्य की बदौलत विद्या की उन्नति यहां तक हो गई है कि मेरे सदृश गंवार जाट हल के जोतने वाले अपढ़ भेड़ बकरियों के चराने वाले सच और झूठ को समझने लगे उनको भी भाग्यवान समझो परन्तु शोक है आप लोगों पर जो बुद्धिमान् होकर भी नहीं समझते पूर्व समय में लूथर साहब ने पोप लोगों और बाईबिल की भूलें निकाली थीं परन्तु वह भी केवल मोटी मोटी भूलों को निकाल सके परन्तु कुल भूलों को न निकाल सके, आजकल विद्या के समय में उन भूलों को निकालना आरम्भ कर दिया है परमेश्वर हमारी माता विक्टोरिया महारानी और उसके राज्य को स्थिर रक्खे। कुछ दिन पश्चात् सब झूठी बातों का अन्त होकर केवल एक वेद मत रह जावेगा वह समय बहुत निकट है जब कि इंगलिस्तान के बुद्धिमान लोग उसकी सचाई से भिज्ञ होकर उसको स्वीकार करेंगे क्योंकि सच सदैव प्रबल रहा करता है और आप जो हमको घृणा की दृष्टि से देखकर जंगली समझा करते हैं यदि हम लोग न होते तो आपको खाना भी प्राप्त न होता इसलिये हम लोग गवर्नमेन्ट के कमाऊ बेटे हैं और आप खाऊ—

पादरी साहब-तुम कहता है कि हम बिलकुल अपढ़ हैं फिर लूथर इत्यादि का हाल तुमको कैसे ज्ञात हुआ—

भौंदू जाट-आपके पैगम्बर साहब ने कुरानशरीफ़ के तुल्य बड़ी किताब गुमराह लोगों का कैसे सुनाई परन्तु मैं उनके बराबर होनेका दावा नहीं करता बात यह है कि गांव में जो मदरसा हो गया है उसके अन्दर छोटे २ लड़के इन कहानियों को पढ़ा करते हैं उनसे सुनकर हमने जाना।

पादरी साहब- वेद तुम लोगों का मत नहीं है आर्य समाज वालों ने एक नया मत खड़ा किया है तुम्हारे मतकी भागवत इत्यादि गड़बड़ पुस्तकें हैं सो

उनकी भूलें तुमको समझा चुके यदि आवश्यकता हो तो और भी समझा सकते हैं ॥

भोंदू जाट– हमारे मूल मत वेद हैं जब से सृष्टि पैदा हुई है तब से वेद मत है और जब तक वह रहेगी तब तक वह रहेगा ॥

पादरी साहब– जब आर्यसमाजें नहीं बनी हुईथी उसवक्त वेदमत कहां था,

भोंदूजाट–वेदमत तब भी विद्यमान था जैसे बादलों के हो जाने से सूर्य छिप जाता है इसी प्रकार से अविद्या की ओट में छिपा हुआ था जैसे परमेश्वर नित्य है ऐसे ही उसकी वेद विद्या भी नित्य है जिसप्रकार आज के दिन हजूर उपदेश करने को तशरीफ़ लाये हैं इसी तरह कुछ दिन पूर्व कुछ आर्यसमाज वाले हमारे गांव में आये थे उन्होंने हम लोगों को यह समझाया था कि सिवाय वेद मत के और सब मत विश्वास के योग्य नहीं जो जो बातें उन्होंने हम लोगों को समझाईं वे सब हमारी समझमें आ गई थीं थोड़ी दूर पर एक आर्यसमाज अजमेर का सदस्य कुछ दिनसे आया हुआहै उसके यहां मेरा भाई नौकर है यदि आप फरमावें तो मैं जाकर उनको बुला लाऊं फिर आप उनसे शास्त्रार्थ करके परास्त कर देंगे तो हम लोग निस्सन्देह आपका मत स्वीकार कर लेवेंगे ।

पदरी साहब– आर्यसमाज वाले पागल हैं वे लोग भ्रमित करते फिरते हैं उनका कहना मत मानो, जो हम कहें सच जानो ।

भोंदू जाट– अच्छा यदि उनसे शास्त्रार्थ करते हुये भय लगता है तो हमको समझा दो हम तुरन्त ताड़ जावेंगे ।

पादरी साहब–तुम लोग भी उनकी बातों को सुनकर दीवाना हो गये ।

भोंदू जाट– गरीबपरवर हम लोग दाना नहीं दाना आप हैं कृपा करके हमको समझाओ अगर नहीं समझा सकते तो फिर आपसे हम गंवार ही अच्छे हैं ।

पादरी साहब– तुम क्या बोला ?

भोंदू जाट– जो आपने सुना सोई बोला ।

पादरी साहब– हमने क्या सुना ?

भोदू जाट– जो हमने बोला सोई सुना ।

पादरी साहब– तुम बड़ा बदमाश है तुम हमसे अच्छा कैसे हो सकता है । तुम अपढ़ हम पढ़ा हुआ, तुम गांव का रहने वाला हम शहर का, तुम्हारा काला रंग हमारा गोरा, तुम गाँव के रहने वालों के सदृश टूटी फूटी एक बोली जानता है हम तेरह भाषायें जानते हैं, फिर तुम हमसे अच्छा कैसे हो सकता है

भोदू जाट– बड़ा जो शब्द है वह परमेश्वर के वास्ते है उससे बड़ा कोई नहीं और बदमाश वह होता है जो बुरे काम कर के माश (आजीविका) जैसे अंग्रेजी पैदा करते हैं, हम अच्छे काम करके माश पैदा करते हैं इसी लिये नेक माश हैं और बदमाश वो लोग होते हैं जो खुद अपने आपतो नहीं समझते परन्तु लोगों को गुमराह करते फिरते हैं और अपनी आत्मा के विरुद्ध बोलते हैं जब महीना हुआ थैलियां की थैलियां वेतन के रुपयों की घर में रख लेते हैं, सिवाय कुछ नहीं करते उमदा सवारियों में बैठे २ फिरते हैं, हम अपढ़ हैं परन्तु आपका पढ़ा होना किसी काम का नहीं क्योंकि आप अपढ़ आदमियों को नहीं समझा सकते एक जानवर होता है जिसको हजार दास्तान कहते हैं हजारों किस्म की बोलियां जानता है अगर बोलियों के जानने से बुजुर्गी होती तो वह सब से अधिक बुजुर्ग गिना जाता बुजुर्ग वह हैं कि जो आत्मा और परमात्मा को जानते हैं और नेक काम करके माश पैदा करते हैं खुद भी खाते हैं और दूसरों का भी भला करते हैं और शहरों के अन्दर रहने से कोई बड़ाई नहीं होती अच्छे काम करने से बड़ाई है चाहें कहीं पड़ा हो और गोरे होने का आपको घमण्ड है यह भी व्यर्थ है देखो तुम्हारी आंख के बीच में जो काली पुतली है अगर वह जाती रहे तो तुम्हारी आंख किसी काम की न रहे, इस के सिवाय काले और गोरे सब परमेश्वर के बनाये हुए रङ्ग हैं इन में दोष निकालना परमेश्वर की कारीगरी में दोष निकालना है हम आप से इस वास्ते अच्छे हैं कि हमारा आत्मा अन्दर से पवित्र है जो विचार हमारे मन में हैं उन्हीं को साफ २ सत्यता के साथ वर्णन करते हैं परन्तु आप हृदय में समझते हैं कि हमारा कहना ठीक है मगर हठधर्मी से आत्मा के विरुद्ध होकर उलटा बोलते हैं इसलिये

आप अपनी आत्मा के शत्रु हैं आत्मा के शत्रु दो तरह के होते हैं एक ज्ञान से दूसरे अज्ञान से जैसे दो आदमी हैं जिनको परमेश्वर ने बड़ी २ आंख दी हैं उन में से एक आंखों को बन्द किये हुए भूल में मस्त होकर विष को पी रहा है और आंखें खोल कर देख रहा है जानता है कि यह विष है, इस के खाने से मैं मरजाऊंगा मगर हमेशा से थोड़ा २ खाते इतना आदी होगया है कि उस को नहीं छोड़ सकता बराबर खाये जाता है–सो ऐसे मनुष्य आप हैं जो जान बूझ कर आत्म हत्या कर रहे हो। अगर आप को ईसाई मत सच्चा मालूम होता है तो बुद्धि पूर्वक विचार करके हमको समझाओ–यह उत्तर ठीक नहीं है कि बाईबिल में जो लिखा है यह बहुत प्रौढ़ युक्ति और पूरे २ प्रमाण हैं और आप अप्रसन्न होते हैं–उपदेशक लोगों को अप्रसन्न नहीं चाहिये।

पादरी साहब-तुम्हारे साथ इस समय बात अधिक नहीं कर सकता हमारी खानारी (मध्यान्ह भोजन) का समय हो गया है और तुम्हारे साथ बोलते २ हमारा दिमाग़ थकगया है।

मौदू जाट–अच्छा हजूर जो हुक्म हम भी अब जाते हैं, हमारे भी अब हल जोतने का वक्त है और हमारा दिमाग़ आपके साथ बातें करने से बहुत प्रसन्न है शोक है तो इतना है कि आप अपनी आत्मा के अन्दर नहीं सोचते कि सच क्या और झूँठ क्या है अगर आप हम को नहीं समझा सकते तो किसी बड़े पादरी साहब को बुलाओ और अपनी पुस्तक के सत्य होने की परीक्षा करादो नहीं तो इन झूंठी बातों को छोड़ दो जब कि एक मूर्ख आदमी के साथ आपका यह हाल हुआ है फिर विद्वानों के सामने तो मुँह से एक हरफ़ भी न निकालता होगा अफसोस है कि आप की विद्या पर यह कहावत चरितार्थ होती है।

शेर–नीम तन दर गोर अन्दर नीम तन दर जिन्दगी।
बस कि बस मालूम शुद या फन्दगी या फन्दगी॥

पादरी साहब–तुम कहता है कि हम एक शब्द भी नहीं पढ़ा फिर यह फ़ारसी का शेर तुमने क्यों बोला।

भौंदू जाट–जनाब आली हमारे गांव के रहने वाले चन्द लड़के जो पाठशाला में पढ़ा करते हैं आपस में शास्त्रार्थ किया करते हैं जब उन में से कोई निरुत्तर होजाता है, तब दूसरे लड़के उसको हंसी की तरह बोला करते हैं उस को सुन कर वह लड़का लज्जा कर फिर बोलने लगता है जैसे बैल चलते २ रुक जाता है तब चाबुक के जोर से उसको चलाते हैं या दीपक जिस समय बुझने लगता है थोड़ासा तेल डालने से उसमें प्रकाश आजाता है इसलिये मैंने यह शेर पढ़ा है ताकि आप के अन्दर प्रकाश आकर फिर बोलने लगो।

पादरी साहब–तुम बड़ा शरीर और गुस्ताख आदमी है यद्यपि हम को मजिस्टेृटी के अधिकार नहीं जोकि तुम को दण्ड देसकें परन्तु हमारे भाई दूसरे साहब लोग जो तुम्हारी इन बातों को सुनेंगे तो निस्सन्देह दण्ड देंगे।

भौंदू जाट–गरीबपरवर हम कङ्गाल नहीं हैं कङ्गाल वह होते हैं जो भीख मांगते फिरते हैं या चन्दे से जिनको वेतन मिलता है और मजिस्टेृट बुद्धिमान् होते हैं जो भले बुरे में भेद कर सकते हैं यदि ऐसे न होते तो उनको ऐसे प्रतिष्ठित पद भी न मिलते चूं कि पांचों उंगलियां बराबर नहीं होतीं अगर हजारों में कोई एक आध आपके विचार का होतो हम उसका कुछ भय नहीं करते क्योंकि हमने सब की भलाई का काम समझ कर सत्यभाव से ऐसा कहा है ताकि इन बातों को सुन कर लोग गुमराही से सीधे मार्ग पर आजावें और हम तमाम इङ्गलैंड के बुद्धिमानों को अपना हाकिम जानते हैं उन का गौरव करते हैं आप भी हमारे हाकिम हैं लेकिन आप की टोपी के ऊपर एक काला सांप बैठा ही है जिसके काटने से आप कदापि न बचें उसको देख कर हम बाध्य हैं कि जिस तरह से हो सके उस मूजी से आप को बचायें उस दशा में अगर आप की टोपी के ऊपर अपनी लाठी ऐसे बल से फेंकके मारें कि जिस से वह सांप आप के सिर से दूर होजावे तो आप क्या न्याय कारी होकर उसको हमारा अपराध समझेंगे? हम आशा करते हैं कि हमारा सत्यभाव देख कर आप हम से प्रसन्न होंगे।

पादरी साहब–ये बकरा जो तुम्हारी आंखों के सामने बंधा हुआ है हमने

गांव में से अपने भोजन के वास्ते मंगाया है तुम बतला सकता है कि इस ने क्या पाप किया था ।

भोंदू जाट- कार्य को देख कर कारण का ज्ञान होता है जैसे कारागृह के कैदियों को देखकर कोई नहीं बतला सकता कि किस २ अपराध के कारण बांधे गये हैं परन्तु उनको देखकर अनुमान अवश्य करते हैं कि किसी अपराध के करने से यह दण्ड इनको मिला है क्योंकि कोई मजिस्ट्रेट ऐसी अत्याचारी नहीं है कि बिना अपराध किसी गरीब को पकड़ कर भेज देवे-यद्यपि जीव अल्पज्ञ है तब भी जान बूझकर वह ऐसा काम नहीं करते इसी प्रमाण के अनुकूल हम अवश्य कह सकते हैं कि किसी न किसी पाप कर्म के करने से इस बकरे की यह दशा हुई है कि पराधीन होकर गला काटने के लिये आप के आगे बंध रहा है क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञ और पूरा २ न्यायकारी है और बिना सबब किसी को दुख नहीं देना इस बकरे के प्रमाण से आज के रोज परमेश्वर देखने वाले जीवों को उप देश करता है कि हे जीवो ! जिस प्रकार यह बकरा पाप कर्मों के आधीन होकर सिर कटाने या भूखों मरने या जिस प्रकार की चाहो कष्ट देने के लिये अनाथ होकर तुम्हारे आधीन है अगर तुम लोग भी यही पाप कर्म करोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी ।

पादरी साहब—हम तुम्हारे सदृश पागल आदमी के साथ और अधिक नहीं बोल सकते हैं केवल यही कहते हैं कि पवित्र पुस्तक के अन्दर जो मुक्ति का मार्ग है वह यह है कि केवल खुदावन्द ईसामसीह के ऊपर विश्वास लाने से बैकुण्ठ मिलता है दूसरे तौर से नहीं।

भोंदू जाट-यद्यपि मैं मूर्ख हूं परन्तु एक कथा आपको सुनाता हूं कृपा करके कान लगाकर सुनो देखो एक पक्षी होता है जिसे पतङ्ग कहते हैं वह वर्षाॠतु में बहुधा रात के समय दीपक जलता हुआ देखकर बहुत प्रसन्न होकर यह चाहता कि किसी तरह पर उस के पास पहुंच जाऊं तब मुझ को बडा सुख मिले मगर अपनी अल्पज्ञता के कारण वह यह नहीं समझता कि पहुंचने के साथ ही दीपक की लूसे अधमरा होकर तेलके भीतर गिर पड़ूंगा और इसी प्रकारविह्वल

होकर तेल के भीतर डूबकर मर जाऊंगा इसी तरह आप लोगों का हाल है जो अपने बुरे कर्मोंकी ओर नहीं ध्यान नहींदेते मगर एक साढे तीन हाथके आदमी (मसीह) के भरोसें पर मूंड मुड़ाये बैठेहो और फिर पेट के लिये पाप कर्म करते चले जाते हो परमेश्वर से नहीं डरते। वह बेचारा जब खुदासे अपनेको न बचा सका बड़े कष्ट के साथ जान दी फिर तुम को क्या बचेगा! याद रक्खो जिस प्रकार उसकी दशा हुई उसी प्रकार तुम्हारी होगी अगर इन झूठे ढकोसलों को न छोडोगे तो भला ऐसे २ हजरत विचारे दूसरों को क्या बचावेंगे। उन्होंने तो खुद अपने पैरों में अपने हाथ से कुल्हाडी ऐसी कडी मारी है कि उसका घाव सदैव के लिये अच्छा होना असम्भव है क्योंकि वे लोग जो इनका कलमा पढ़-कर भरोसे पर पाप कर्म करते चले जाते हैं जब तक पाप कर्म करना न छोड़ेंगे तब तक मुक्ति उनकी असम्भव है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि आप लोग ईसा मसीह कोअपना खुदावन्द भी मानते हो और लाल रङ्ग की शराब में उस खून की भावना कर के उस को पीते हो और तमाम अपने पापों को उसके गले मंढते जाते हो पाप का फल दुःख है तमाम दुनियां के पापों के दुःख एक साढे तीन हाथ का आदमी किस तरह पर सहन कर सकता है इसके लिये तो खुद उसके कहे हुएपापोंको दण्ड विष तुल्य है ऐसी२झूठी बातोंको माने बैठेहो और फिर अपने आप को बुद्धिमान् कहते हो, उस पतंग जन्तु के दृष्टान्त से तुमको परमेश्वर उपदेश करता है कि हेमनुष्य लोगों जिस प्रकार वह जन्तु झूठा विश्वास कर के दुख पारहे हैं उसी तरह तुम लोग भी जो पापी आदमियों के भरोसे पर पाप करोगे तो तुम्हारा भी ऐसा हाल होगा क्योंकि परमेश्वर दयालु है वह हर तरह पर उसको बचाना चाहता है जब कि कोई आदमी कुछ बुरा काम करता है परमेश्वर उस के दिल के अन्दर भय लज्जा इत्यादि उत्पन्न कर देता है और अच्छा काम करने से उन्हें प्रसन्न कर देता है तो कोई उस की आज्ञा को तोड़कर उलटे काम कर बैठता है वही महा पापी है ऐसे आदमी की उम्मेद है कि नरक को जावेगा इसमें कोई संदेह नहीं है आप लोगोंने परमेश्वर को एक मिट्टी वा खिलौना २ मज़ाक रक्खा है जो किसी ने चौथे आकाश पर

जा बैठाया और किसी ने सातवें पर, आश्चर्य्य यह है कि फिर भी उसे सर्वत्र व्यापक कहते तनिक लज्जा नहीं आती। परमेश्वर हमारी आत्माके अन्दर विद्यमान है ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां वह विद्यमान न हो यदि उसके नीचे आगे पीछे दायें बायें या किसी ओर को विद्युत् प्रवाहके तुल्य शीघ्रगामी बिना ठहरे लगातार चले जावें तो भी कोई उस का किनारा नहीं पावेगा वह अनन्त है अनन्त वस्तु का अन्त नहीं वाहरे बड़े मूर्ति पूजको धन्य ? आप की हिम्मत पर जो जंगली आदमियों के ऊपर मूंड मुडाये बैठे हो तुम लोग पुराण मतवालों के भी बावा हो क्योंकि उनकी छोटी २ मूर्ति उनके घरों में रहती हैं अगर कोई शत्रु उनके मारने को आवे तो उस मूर्तिको उठाकर दुश्मन के सिर में भी मारसकते हैं तुम्हारे मूर्ति इतनी२ बड़ी हैं जोसब संसारमें भी नहीं समा सकती इसवास्ते उनको चौथे और सातवें आकाशों पर जा बैठाया ऐ प्यारे भाई लोगो ! आज कल प्रकाश का समय है इन झूंठी बातों को छोड़ो अपनी अपनी कितावों का वेद से साथ मिलान करो पमेरश्वर ने जो तुम को बुद्धि व विद्या दी हैं उन को काम में लाओ हठ छोड़कर सोचो और देखो जो सच्ची बात हो उसे स्वीकार करो और झूंठी बातों को छोड़ो इस अल्प कालिक जीवनको अमोल जानो इस समय यह अवसर तुम्हारे हाथ में है जीवन के व्यतीत हो जाने के पश्चात् तुम कुछ भी न कर सकोगे देखो बड़े २ बादशाह कहां चले गये जब वे लोग जिनको सब तरह की शक्ति थी यहां न रह सके तुम भी न रहोगे सो पाप कर्मोंको एक दम से छोड दो आत्मा और परमात्मा के पहचानने का प्रयत्न करो क्योंकि जब तक आदमी को इनका ज्ञान नहीं होता। तब तक ठीक ठीक भले व बुरे में वह भेद नहीं कर सकता यदि वेद को आप कठिन समझते हो तो अपनी किताबों का सत्यार्थ प्रकाश के साथ मुकाबला करो छः महीने के अंदर नागरी सीखनेसे इसका अर्थ समझ सकते हैं हम तुम लोगों को श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज को धन्यवाद देना चाहिये कि जिस बात को सारी उम्र तक परिश्रम करने से भी हम प्राप्त न करते थे उसे ऐसा सरल कर दिया है कि केवल छ

महीने तक परिश्रम करने से उसको समझते हैं धन्य है उन मनुष्यों को जो इन बातों को जानते हैं और प्रयत्न करते हैं और जाकर दूसरों को समझाते हैं और शोक। इन पर जो अपनी भूलों को आंखों से देखते हैं और मन से जानते हैं निरुत्तर हो रहते हैं परन्तु फिर भी उन को नहीं छोड़ते शोक की बात है कि अल्पकालिक जीवन के लिए शारीरिक रोगों की औषधि करते हैं परन्तु सर्वदा के आराम के लिए आत्मा के रोगों का निदान नहीं करते और वायु प्रबल बह रहा है और अफीम के नशे में वैकुण्ठ के ध्यान को देख अपने आपको वहां का राजा समझते हैं सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वर से प्रार्थना है कि जो ऐसे आदमियों पर कृपा करके कुमार्ग को छोड़ ठीक सुमार्ग पर चलावे।

इति

वर्णव्यवस्था ।

ब्राह्मणोस्य मुखमासीदबाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
यजु० ३१।११ ॥

प्यारे पाठकगण ! इससे पहले वेद मन्त्र में यह प्रश्न किया गया था कि मनुष्य जाति का मुंह क्या है ? बाहू क्या है ? और पांव क्या है ? अर्थात् इस बात को अलङ्कार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि जिस प्रकार संसार में भिन्न २ अङ्ग हैं किन्तु सर्व मिलकर पुरुष कहलाता है यद्यपि भिन्न २ इन्द्रियां भिन्न २ काम करती हैं लेकिन सब का लाभ एक ही पुरुष को पहुंचता है, और एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के आधीन है इसी तरह इस मनुष्य जाति में यद्यपि भिन्न प्रकार के वर्ण और आश्रम होने परभी ये सब एक हैं यद्यपि हर एक वर्ण और आश्रम के गुण और कर्म नितान्त भिन्न २ हैं लेकिन उनका फल कुल मनुष्य जाति के लिये होता है और हर एक प्रकार के मनुष्य दूसरे के आश्रित हैं, और जिस प्रकार एक इन्द्रिय के निकम्मी होजाने से शरीर की दशा में अन्तर आना आरम्भ होजाता है उसी प्रकार हरएक वर्ण और आश्रम में निर्बलता आजाने से संसार का कारोबार गड़बड़ होजाता है जिस तरह हर एक इन्द्रियें अपने काम के साथ दूसरी इन्द्रियों को सहयोगी करती हैं उसी तरह हर मनुष्य को अपना काम करके दूसरों के काम करने में सहायता भी करनी चाहिये, यथा आंख का धर्म रूप देखना है और वह देखती है लेकिन वह पांव को मार्ग दिखलाती है हाथ को पकड़ने वाली वस्तु दिखलाती है तात्पर्य यह है कि ये मन्त्र मनुष्यों के काम और सामाजिक काम को ठीक तरह पर बतलाने वाला है।

प्यारे पाठकगण ! इस मन्त्र का अर्थ यह है कि ब्राह्मण इस संसार का मुख है और क्षत्रिय बाहू हैं और वैश्य ऊरू अर्थात् जंघा है, और शूद्र पांव है अर्थात् मनुष्य जाति के चारों वर्णों को शरीर के चारों अङ्गों की उपमा दी है, बहुत से लोग यहां पर प्रश्न करेंगे कि चार ही क्यों बनाये गये इससे कम या अधिक

हो सकते हैं लेकिन उनकी शंका ठीक नहीं क्योंकि ये नियम प्राकृतिक उद्देश्य पर बनाये गये हैं और नियन्ता ने शरीर को चार टुकड़ों ही में विभक्त किया है पहिला टुकड़ा गर्दन से शिर तक भिन्न दृष्टि पड़ता है, दूसरा बाहू से कमर तक, तीसरा कमर से जंघा तक है, और चौथा जंघा से पांव तक है। अब पहिले टुकड़े को ब्राह्मण कहा कि ब्राह्मण मनुष्य जाति का शिर है लेकिन नियंता ने अपने इस नियम को ऐसा बनाया है कि आश्चर्य होता है।

प्यारे मित्रो! यह तो आप को विदित है कि शिर वाला भाग नीचे के भागों से तत्व शक्ति में बहुत ही निर्बल है, क्योंकि वह सबसे छोटा है और इस उपमा में नियन्ता ने बतलाया है कि जिस तरह यह हिस्सा दूसरे हिस्सों से तत्वशक्ति में निर्बल है इसी तरह ब्राह्मण सांसारिक वस्तुओं और धन में सब संसार से न्यून होगा, अर्थात् तीनों वर्ण इससे अधिक धनी होंगे, परन्तु इन हिस्सों में यह भी दिखला दिया है कि जिस तरह पांचों ज्ञान इन्द्रियों के साथ २ इस हिस्से में ज्ञान के बाह्य साधन उपस्थित हैं, इसी तरह ब्राह्मणों में ज्ञान के साधनों का होना आवश्यक है।

अब आप देख लीजिये कि चक्षु अर्थात् आंख और कान, नाक, जीभ और खाल पांचों ज्ञान के साधन उपस्थित हैं और यह भी बतलाया गया है, कि खाल जो स्पर्शेन्द्रिय है वह तो सारे शरीर में उपस्थित है, अर्थात् सामान्य ज्ञान प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है लेकिन विशेष ज्ञान ब्राह्मणों के वास्ते है या जिसमें विशेष ज्ञान और धन आदि की कमी अर्थात् वैराग्य होता है वह ब्राह्मण कहलाता है और यहाँ पर भी बतलाया गया है कि ज्ञानेन्द्रियों में उत्तम कौन क्योंकि आंख और कान को लगभग ऊंचाई में बराबर रक्खा है जिसका अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और ईश्वरीय शब्द प्राप्त होने वाला ज्ञान बराबर है और उसके पश्चात् गन्ध से ज्ञान होता है उसके पश्चात् रस ज्ञान है।

प्यारे पाठकगण! यहां से आपको यह भी मालूम होजायगा कि जितनी दूर तक हम ठीक रूप देख सकते हैं लगभग वहीं तक ठीक शब्द सुन सकते हैं लेकिन गन्ध इतनी दूर से ठीक मालूम नहीं होती और रस तो जब ही मालूम

होता है कि जब वस्तु मुंह में आ पड़ती है। अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति का अनुमान होगया कि सबसे प्रथम आंख और कान दूसरे नासिका तीसरे जिह्वा। बहुत से लोग यहां पर ये शंका करेंगे कि स्पर्शेन्द्रिय को क्यों छोड़ दिया वह सब से ऊपर विद्यमान है लेकिन मित्रो! स्पर्श तो सारे शरीर में व्यापक होने से सामान्य होगया इसके वास्ते ऊपर नीचे के क्रम का अनुमान ठीक नहीं।

प्यारे पाठकगण! यहां से आपको यह ज्ञात होगया कि ब्राह्मण के गुण ज्ञान और वैराग्य हैं लेकिन कर्म क्या है इसका उत्तर नियन्ता ने दिया है कि कर्मेन्द्रिय इस शरीर में कौन है? वाणी इसका काम क्या है? जो आँखों से देखा कान से सुना और नाक से सूंघा हो उसका दूसरों को बतलाना अर्थात् ब्राह्मण का काम ये है कि पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त हो संसार में उसका उपदेश करे अर्थात् ब्राह्मण का काम करना अर्थात् कान से प्राप्त करना और वाणी से पढ़ना और यज्ञ करना कराना अर्थात् वाणी से मन्त्रों द्वारा क्रिया करनी और दूसरों से कराना है और जिस गुरु से पढ़ा है उसको गुरुदक्षिणा देना अर्थात् दान देना और जिसको पढ़ाया है उससे दक्षिणा अर्थात् दान लेना या जिसने ब्राह्मण के घर में यज्ञ कराया है उसको यज्ञ की दक्षिणा देना अर्थात् दान देना है। पहिले चार कर्म अर्थात् पढ़ना पढ़ाना और यज्ञ करना कराना तो कर्त्तव्य हैं, पिछले दो कर्म उनका फल है।

प्यारे पाठकगण! बाहु को राजा अर्थात् क्षत्रिय कहा गया है अब आप देखिए सारे शरीर में रक्षा का काम कौन करता है जब आंख में चोट लगे तो औषधि कौन करे पांव में चाहे कष्ट हो व शरीर के और किसी भाग में कष्ट हो उसका निदान करना बाहु का काम है और यह भी बतलाया गया है कि यह भाग प्रकृति शक्ति में शेष तीनों से अधिक होगा सो आप इस टुकड़े को जो गले से कमर तक फैला हुआ है, जांच कर सकते हैं कि ये सारे हिस्सों से अधिकत्व रखता है।

इसी तरह राजा के पास दुनियां के सब वर्णों से अधिक धन होना आवश्यक है और यहाँ यह भी बतलाया गया है कि बल, विद्या के पश्चात् दूसरा

दर्जा रखता है अर्थात् संसार में पहिला दर्जा विद्या का है, क्योंकि बाहु इत्यादि बिन आंख की मदद के काम नहीं कर सकती और आंख बगैर बाहु की सहायता के काम कर सकती है आंख की रक्षा के वास्ते तो बाहु का होना आवश्यक वस्तु है लेकिन उसके काम की सहायता बाहु से कुछ भी नहीं हो सकती जिसका अर्थ यह है कि विद्या की रक्षा के वास्ते बल की आवश्यकता है बल विद्या के बिना ठीक प्रकार काम नहीं कर सकता और बल के बिना विद्या की रक्षा नहीं हो सकती, परन्तु स्मरण रहे कि बल अपने काम करने के वास्ते विद्या का आश्रित है, इस वास्ते पहिली कक्षा विद्या को दी गई है। तीसरा हिस्सा जंघा अर्थात् उरू कहलाता है उसको वैश्य से उपमा दी गई है क्योंकि यह हिस्सा ऊपर और नीचे के दोनों हिस्सों का मध्य स्थान है, अर्थात् धन संसार के तीसरे दर्जे पर है क्योंकि विद्या और बल से धन पैदा होता है परन्तु धन से विद्या और शूद्र इत्यादि वैश्य की पदवी पाये बिना क्षत्रिय, ब्राह्मण नहीं हो सकता, और वैश्य की प्रतिष्ठा धन से बतलाई गई है। अर्थात् धन संसार में तीसरे दर्जे पर है क्यों कि विद्या और बल से धन पैदा होता है, परन्तु धन से विद्या और बल प्राप्त नहीं हो सकते ।

हमारे बहुत से मित्र यह प्रश्न करेंगे कि हम धन से विद्या प्राप्त कर सकते हैं रुपया खर्च करके पढ़ लेंगे परन्तु याद रहे कि बगैर पुरुषार्थ और परिश्रम किये धन से विद्या प्राप्त नहीं हो सकती और जितने परिश्रम से धनवान् मनुष्य विद्या प्राप्त कर सकता है उसी भांति परिश्रम से निर्धन भी विद्या प्राप्त कर सकता है। अर्थात् विद्या के वास्ते धन का होना न होना बराबर है केवल मेहनत की आवश्यकता है। दूसरे बलवान् आदमी धन को हासिल कर सकता है धन से शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ॥

बहुधा लोग यह शंका करेंगे कि धन से अच्छा भोजन मिलता है और उस से शक्ति हासिल होती है लेकिन बात मिथ्या है क्योंकि सब धनी आदमी निर्बल दिखाई देते हैं बल्कि विषय रंजन का कारण धन ही दृष्टि पड़ता है जो निर्बलता का चिन्ह है प्यारे पाठक धन को विद्या और बल से नीचे दर्जा देने

का यह भी कारण है कि विद्या और बल जीवात्मा और शरीर दोनों का गुण है अर्थात् विद्या तो चेतन जीवात्मा का गुण है और बल जीव और शरीर दोनों का मिलावटी गुण है लेकिन धन इन दोनोंसे भिन्न एक बाह्य वस्तु है। और जितनी देर में धन नाश होता है बल उससे अधिक देर में नाश हो सकता है और विद्या पहिले तो जन्म जन्मान्तर तक नाश भी नहीं होती हां विद्या प्रमाद के कारणसे निर्बल या देरमें नाश हो जातीहै। चौथा भाग पांवका है जो पांवसे घुटने तकहै ये हिस्सा निर्बल मध्यवर्ति दो हिस्सों से माइ में कम हैं लेकिन ऊपर के हिस्से से अधिक है जिससे बतलाया गया है कि शूद्र ब्राह्मण से जियादा धन वाला हो सकता है लेकिन क्षत्रिय वैश्य से कम धन रखता है और इस हिस्से का काम सिवाय सारे बदन को उठाकर ले चलने के कुछ भी नहीं होता अर्थात् नियन्ता ने शूद्र को तीनों वर्णों की सेवा के वास्ते बनाया है। प्यारे पाठक! ये सेवक समाज दुनियां में विद्वानों से अधिक धनी हो सकता है। हमारे बहुत से दोस्त शंका करेंगे कि यदि विद्या से अधिक सेवा से धन पैदा होता है तो विद्या सब से निर्बल वस्तु है॥

लेकिन याद रखना चाहिये कि विद्वान् पुरुष कदापि धन की इच्छा नहीं रखता और न धन के वास्ते अपने जीवन को खर्च कर सकता है क्योंकि उस के विचार में जीवन के सन्मुख धन बहुत ही तुच्छ वस्तु है वह जानता है कि यदि दुनियांका एक भारी बादशाह अपनी मौत के समय सारी बादशाहतपांच मिनट के जीवन के बदले देने का विचार करे तो उसे सारी बादशाहत के बदले पांच मिनट जीवन नहीं मिल सकता फिर क्योंवो अपना बहुमूल्य जीवन धन के बदले खर्च करेगा जो जीवन एक बादशाहत के बदले थोड़े समय के वास्ते नहीं मिल सकता उसके बड़े हिस्से को थोड़े धन के वास्ते खर्च करना बड़ी मूर्खता है पुराने समय में ब्राह्मण सदैव धन से घृणा करते थे इस वास्ते सब से उत्तम गिने जाते थे और लिखा भी है।

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥

अर्थात् देवता लोग परोक्ष के प्यारे होते हैं परोक्ष उसे कहते हैं जो बाह्य इन्द्रियों से अनुभव न हो और इस संसार में जो तीन पदार्थ हैं उन में से जीवात्मा परमात्मा दोनों पंचेन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते किन्तु प्रकृति का कार्य उनसे ज्ञात होता है यहाँ यह बतलाया है कि ज्ञानी लोग जीव और परमात्मा से प्यार और प्रकृतिसे घृणा करते है।

हमारे अनेक मित्र ये शंका करेंगे कि मन्त्र में तो ब्राह्मण शब्द है और इस कथन में देवता शब्द है ब्राह्मण और देवता से क्या सम्बन्ध? लेकिन याद रखना चाहिये कि देवता और ब्राह्मण पर्याय वाच्ी हैं जैसा कि लिखा हैं॥

विद्वांसो हि देवाः॥ तैत्तरीय० उ०॥

अर्थ—विद्वान् ही देवता होते हैं बहुधा यहांपर शंका करते हैं कि विद्वान् शब्द देवता का पर्याय नहीं किन्तु देवता का गुण है अर्थात् देवता विद्वान् होते हैं मूर्ख नहीं होते लेकिन उनका ये कथन ठीक नहीं महाभाष्य में लिखा है कि देवता शब्द का अर्थ परिडत है।

देखो महाभाष्य का दूसरा अध्यायः—

किं पुनरर्थस्य तत्त्वं देवा ज्ञातुमर्हन्ति।

देवाइति दिव्यदृशः देवाइति परिडताः इत्यर्थः। इस पर कैयट लिखते हैं। पतञ्जलि मुनि ने कहा था कि अर्थ के तत्त्व को विद्वान् ही समझ सकते हैं प्रत्येक मनुष्य की शक्ति नहीं कि वस्तु की सूक्ष्मता को समझ सके।

प्यारे पाठक! उपर्युक्त वर्णन से आपको मालूम होगया होगा कि वेद मन्त्र चारों वर्णों को गुण कर्म से भिन्न बतला रहा है और साथ ही विद्या बल, धन और सेवा के कर्त्तव्य के क्रम को बतला रहा है और यह भी बतला रहा है कि जिस तरह इनमें से एक हिस्से के बिगड़ जाने से शरीर की दशा बुरी हो जाती है जैसे एक आँख न होने से काणा और दोनों न होनेसे अंधा कान के निकम्मा होने से बहरा वाणी के निकम्मा होने से गूंगा होजाता है इसी तरह पर जिस मुल्क में ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् न हो या वह अपने कर्त्तव्यको पूरा न करे वह

अंधा गूंगा व्यवहार में गिना जाता है दूसरे जिस तरह बांह के निकम्मी हो जाने से मनुष्य टुंडा हो जाता है और अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकता इसी तरह पर जिस मुल्क में क्षत्रिय अर्थात् बलवान् सिपाही विद्यमान न हो वह मुल्क भी टुण्डा हो जाता है और अपनी रक्षा नहीं कर सकता और सदैव गुलामी में दबा रहता है और जिस तरह जंघा की कमजोरी से आदमी चलने और व्यवहार करने में कमजोर हो जाता है इसी तरह जिस मुल्क में वैश्य व्यापारी और किसान न हो वह मुल्क भी निकम्मा और कमजोर हो जाता है जिस तरह पांव बिगड़ जाने से अर्थात् निकम्मा होजानेसे आदमी लङ्गड़ा लूला होजाता है इसी तरह पर जिस मुल्क में सेवक और दस्तकार लोग मौजूद न हों वह मुल्क बिलकुल उन्नति से रहित और सांसारिक शक्तियों से रिक्त रहता है।

प्यारे पाठक! अब आप समझ गए होंगे कि वेद मन्त्र क्या बतलाता है और जो लोग इस की आज्ञा का पालन नहीं करते वह अवश्य कष्ट में होंगे चूंकि आजकल भारतवर्ष के चारों वर्ण में अपने २ गुण कर्मों को छोड़नेसे देश को जो नुकसान पहुंचरहा है उस की कोई हद नहीं लगा सकता इस वास्ते जब तक सारे वर्ण अपने गुण कर्म वेद मन्त्र के अनुकूल न करलें तब तक भारतवर्ष किसी तरह पर तरक्की नहीं कर सकता और चारों वर्णों का अपने गुण कर्मों पर आजाना उपदेश के बिना असम्भव मालूम होता है इस वास्ते जब तक सारे मुल्क में नियमानुसार वैदिक धर्म द्वारा चारों वर्णोंको जो अपने २ गुण कर्मों को छोड़ कर जाति और कर्म से रहित होगए हैं उन के दुःखों का उपदेश करके हर एक आदमी को उसके वर्ण के कर्त्तव्य सुझाये जांय और अविद्या के सबब जो कुरीतियाँ या स्वभाव देश में प्रचरित होगए हैं वह बिलकुल बन्द न होजांय अथवा आजकल जो वर्ण आश्रम की जगह पर सम्प्रदाय और भिक्षुक मंडल जारी होगए हैं जब तक ये सुधर कर फिर वर्ण के आश्रम में न आजांय तब तक भारत गारत होता चला जायगा॥

प्यारे पाठक! इस समय यदि आप सम्प्रदायों का खण्डन और भिक्षुकों को कम करनेका प्रयत्न करेंगे तो अवश्य एक प्रकार का भारी कोलाहल संसार में फैल जावेगा जैसा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के उपदेश से सारी दुनिया के अन्दर जो एक प्रकार का विचार आरम्भ हुआ था वह आर्य समाज के साधारण सभासदों के खण्डन मण्डन और आचरणों से उलटा हो गया

लेकिन आप सोचते होंगे कि इस का क्या कारण है कि स्वामी जी के जीवन में आर्य समाज में प्रेम और प्रीति का प्रचार अधिक था और अब वह इस से कुछ कम होगया यद्यपि बहुत से भोले भाई इस को समाज के सभासदों की जियादती पर महमूल करते हैं लेकिन उनका ये कहना ठीक नहीं स्वामी जी का जीवन परोपकार का जीवित उदाहरण था और वैदिक धर्म को उपदेश भी बराबर जारी था स्वामी जी के मरते ही धर्म की जगह राजनीति और उपदेश की जगह कालिज और स्कूल और संस्कृत के गौरव के स्थान में अङ्गरेज़ी के गौरव ने स्थान पालिया जिससे वह सारा प्रेम कम होने लगा और आर्य धर्म का वह वृक्ष जो महर्षि ने उपदेश के जल से सींच कर तैयार किया था कमजोर होने लगा और विद्या का काम सब देशों के वास्ते कम होगया ॥

प्यारे पाठक ! चूंकि नियन्ता ने नियम से एक हिस्से में ज्ञानेन्द्रियों और शेष हिस्सों में कर्मेन्द्रियें और केवल एक भाग खाल ज्ञानेन्द्रियें देकर ये स्पष्ट कर दिया है कि सामान्य ज्ञान तो कुल संसार को होसकता है और विशेष ज्ञान सारी दुनिया को हो नहीं सकता इस वास्ते ज्ञानी का कर्त्तव्य है कि अज्ञानियों को उपदेश के द्वारा रास्ता दिखलावे लेकिन आजकल मूर्ख लोग उस उपदेश को तुच्छ समझने लगगये मानो उनके विचार में ईश्वर की शिक्षा भी अपूर्ण है केवल उनकी बुद्धि पूर्ण है ॥

प्यारे पाठक ! इस वास्ते आप वेद के लिखित और मौखिक प्रचार से चारों वर्णों के गुण कर्म सुधारने का प्रयत्न करो।

॥ इति ॥

❋ मुफ्त तालीम ❋

(अशुल्क शिक्षा)

—:❋:—

संसार में मनुष्य जीवन के लिये जल और वायु यह दो ऐसी वस्तुयें हैं कि जिनके बिना मनुष्य एक दिन भी जीवित नहीं रह सकता, सुतराम परमेश्वर ने इन पदार्थों को इतनी अधिकता से उत्पन्न किया है कि वह प्रत्येक स्थान पर बिना किसी मूल्य के प्राप्त हो सकता है। निर्धन से निर्धन के घर में भी वायु बहता है, क्योंकि बिना उसके जीवन नहीं रह सकता ? परन्तु जल की नदियां बह रही हैं। कुंये बन सकते हैं। यद्यपि वहाँ से जल प्राप्ति में कुछ परिश्रम करना पड़ता है परन्तु वह भी अमूल्य प्राप्त होता है। क्या वह देश

हतभाग्य नहीं ? कि जिस देश में वायु और जल धनवानों की सम्पत्ति हो जाय और वह रुपये से बिकने लगें उस दशा में कोई भी निर्धन जीवित नहीं रह सकता है ? तब क्या उस देश की जीवित देश में गणना होगी ? जिसका कि हत भाग अर्थात् उसके निर्धन निवासी जीवन से रहित हो जावें क्या कोई बुद्धिमान स्वीकार करेगा कि जल और वायु बेची जाया करें जिस से उसके निर्धन भाई रहित होकर अपना जीवन खोबैठें। जो सम्बन्ध शारीरिक जीवनका वायु और जलके साथहै वहीसम्बन्ध आत्मिक जीवनका शिक्षाके साथहै क्योंकि बिना शिक्षाके आत्मिक जीवन स्थिरही नहीं रहसकता और जहां आत्मिक जीवन न हो वहां मन और इन्द्रियों पर अधिकार किस प्रकार हो सकता है और जहां मन और इन्द्रियां स्वतन्त्रता से काम करने लगें वहां सामाजिक जीवन किस प्रकार हो सकता है क्योंकि सामाजिक जीवन का आधार योग्यता पर है अर्थात् कुछ कर्म जो करने योग्य है जो मनुष्य के शारीरिक तथा सामाजिक और आत्मिक जीवन के लिये लाभदायक है उनको करना ही योग्यता का कार्य है जो मनुष्य योग्यता रखता है वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता क्योंकि स्वतन्त्र वह कहला सकता है जो करने न करने और उलटा करने की शक्ति रखता हो। परन्तु बुद्धि बुरे कामों के करने से रोकती है कोई बुद्धिमान् इसके विरुद्ध नहीं कर सकता अर्थात् जिन कामों के करने में बुद्धि रोकती है उसे ध्यान में नहीं ला सकता अन्यथा वह अपने पांव स्वयं कुल्हाड़ी मारता है और जो अपने पांव आप कुल्हाड़ी मारे वह बुद्धिमान कैसे कहला सकता है अतएव बुद्धि बुरे कामों से रोकती और शुभ कर्मों की ओर लगाती है जो मनुष्य बुद्धि के अनुकूल नहीं करते वह अवश्य नष्ट हो जाते हैं जब तक इस भारतवर्ष में योग्यता रही तब तक यह देश बड़े २ जगद्गुरु और चक्रवर्ती राजाओं का उत्पादक था जब से इस देश ने योग्यता को तिलांजलि दी है तब से इस की दुर्गति होने लगी यद्यपि यहां के दान के लिये देशकाल और पात्र का विचार आवश्यक था परन्तु योग्यता के न होने से इसकी काया पलट गई। देश के कहने से तात्पर्य यह था कि देश में जिस वस्तु की आवश्यकता हो उस देश में उसी वस्तु का दान किया जावे। शीत प्रधान देशों में कपड़े का दान और उष्ण देश में जलका दान जिसमें अकाल हो वहां अन्न का दान तथा जिस देश में रोग हैं वहाँ औषधि का दान देना योग्य है मूर्खों ने देश के अर्थ तीर्थ स्थान के लिये हैं और काल के अर्थ थे, जिस समय कोई किसी विशेष वस्तु का इच्छुक हो यथा कोई

मनुष्य ग्रीष्म ऋतु में कम्बल बांटे तो वह काल नहीं या शीत ऋतु में पियाऊ लगावें। मनुष्यों ने काल शब्द के अर्थ अमावास्यादि दिनों के भी लिये हैं। पात्र के अर्थ थे अधिकारी परन्तु मनुष्यों ने समय के प्रभाव से ऐसा पलटा दिया कि प्राचीन उत्तम बातें मिथ्या अर्थों में प्रयोग होने के कारण लाभदायक होने के स्थानमें हानि कारक होगई हैं।

यदि मनुष्य बुद्धिमान और मूर्ख को ब्राह्मण न विचारते तो ब्राह्मणों में से विद्या की न्यूनता कदापि न होती और यह जगद्गुरुओं की सन्तान ऐसी दुर्गति को कभी प्राप्त न होती मूर्ख मनुष्य तो इसे पुण्य समझते हैं कि उन्होंने ब्राह्मणों को भोजन खिलाया परन्तु पंडित और मूर्ख की पहिचान नहीं करते। यह मूर्ख विद्या के नाशक होकर पाप के भागी हो गये यदि वह मनुष्य विद्वान् और मूर्ख में भेद रखते तो विद्वानों का सत्कार और मूर्खोंसे उपेक्षा करते तब ब्राह्मण इस दुर्गति को प्राप्त होकर धर्मके नाश का कारण न होते प्रथम-जिस देश में आत्मिक जीवन का हेतु विद्या ही बिकने लगे और निर्धन मनुष्य द्रव्य न होने के कारण विद्या से रहित हों तो वह देश क्यों न महामारी दुर्भिक्ष, और मुक़द्दमे बाज़ी इत्यादि बुराइयों का केन्द्र होजावे। फिर भला जहां वेद विद्या जिसको आजतक भारत के ऋषि मुनि सदैव बांटते ही चले आये जो मनुष्यों के भीतर ईश्वर विश्वास के उत्पन्न करने वाली विद्या है बिकने लगजावे तो विद्या के गौरव को महान हानि है और निर्धनों का विद्या से रहित होनेसे उस देश का नाश होना आवश्यक है। मनुष्य विद्या क्यों बेचते हैं? केवल इस कारण कि जनता इस बुद्धि से रहित है कि कौन सी इन्स्टीट्यूशन (संस्था) दान का अधिकारी है अथवा वह जो निर्धनों को विना शुल्कशिक्षा देते हैं या जो शिक्षा बेचते हैं। परन्तु मनुष्यों का यह आक्षेप कि अशुल्कशिक्षा (मुफ्त तालीम) देने वाली संस्था के पास धन न होने से उनकी स्थिति थोड़े ही दिनों की होती है यही मनुष्यों की अयोग्यता को प्रकट करती है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की स्थिति परमात्माके अटल नियम पर है। हम दश करोड़ रुपये संग्रह करलें और वह रुपया बैंकों [कोठियों] में एकत्रित किया जावे। परन्तु परमात्मा को हमारे कर्मों के अनुकूल उस की स्थिति स्वीकृत नहो तो कोठियों का दिवाला निकल जावे और वह संस्था समाप्त होजावे। हम बहुत उच्च और उत्तम भवन, बनवालें। भूकम्प आजावे वह सब नष्ट होजावें जि। को आजकल तीर्थ कहा जाता है किसी समय में यह सब उच्च शिक्षा के स्थान थे जिनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी, महमूद ग़ज़नवी ने जब कोट कांगड़ा

लूटा तो सैकड़ों ऊंट सोने चांदी के पात्रोंसे भरकर लेगया उस समय न तो रुपये ने रक्षा की और न किसी दूसरे पदार्थ ने। दूसरी बात यह है कि अशुल्क शिक्षा वाले स्थानों में जो सामान की न्यूनता है जिससे वह सर्व साधारण को निर्बल दिखाई देता है जिसके कारण जनता उसकी सहायता कम करती है वह भी तो जनता की अयोग्यता का फल है क्योंकि यदि जनता बुद्धि से काम लेती और अशुल्क शिक्षा देने वाली संस्थाओं को इस लिये कि वह शिक्षा जिसे आत्मिक सौजन्य समझ नहीं बेचते किन्तु मुफ्त तालीम करते हैं और उत्तम परिगणना करते हैं। तथा उनकी सहायता को अपना कर्त्तव्य विचार करते तो अशुल्क शिक्षा देनेवाली संस्थायें दृढ़ होजातीं, जिससे सर्वसाधारणका झुकाव भी उसी ओर होजाता और सर्व साधारण के झुकाव से उन के पास आवश्यक सामग्री का उन के पास पहुंच जाना आवश्यक था जिस से प्रत्येक मनुष्य का ह्रियाव होसकता कि वह देश में अशुल्क शिक्षा करने का पुरुषार्थ करे जिस से देश को आत्मिक शक्ति प्राप्त होकर आत्मिक जीवन सुदृढ़ हो जिस से प्रत्येक प्रकार की उन्नति दिखाई देने लगे क्या यह शोक जनक दृश्य नहीं? कि वैदिक धर्मानुयायी भी जिन के पूर्वज सदैव से अशुल्क शिक्षा देते रहे उस के विरुद्ध शिक्षा देने का काम कर रहे हैं क्या कोई सिद्ध कर सकता है कि किसी समय में भी भारतवर्ष के ऋषियों ने शिक्षा का द्वार निर्धनों के लिये बन्द किया हो जहां तक पता लगाओगे ऐसा एक भी उदाहरण न मिलेगा यदि उस समय में शिक्षा बेचने वाले भव्य दृष्टि से देखे जाते तो महात्मा मनु शुल्क देकर पढ़ने वालों और वेतन लेकर पढ़ाने वालों का बुरा न बतलाते जबसे भारतवर्ष में मुसल्मानों का राज्य आया है तब से तप का अभ्यास न होने से वेद पढ़ कर जो काम करना चाहिये, उस के योग्य नहीं होते बस जिस देश का दुर्भाग्य आता है उस में नाज का अकाल पड़ता है जिस से बहुधा मनुष्यों को दुःख होता है परन्तु नाज के विना कई दिन तक मनुष्य जी सकता है परन्तु जिस देशका उससेभी अधिक दुर्भाग्य आता है उस देशमें पानीका अकाल होता है जिसमें नाज के दुर्भिक्ष से अधिक कष्ट होता है क्योंकि पानीके बिना एक दिन भी कठिन होजाता है जिस देश का अधिक दुर्भाग्य होता है वहांके निवासियों को वायु से रहित किया जाता है जिससे पल २ का जीवनभी दुःसाध्य हो जाता है परन्तु इससे केवल शरीरकोही हानि पहुंचती है आत्माको कोई हानि नहीं होती परन्तु जिस देशका अधिकतः दुर्भाग्य होताहै उस देशमें विद्याका दुर्भिक्ष होता है उस देश के दुर्भाग्य के विषय में कोई शब्द नहीं कह सकते क्योंकि इस

से मनुष्य जीवन जिस के ५ मिनट के बराबर भी चक्रवर्ती राज्य नहीं होसकता, निष्फल जाता है पुरुष और पशु में कोई भेद नहीं रहता यदि प्रभु ने पशु न उत्पन्न किये होते तो उससे कोई विशेष हानि नथी क्योंकि उसको सामग्री ही इस प्रकार की मिलती है. परन्तु विद्यासे शून्य मनुष्य पशुओं से भी निकृष्ट है इसी विचारको लेते हुये ऋषि दयानन्दने तेरह घंटेकी समाधि कि जिसके तुल्य संसार का कोई राज्य और धन भी सुखदेने वाला नहीं होसकता छोड़दी, कि जिससे भारतवर्ष के मार्ग में जो ब्रह्म विद्याके न जाननेसे रुकावटें उत्पन्नहोरही हैं उनको दूर करें सब से पहिली रुकावट जिसने । वैदिक शिक्षा के प्रेमियों को हताश कर रक्खा था वेदों की शिक्षा का उद्धार था जिस के कारण ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरे वर्णों को वेद पढनेका अधिकार ही नहीं दिया जाता था। आजकल हजारों क्षत्रिय और वैश्य उपनयन संस्कार से रहित पाये जाते हैं जब यज्ञोपवीत न हो तो वेदारम्भ संस्कार कैसा, जिसका वेदारम्भ संस्कार नहीं हुआ वह वेद किस प्रकार पढ़ सकता है ? ब्राह्मण भी जन्म से मानेजाते थे गुण कर्मका ध्यान तनिक भी न था दूसरी रुकावट बाल विवाह था । जिसने ब्रह्मचर्याश्रम के गले पर छुरी फेर रक्खी थी जिस कुटुम्ब में इस प्रकार का अधिक पाप हो अर्थात् जिस के लड़के बहुत ही छोटी अवस्थामें ब्याहेजाते हों वही कुटुम्ब सबसे उत्तम समझा जाता था लड़के का बड़ी अवस्था तक कुंवारा रहना कुटुम्ब में दोष होनेका प्रमाण था भला ऐसी दशा में कौन वेद पढता और पढाता, चारों ओर अंधेरा छाया हुआ था जिसको ऋषि दयानन्द ने वेद रूपी सूर्य के आगे जो भिन्न २ प्रकार के बादल आगये थे उसको दूर किया एक ओर तो वेद मन्त्रों के प्रमाण और बुद्धि पूर्वक युक्तियों से यह सिद्ध किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है किसी विशेष सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं हो सकती नाहीं कोई वर्ण उत्पत्ति के विचार से वेदों का अधिकारी ही हो सकता है किन्तु चारों वर्णों को वेद के पढ़नेका अधिकार है। दूसरी ओर से यह सिद्ध किया गया कि ब्राह्मणादि वर्ण गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं जन्म के कारण नहीं तीसरी ओर बाल विवाहका खंडन ब्रह्म चर्याश्रम की प्रतिष्ठा तथा आवश्यकता को बड़ी प्रबलता से बतलाया वेदों की शिक्षा से संसारका उपकार हो और लोग मूर्खता के गढ़े से निकल कर ब्रह्म विद्या से लाभ तथा ब्रह्मानन्द को प्राप्त करें, परन्तु जिस देश का दुर्भाग्य होना है उस के लिये उत्तम से उत्तम वस्तुयें उपकारी नहीं होतीं उनके लिये उत्तम से उत्तम उपदेश लाभ दायक नहीं हो सकते । कैसे भी योग्य आचार्य मिलें उन का कल्याण दुर्लभ है जैसा कि एक कविकहता है ॥

तिही दस्ताने किस्मत रांचि सूदज रहबरे कामिल।
कि खिज्र अज आवे हैवां तिश्ना मे आदर सिकन्दरा॥

जिस के भाग्य के हाथ रिक्त (खाली) हैं अर्थात् जिनका भोग बुरा है उन का योग्य मार्गोपदेशक गुरु से क्या लाभ हो सकता है जैसा कि सिकन्दर को ख्वाजा खिजर अमृत से प्यासा ही लाया है तात्पर्य यह कि जो आचार्य के आचरणों का अनुकरण करता है उसीको आचार्यके उपदेश से लाभ होसकताहै परन्तु जो उस के अनुकूल न करे उस को उच्च से उच्च उपदेश से भी कुछ लाभ नहीं पहुंच सकता ऋषि ने बडी प्रबलता से भारत निवासियों को वेदोंकी शिक्षा की ओर आकर्षित किया। वेदों का पढ़ना पढाना और सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म बतलाया। स्वयं वेदों को पढ़कर और बाल ब्रह्मचारी बन कर इस बातको सिद्ध किया कि इस समय में भी वेद पढ सकते हैं सारांश यह कि जितनी रुकावटें वेदों के प्रचार के मार्ग में थी अपनी जिह्वा और लेखनीके बलसे उनको दूरकिया अपने सत्य तप और बलके व्यवहार सेप्रत्येक के चित्त में वेदों के गौरव को बड़े २ शास्त्रार्थों द्वारा फैलाया अर्थात् सर्वसाधारण में वेदों की प्रतिष्ठा स्थापित कर दी परन्तु शोक उन संपूर्ण परिश्रमों से भी भारत का दुर्भाग्य दूर नहीं हुआ जिन मनुष्योंके हाथ में ऋषि ने वेदों के प्रचार का काम दिया था जिन मनुष्यों से यह आशा थी कि यह मनुष्य वेदों की शिक्षा को सार्वजनिक करने के लिये पुरुषार्थ करेंगे जिन को ऋषि ने दीन अनाथों की शिक्षा के देने की घोषणा वेद मण्डल स्थापन करने के लिये वसीयत करते हुए की थी वही मनुष्य वेदों की शिक्षा के मार्ग में रुकावट डालने वाले हुये उनके निर्बल मस्तिष्क में आगया कि सर्वांश में।संस्कृत शिक्षा से भिक्षा मांगने वाले उत्पन्न होंगे-हा शोक! राम और कृष्ण की सन्तानों के यह विचार क्या राम और कृष्णने अमेरिका और जापानमें जाकर शिक्षा पाईथी क्या वह इङ्गलिस्तान में जाकर आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में पढ़े थे क्या वह भीख मांगते थे? क्या वह निरे संस्कृत के शिक्षा पाये हुये न थे-भीष्म और द्रोण की सन्तानों के यह विचार क्या हताश करने वाले तथा शोक जनक नहीं ? क्या अन्य मनुष्य युद्ध विद्या और राजनीति यूरुप में जाकर सीखते थे ? गौतम और कणाद की सन्तानों के लिये क्या यह विचार प्रशंसा के योग्य हो सकते हैं। कदापि नहीं परन्तु मन्दभाग्य को क्या किया जावे जिन्हें राम और कृष्ण के विचारों का मार्ग नहीं मिला किन्तु "मिल" और 'स्पेन्सर" के विचारों का अनुकरण किया है जिन्हें भीष्म और द्रोण के भावों का अंश नहीं मिला किन्तु "बोनापार्ट" के जीवन चरित्र और इंग्लेंड का इतिहास मस्तिक में घर कर गया है। जिन्हें गौतम, कणाद, कपिल और व्यास के प्रतिष्ठा के योग्य विचार प्राप्त ही नहीं हुये किन्तु "हक्सली" और 'टिन्डल' के भावों ने मस्तिष्क में डेरा जमालिया है इस प्रकार के मनुष्यों से वेदों के प्रचार की आशा करनी "वन्ध्या के पुत्र का विवाह

करना है" । अस्तु वही हुआ कि जो नियमानुकूल होना आवश्यक था अर्थात् वेदों की शिक्षा के मार्ग में एक बहुत बड़ी रुकावट उत्पन्न होगई । जिसके माता पिता धनवान नहीं जिनके पास शुल्क देने की शक्ति नहीं जिनके पास पर्याप्त सामग्री नहीं जिस से एक मुठी रुपये दे सकते हो उनको के पढ़ने का अधिकार नहीं यह निर्विवाद विषय है कि भारतवर्ष संसार के सम्पूर्ण देशों से निर्धन है इसमें प्रति सैकड़ा एकभी धनवान नहीं । यद्यपि पहिली रुकावटों से करोड़ों मनुष्य वेदों के पढ़ने के अधिकारी थे । क्योंकि भारत वर्ष में जन्म के ब्राह्मणों की संख्या दो या तीन करोड़ से कम नहीं यदि अन्वेषणा किया जावे तो सात या आठ प्रति सैकड़ा ब्राह्मण से कम इस देश में नहीं मिलेंगे । अर्थात् ऋषि दयानन्द से पूर्व तो आठ प्रति सैकड़ा को वेदों का अधिकार था तथापि ऋषि की दृष्टि में वेदों के प्रचार में बहुत बड़ी रुकावट थी जिस के दूर करने के लिये उन से ईंट पत्थर तक खाये अन्त को विष भी खाया परन्तु ऋषि इस रुकावट के दूर करने में लगातार प्रयत्न करते रहे लाखों कष्टों और सहस्रों आपत्तियोंसे घवड़ा कर इस विचार का त्याग नहीं किया-प्राण तक दिये परन्तु अपने उद्देश्य की ओर चलना बन्द नहीं किया परन्तु दुर्भाग्य से मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की, ऋषि ने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की अर्थात् जो रुकावटें उस समय थी वह दूर होगई जो लोग कहते थे कि शूद्र के कान में वेद के शब्द यदि चले जावें तो उसके कान में सीसा भरदेना चाहिये । वही लोग आजकल सामान्य उत्सवों में जहां चारों वर्णों के मनुष्य होते हैं बल पूर्वक वेदों के मंत्र पढ़ने में आते हैं. परन्तु यही रुकावट है जिससे प्रतिसैकड़ा एकको भी वेदों के पढ़ने का अधिकार नहीं यह कितना भयानक दृश्य है ??? क्या इसका दूरकरना हमारा कर्तव्य नहीं क्या ऋषि दयानन्द की आत्मा से उपदेश लेने वाले क्या ऋषिदयानन्द के भावों को अपना मार्गोपदेशक स्वीकार करने वाले मनुष्य इस रुकावट को शान्ति भाव से स्वीकार करते हैं । कदापि नहीं । परन्तु बहुत से मनुष्य कहते हैं कि यह बन्धन तो कल्पना मात्र है जब पचास लाख रुपया गुरुकुल में हो जावेगा तब तालीम मुफ्त कर दी जायगी परन्तु यह विचार कैसा, पोच और किस प्रकार की बुद्धि तथा मस्तिष्क से निकला हुआ है कि जिसको सुन कर समझदार मनुष्य के हृदय में तो वैदिक धर्म की अवनति का चित्र खिच जाता है और ऐसे भोंगे (मूर्ख) मनुष्यों की बातों पर जो इस प्रकार के पोच भावों और बाल्य मोदनवत् मस्त हैं हंसी आती है ।

॥ इति ॥

कर्मव्यवस्था

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस वेद मन्त्रमें ईश्वर जीवोंको उपदेश करते हैं। कि हे जीव तू सौ वर्ष तक कर्म करता हुआ जीनेकी इच्छा कर, अर्थात् यही ठीक मार्ग है दूसरा नहीं और अच्छा कर्म मनुष्यके बंधनका हेतु नहीं होता। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि जब जीव स्वभावसे ही कर्म करता है, क्योंकि जीवका स्वभाव ज्ञान और प्रयत्न है तो फिर उसको कर्मका उपदेश क्यों किया गया? मन्त्र में तो कर्म पद है तुम अच्छे कर्म कहांसे लाते हो क्योंकि मन्त्रमें तो कोई शब्द अच्छे कर्मका ग्रहण करने वाला नहीं है। उत्तर यह है कि पूर्व मन्त्रमें कहा गया है कि जो जीव ईश्वरको छोड़ता है वह जन्म मरणके भोगोंको भोगता है इस लिये हे जीव! तू किसी का धन लेनेकी इच्छा मत कर इस मन्त्रमें ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कर्मों को तो जन्म मरणका कारण बतलाया गया है अब जिस कर्मके करने का उपदेश किया जाता है वह अवश्य ईश्वरकी आज्ञाके अनुकूल है उसी को धर्म कहते हैं। वही उन्नति कारक है और जो ईश्वरकी आज्ञा के विरुद्ध है वही पाप है उससे हानि होती है, जिस प्रकार संसार में राज्य के नियम के विरुद्ध चलना पाप है। जो नियमके विरुद्ध चलता है वह दण्ड पाता है और जिन कामोंको राज्यका नियम अच्छा बतलाता है उनको करनेसे पारितोषिक पाता है। दूसरे जीवमें कर्म करने का स्वभाव तो है परन्तु उसके स्वभावसे बुरे और अच्छे दोनों कर्म होते हैं। यहां उपदेश इस लिये किया गया है कि वह बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्मों को करता रहे। हमारे वेदान्ती भाई यह कहेंगे कि जब कर्म बंध और मुक्ति का कारण नहीं तो कर्म करनेसे क्या लाभ? इस लिये वेद में यह उपदेश ठीक नहीं। प्यारे पाठकगण! उनकी यह शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवका स्वभाव ज्ञान और प्रयत्न अर्थात् कर्म करता है जब जीव ज्ञान के अनुसार कर्म करता है तो उसको सुख होता है और जहां कर्मको मुख्य करके ज्ञानको पीछे रखता है तो उसे दुःख होता है। जिस प्रकार इस संसार में हम देखते हैं कि जब मनुष्य मार्ग देख कर चलता है तो कहीं ठोकर नहीं खाता और जो देख कर नहीं चलता तो प्रायः ठोकर खाता है और बहुत से

दूसरे जानवरों को भी पांवके नीचे दबाकर हानि पहुंचाता है। प्रायः ऐसे जानवर भी होते हैं जो दबाने वालेके पांवको काटखाते हैं इस दृष्टान्तसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्ञानके अनुसार कर्म तो किसी को हानि नहीं देता और उससे कर्ता को भी दुःख नहीं होता और अज्ञानके अनुसार कर्म करनेसे दुःख होता है इसलिये बन्ध और मुक्तिके लिये ज्ञान और अज्ञानको मुख्य साधन माना गयाहै और कर्म कौनसे साधन हैं? यहां पर कोई कोई मित्र शंका करेंगेकि क्या कर्मका करना हमारे अधिकार में है जो हम अच्छे कर्म करें इसका उत्तर यह है कि कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र है। परन्तु फल भोगने में पर तन्त्र है वेफिर शङ्का करते हैं कि हम करनेमें स्वतन्त्र नहीं, जैसे हम चाहते हैं कि एक (लाख रुपया) भूखे गरीबों को बांट दें परन्तु हमारे पास रुपया नहीं, इस लिये हम दान नहीं कर सकते हैं, इसका उत्तर यह है कि जीव का कर्म जो केवल नीयत है शेष प्रकृति का कर्म है जब आपने यह नीयत की तो आप कर्म कर चुके। जैसे जो मनुष्य चोरी करने का मन में संकल्प करता है और साधन उपस्थित न होनेके कारण चोरी नहीं कर सकता तो वास्तवमें वह चोरी कर चुका और महात्मा कृष्ण जी लिखते हैं:-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते

अर्थात् जो मनुष्य बाहरी कर्मसे इन्द्रियोंको रोक लेता है और मन में उन बुरे कामों का या इन्द्रियों के विषयों का संकल्प करता है वह मूढ़ात्मा और मिथ्याचारी है क्यों कि इन्द्रियें बाह्य पदार्थों के लिये साधन हैं और यथार्थ कर्म तो जिस समय मनमें विचार अच्छा बुरा उत्पन्न हुआ हो चुका। प्यारे पाठकगण! महात्मा रामचन्द्रने भी हनूमान् को यह उपदेश किया है जिस के द्वारा बुराई से छूटकर भलाई की ओर लगना मनुष्य का कर्त्तव्य है जैसा कि:-

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वासनेयं प्रसर्पति।
अशुभाद्वै वर्जयित्वा योजनीया शुभे पथि।

अर्थात् अच्छे और बुरे दो मार्गोंसे इच्छा की प्रवृत्ति होती है और तुम्हारा काम केवल बुरी इच्छा को रोक कर अच्छे मार्ग में चलाना है हम संसार में भी ऐसा ही देखते हैं:-अदालत देखती है कि उसने कतलका अपराध इरादेसे किया था किसी और विचारसे बन्दूक चलारहा था और अकस्मात् कोई मारागया,जो

यह जानले कि उसने प्रयोजन से अपराध किया है तो वह उस अपराध का दण्ड पावेगा और जो भूल से हुआ तो उस को असावधानी ही का दण्ड मिलता है कतलका नहीं। कोई २ मनुष्य यहां पर यह शंका करेंगे कि हम किस प्रकार जानें कि ईश्वर ने हमें क्या आज्ञा दी है और इस का प्रमाण क्या है कि ज्ञान मुख्य और कर्म गौण है? इस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार संसार में ईश्वर ने तुम्हारी हर एक इन्द्रिय के लिये एक एक सहायक उत्पन्न किया है आंखके लिये सूर्य और कान के लिये शब्द त्वचा के लिये वायु जिह्वा अर्थात् रसना के लिये जल और नासिका के लिये भूमि इसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि की सहायता के लिये वेदरूपी, ज्ञान का सूर्य बनाया है और दूसरे कर्म और ज्ञानके मुख्य और गौण होने का उत्तर शरीर में ज्ञान इन्द्रियों को ऊपर रख कर अच्छे प्रकार से बतला दिया है। जैसे समझ लीजिये कि पांच कर्मेन्द्रियां हैं और पांचज्ञानेन्द्रियां हैं। हाथ, पांव, लिंग, गुदा, और वाणी ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं और आंख कान, नाक, रसना और त्वचा येपांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। अब देख लीजिये कि ज्ञानेन्द्रियों का ऊपर बनाना ज्ञान को मुख्य बतला रहा है कर्मेन्द्रियों का नीचे बनाना ही उन को गौण सिद्ध कर रहा है, इस लिये जीव को ज्ञान के अनुसार कर्म करने की आज्ञा इस मन्त्र में दी है। यह तो आप भले प्रकार से जानते होंगे कि बिना प्रयोजन कोई मूर्ख भी किसी कार्य को नहीं करता तो अब ज्ञात करना चाहिये कि हम कर्म क्यों करते हैं? हर मनुष्य जो कुछ संसार में कर्म करता है अपनी उन्नति के लिये करता है इसलिये जिन कर्मों से हमारी उन्नति हो उन्हीं कर्मों को करने की हमको आज्ञा दी है। यहां पर अब यह शंका करेंगे कि किन कर्मों से हमारी उन्नति होती है, इसका उत्तर यह है कि संसार में कर्म पांच प्रकार के हैं जैसा कि महात्मा कणाद जी लिखते हैं:—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमन मिति कर्माणि ॥

अर्थात् ऊपर की ओर चलना नीचे की ओर गिरना, संकोचना फैलाना और बराबर चलना ये पांच कर्म यानी हरकत हैं जो प्रकृतिके पांचों भूतोंमें रहते हैं। प्रकृति तीन गुणवाली है अर्थात् सत्व गुण रजोगुण और तमोगुण। प्रकाश वाली शक्तिको सत्वगुण कहते हैं और रजोगुण कहते हैं जो न प्रकाश करे और न ढांपे और तमोगुण कहते हैं ढांपने वाला शक्ति को। इन पांच भूतों में प्रकाश करने वाली कौनसी शक्ति है? अग्नि। जो न प्रकाश करें और न ढांपे वे कौन से पदार्थ हैं! जल, वायु, आकाश। ढांपने वाली कौन सी शक्ति है?

पृथिवी। यह तो प्रत्यक्ष है कि अग्नि के प्रकाश से संपूर्ण वस्तुऐं ज्ञात होती हैं और विना प्रकाश के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता और जल जो स्वच्छ हो तो कभी किसी वस्तु को नहीं ढांपता। पहाड़ों में प्रायः स्वच्छ जल मिलता है वहां देखा गया है कि बहुत नीचे के पत्थर भी स्पष्ट ज्ञात होते हैं। और वायु में भी ढांपने और प्रकाश करनेकी शक्ति नहीं देखी जाती। और आकाश तो अच्छे प्रकार से प्रतीत है कि ढांपने और प्रकाश करने से नितान्त पृथक् है, पृथिवी तो हर एक वस्तुको ढांपती है, भूमि की पतली से पतली मिट्टी भी हमारी दृष्टिको समाप्ति कर देती है उसके दूसरी ओर की कोई वस्तु देखने में नहीं आती, जब यह ज्ञात होगया कि अग्नि का धर्म प्रकाश करना है और जल वायु आकाश दोनों गुणों से अलग हैं और पृथ्वी ढांपती है तो स्पष्ट ज्ञात होगया कि अग्नि सत्वगुण है और जल, वायु आकाश रजोगुण हैं और पृथ्वी तमोगुण है। अब हम देखते हैं कि अग्नि सर्वदा ऊपर की ओर चलती है कहीं नीचे की ओर नहीं जाती और जो वस्तु उसके साथ मिल जाती है उस को भी हलका करके ऊपर की ओर ले जाती है इससे ज्ञात होता है कि इस संसार में सत्वगुण प्रत्येक वस्तु की उन्नति का कारण है, वह हर एक वस्तु को ऊपर की ओर ले जाता है जिस तरह भौतिक पदार्थों में अग्नि सत्वगुण है अर्थात् प्रकाश करने वाला है उसी तरह आध्यात्मिक पदार्थोंमें ज्ञान प्रकाश करने वाला है और उन्नति की ओर लेजाने वाला है, अर्थात् जो ज्ञानी और विद्वान् होगा वह आप कभी नीचे की ओर न गिरेगा और न दूसरों को गिरावेगा। दूसरे वायु बराबर चलता है, प्रकाश फैलाता है और जल नीचे की ओर चलता है। इस से ज्ञात हुआ कि रजोगुण के ३ कर्म हैं बराबर रखना, फैलाना नीचे की ओर लेजाना, जिस से सम्यक्तया प्रकट होता है कि रजोगुण से उन्नति तो हो नहीं सकती, रही यह बात कि या तो इसी दशा पर विद्यमान् रहे अर्थात् रजोगुण से ऐसे कर्म करे कि जिस से फिर मनुष्य जन्म प्राप्त हो, उस से न उन्नति प्राप्त करे और न अवनति या यह हो कि संसार में अपना नाम विख्यात करे और नामवरी में अपनी सम्पूर्ण आयु व्यय करे, इस से उन्नति नहीं हो सकती। संसार में पुरुष को सांसारिक विषयों में फंस कर नीचे की ओर गिरादे मानो रजोगुणमें दो भाग बराबर रखने के हैं और एक भाग गिराने वाला है, ये कभी ऊपर की ओर लेजा नहीं सकता, परन्तु गिरा सकता है। अब विचार लीजिये कि रजोगुण से हानि की आशा तो है परन्तु उन्नति की आशा नहीं। पृथ्वी का धर्म सर्वदा

आचरण करना और सिकुड़ना है इसी तरह तमोगुणी पुरुष सदा सब का भला करने के अतिरिक्त अपस्वार्थी होता चला जाता है और दूसरों को हानि पहुंचा कर ही अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। उस के विचार इस प्रकार तंग हो जाते हैं कि अपने शत्रुओं या रिश्तेदारों से भी अपने स्वार्थ का सम्बन्ध रखता है और अपना गौरव इस बात में समझता है कि चाहे सम्पूर्ण संसार नष्ट हो जावे परन्तु मुझे अपने स्वार्थ से स्वार्थ रखना चाहिये। आप किसी कष्ट में फंस कर उस से सम्मति लेना चाहें वह झट अपनी फीस मांग लेगा, चाहे कष्ट में दब कर उससे ऋण मांगें तो वह बिना व्याज के बात नहीं करेगा। इस प्रकार के तमोगुण के कामों से उन्नति तो कभी हो ही नहीं सकती। बल्कि अवनति सदा होती है इसी लिये इस मंत्र में इस बात का उपदेश किया है कि मनुष्य सत्वगुण के कर्म करता हुआ आयु को पूरा करे, क्योंकि जब तक शरीर है तब तक जीव किसी न किसी प्रकार तो क्रिया करता ही रहेगा। परन्तु तुम सत्वगुणी कर्म करने में पुरुषार्थ न करोगे तो तमोगुणी अवश्य होंगे, ही जिससे उन्नति से अलग होकर अवनति का फल भोगना पड़ेगा। जो कोई यह कहे कि मैं करूंगा ही नहीं तो तमोगुणी कर्म किस प्रकार होंगे परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि हम संसार में देखते हैं कि प्रकाश के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है और अन्धार के फैलाने के लिये परिश्रम और सामान की आवश्यकता नहीं होती वह तो स्वयमेव प्रकाश के सामान के अलग होते ही आजाता है और हमें किसी मकान पर चढ़ने के लिये परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु गिरने के लिये तनिक पैर फिसल जाना ही बहुत है और किसी श्रम की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार मनुष्यको धार्मिक कार्य्यों के करनेमें परिश्रमकी आवश्यकता पड़ती है। अधर्म तो स्वयमेव हो जाता है जहां तनिक भी मनुष्य धर्म का विचार भूला कि झट अधर्म गले पड़ा। प्यारे आर्य्य गण ! बहुत से मित्र यह कहेंगे कि तुमने अग्नि को ऊपर चलना और वायु को बराबर चलना और जल का नीचे चलना, ये कर्म कहां से मान लिये; इनका वर्णन तो शास्त्रों में नहीं मैं अपने उन मित्रों से कहता हूं कि प्रथम तो ये बातें प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्ष के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं. दूसरे शास्त्र तो परोक्ष अर्थको बतलाया है कहीं २ दृष्टान्त के तौर पर प्रत्यक्ष बातों को कहता है परन्तु अग्नि आदि पदार्थों के कर्मों का वर्णन तो वैशेषिक शास्त्रमें अच्छे प्रकारसे उपस्थित है।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमन मित्यादि।

अर्थात् अग्नि का ऊपर चलना और वायु का बराबर चलना इत्यादि। और यह भी मालूम रहे कि संसार में हर एक पार्थिवगुणों की क्रिया इन दोनों भूतों के द्वारा होती है क्योंकि जब तक एक शक्ति पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के विरुद्ध होकर ऊपर को न उठावे तब तक कोई पार्थिव चीज पृथ्वी से अलग नहीं होसकती और जब तक पृथ्वी से अलग की हुई वस्तु को दूसरी ओर से धक्का न लगे तब तक वह किसी ओर चल नहीं सकती। मनुष्य के शरीर में जो प्राण वायु है वह उन्हीं दो भूतों की मिली हुई दशा का नाम है। आपने प्रायः देखा होगा कि जब कोई आदमी मरजाता है तो उसका शरीर ठंढा होजाता है और थोड़ी देर में उसका लोहू भी जम जाता है, जिससे साफ विदित होता है कि उसके अन्दरसे लोहूको पतला करके हरकतदे रही थी वहशक्ति निकल गई और जब खून को गर्मी न पहुंची तब वह जम गया। आपने देखा होगा कि क्रि जब आतिशबाजी का बुर्ज छोड़ा जाता है तो उसके भीतर अग्नि जलाते हैं और जब अग्नि के परमाणु उसके अन्दर भर जाते हैं तो वह उसको ऊपर की की ओर ले जाने लगते हैं यदि उस समय वायु कम चलता है तो बुर्ज सीधा ऊपर की ओर जायगा, परन्तु पवन तेज चलने की दशा में वह वायु की ओर और ऊपर की ओर इस प्रकार, कोने में चलेगा। दूसरे यदि उस समय वायु की शक्ति अधिक होगी तो वह ऊपर को कम जायगा। जिस ओर वायु है उस ओर अधिक जायगा। यदि अग्नि की शक्ति अधिक होगी और वायु की शक्ति कम होगी तो वह ऊपर की ओर अधिक चलेगा और हवा के रुख थोड़ी दूर जायगा और वहां पर अग्नि की शक्ति (मसाला) के खतम होने से खतम हो जायगा तब वह नीचे की ओर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से खिंचता हुआ हवा के रुख आ गिरेगा। प्यारे पाठक गण ! इन भूतों की सहायता से हर एक चीज का ऊपर और हवा के रुख जाना आवश्यक था उनको पृथ्वी पर तिरछा सीधा पृथ्वी तलपर चलानेके लिये एक शक्ति अर्थात् पानीकी ताकतसे काम लेनेकी जरूरत पड़ी चूंकि पानी की ताकत में हमेशा नीचको आने का नियम है इसलिये आगऔर पानीकी शक्तियें एक दूसरेके विरुद्ध ऊपरले जानेका काम करतीहैं इससे वह चीज हवाके रुख पर समान चलतीहै औरजब कोई ज्ञानीजीवात्मा अग्नि को तेज करता है तब वायु ऊपर की ओर चलता है और जल के कारण फिर नीचे आजाता है इस प्रकार वह इस तेजी से उन शक्तियों को बढ़ाता है और बढ़ता है कि जिसके समझने में बुद्धि चकित होजाती है। हमारे बहुत से

मित्र यह शंका करेंगे कि जब आग और पानी विरुद्ध काम करते हैं तो इन दोनों के काम की आवश्यकता न थी सिर्फ हवा से गति हो जाती है तो ये दो चीजें व्यर्थ क्यों रक्खी गई ? परन्तु उनको समझ लेना चाहिये कि यदि अग्नि न हो तो पृथ्वी से वस्तु को दूर करने वाली कोई शक्ति न होती हवा भी नहीं चल सकती थी क्योंकि हवा पृथ्वी के विरुद्ध काम नहीं कर सकती। हमारे कोई २ मित्र यह शङ्का करेंगे कि जब पृथ्वी अपनी तरफ खींचती है और अग्नि ऊपर की ओर तो इनकी शक्ति से वस्तुएं पृथ्वी पर चल सकती थीं। पानी की सहायता की क्या अवश्यकता है? जो उसको सम्मिलित किया गया! परन्तु याद रहे कि जब अग्नि की शक्ति पृथ्वी की शक्ति से अधिक होती है तभी तो वह वस्तु को पृथ्वी से अलग कर सकती है। यदि अग्नि की शक्ति पृथ्वी की शक्ति से न्यून हो तो पृथ्वी वस्तु को अपने से पृथक न होने देगी। जब यह विदित होगया कि अग्नि की अधिक शक्ति वस्तु का भूमि से अलग कर सकती है तो यह कम ताकत वाली पृथ्वी किस प्रकार उस वस्तु का अपनी ओर ला सकती है इस हालत में तो यह वस्तु सीधी ऊपर को चलेगी, इससे ईश्वर ने पृथ्वी की सहायता के लिये जल को सम्मिलित किया जिससे जल नीचे की ओर चीजों को फेंकता है और अग्नि ऊपर की तरफ उस समय की खिचाई की अवस्था में वायु वस्तु को अपने बहाव की ओर ले जाता है। इन तत्वों को क्रिया देने वाला बना कर परमात्मा ने पार्थिव शरीर को रथ बनाया है जिसमें जीवात्मा को" गार्ड ,, और बुद्धि को 'ड्राइवर, नियत किया है और बुद्धि आवश्यकतानुसार शेष तत्वों की शक्ति को घटाती बढ़ाती है इससे जब चाहे यह रथ चल देता है और जब चाहे खड़ा हो जाता है। वैदिक शास्त्र से यह स्पष्ट ज्ञात होचुका है कि जिस शरीर में गर्मी अधिक होती है वह शीघ्र चलने वाला और बली होता है और जिस में बलगम (कफ) अधिक होता है वह शरीर मोटा और ढीला होता है, उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अग्नि की शक्ति से पृथिवी का सामना हो सकता है और जल वायु उस के विरुद्ध न होने से उस का सामना नहीं कर सकते, इस से संसार के लिये सब से उत्तम पदार्थ अग्नि है। इसी प्रकार शरीर की रचना से विचार कर के बुद्धिमान् और शिल्पी बहुत अच्छा अञ्जन बना सकता है। वास्तव में जिस यंत्र ने प्राणियों के शरीर बनाये गये हैं यह सब भिन्न भिन्न प्रकार के अंजन हैं और उनके अन्दर जो जीवात्मा और बुद्धि

है वही "गाड, और "ड्राइवर, हैं। उन अंजनों में सत्व गुणी शक्ति, (अग्नि की शक्ति) है उनको शीघ्र चाल और उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाली है और शेष सम्पूर्ण शक्तियें उसको उन्नति से रोकने वाली हैं। भौतिक अवस्था में तो आप ने सत्वगुणी शक्ति और अग्नि का काम देख लिया। अब आध्यात्मिक अर्थ में देख लीजिये कि अग्नि शब्द के आध्यात्मिक अर्थ परमात्मा है वही जीवात्मा को उन्नति पर लेजाने वालाहै और परमात्मा की आज्ञाके विरूद्ध चल कर जीवात्मा सर्वदा हानि उठाता है, जिस प्रकार भौतिक अंजन में तीन शक्तियें कम आतीहैं उसी प्रकार आध्यात्मिक संसार में भी ३ शक्तियें हैं। जिस प्रकार यहां जल,वायु अग्नि हैं उसी प्रकार यहां प्रकृति, जीव, ब्रह्म है जिस प्रकार इनके मध्य वायु न चलने वाला और सर्दी गर्मी से अलग है उसी प्रकार यहां पर जीव मध्य दशामें है और सुख दुःख से रहित अर्थात् असङ्गहै। जिस प्रकारयहां वायु अग्नि संयोग से हलका होकर ऊपरकी ओर चला जाता है उसी यहांतरह जीवात्मा परमात्मा की उपासना से पाप के बोझ से हलका होकर वैराग्य से मुक्त हो जाता है और उसका दुःख किंचित भी नहीं रहता और आनन्द युक्त परमात्मा के प्रकाश से अपने आपको प्रकाशित देखता है, जैसे वायु अग्नि के संयोग से उष्ण और शीघ्र चलने वाला हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा की उपासना से ज्ञानी और बुद्धिमान हो जाता है पहले जिस बात को वह कुछ भी नहीं समझ सकता था अब बहुत जल्दी समझ लेता है और योगी जो दिन रात परमात्मा की उपासना करते हैं जिस वस्तु को जानना चाहते हैं जान जाते हैं। परन्तु प्रकृति के उपासक जो दिन रात प्रकृति की उपासना करते हुए भी प्रकृति की असलियत को नहीं समझते और न उन को आत्मा और शरीर का भेद मालूम होता है और न वे विद्या और अविद्या के तत्व को समझते हैं वे केवल अन्धकार में जीवन पूरा करते हैं। जब वायु जलके साथ मिलकर चलता है तब ठंडा और भारी हो जाता है उसकी चाल बहुत धीमी हो जाती है और वह उपर की ओर नहीं आ सकता उसी प्रकार प्रकृति का उपासक, जीवात्मा को हर समय दुःखी जाना करता है, और उसकी ज्ञान शक्ति बहुत ही न्यून हो जाती है, वह मोटी मोटी बातों को भी नहीं समझ सकता और उसकी उन्नति बिलकुल रुक जाती है और विषय के बधनों का ऐसा पाबन्द हो जाता है कि उसको अपना जीवन भारी मालूम होने लगता है यद्यपि वह अपने आप को स्वतन्त्र बनाने का यत्न करता है परन्तु उसके गले में विषयों की फांसी पड़ी हुई और हाथों मेंबुरी

आदतों की हथकड़ी और पाँव में बेड़ियां पहने हुए हैं, वह किस प्रकार स्वतन्त्र हो सकता है। प्रकृति के उपासक को जन्म, जीवन, और मृत्यु तीनो लोक दुःख दायक होते हैं, क्योंकि जब जन्म लेता है तो गर्भ में दुःख उठाता है गर्भ से रोता हुआ बाहर आता है और जीवन में चिंता और तृष्णा की आग से जलता रहता है और हानिकारक वासनायें उसको हर समय तङ्ग करती रहती हैं चाहे संसार की वस्तुएं किसी प्रकार प्राप्त हो जावें उनसे उसे शान्ति नहीं होती, वह जितना अधिक विषय भोगता है उतनी ही इच्छा की अग्नि तेज़ हो जाती है और जब वह मरने लगता है तो पहिले उसके सम्पूर्ण पाप एक एक करके उसके सामने आ खड़े हो जाते हैं उनके फलों का खयाल करके उसे कठिन दुःख होता है दूसरे जिस सम्पत्ति को उसने पाप करके इकट्ठा किया था उसके विवश होकर त्यागने का उसे बड़ा कष्ट होता है, तीसरे घर वालों और मित्रों का मोह भी उसकी जान पर भारी दुःख डाल देता है।

प्यारे मित्रो! यदि आपने संसार के उपासक की मृत्यु का हाल देखना हो तो महमूदगज़नवी की मृत्यु का हाल इतिहासों में पढ़ो कि वह संसार उपासक किस दुःख में फंसा है और उस ने लाखों परमेश्वर के जीवों को दुःख देकर जो धन सम्पत्ति जमा की, उसे कैसा कष्ट दे रही है। प्यारे पाठकगण! अब आप समझ गये होंगे कि वेद मन्त्र क्या आज्ञा देता है? वेद मन्त्र यह सिखलाता है कि सौ वर्ष तक अर्थात् अपने जीवन भर अच्छे कर्म करो कभी बुरे कर्मों को मत करो और ईश्वर की आज्ञा के अनुसार संसार में जीवन व्यतीत करो, यदि तुम कर्म करना छोड़ दोगे तो बुरे कर्मों में फँस कर अपने जीवन को प्रकृति की उपासना के गहरे गढ़े में डाल लोगे। अवश्य तुम्हारा आत्मा जन्म जन्मान्तर तक दुःख भोगेगा। यदि तुम अच्छे कर्म करते रहोगे तो प्रकृति की उपासना से बच कर परमात्मा की ओर लग जाओगे जिस से तुम्हारा जीवात्मा शान्तमुक्ति सुख को भोग करेगा और जन्म मरण के दुःखों से बचाव होगा और अच्छे कर्म वही हैं जिन में ईश्वर की आज्ञा है अर्थात् जो वेदों में बतलाये हैं। बुरे अर्थात तमोगुणी और रजोगुणी कर्म व हैं जिन का वेदों में निषेध किया है। बस तुम ईश्वर की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करके मुक्ति सुख को प्राप्त करो।

इति

अविद्या का प्रथम अङ्ग

विद्याञ्चा विद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

इस वेद मन्त्र में परमात्मा जीवों को इस बात का उपदेश देते हैं कि जो जीव अविद्या और विद्या अर्थात् दुःख और सुख के कारण को एक समय में जानता है वह अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को तरकर विद्या के ज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अविद्या जो दुःख का कारण है वह क्या वस्तु है ? इस का लक्षण महात्मा पतञ्जलि ऋषि ने यह किया है कि–

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
यो० पा० ५

अर्थ—अनित्य पदार्थों को नित्य जानना अविद्या का प्रथम लक्षण है जैसे यह शरीर नाश वाला है अथवा यह जगत् जो विनाश वाला है, इसको सर्वदा स्थित रहने वाला मानना अविद्या है क्यों कि यदि जीव इस शरीर को नित्य न जाने तो उस के पालने के वास्ते वड़े २ पाप कभी न करे अस्तु जिस मनुष्य को यह निश्चय हो जाता है कि मैं ऐसी सराय में ठैरा हूँ कि जिस में पता नहीं कि किस समय स्वामी मुझे निकल जाने की आज्ञा देदें तो उस में वह मनुष्य जास्ती सामान इकट्ठा करने का श्रम नहीं करता और नहीं मनुष्यों से प्रीति वढ़ाता है क्योंकि सम्पूर्ण कार्य आशा के सहारे पर होते हैं, जब आशा की निवृत्ति हुई तव वहां कार्य कोई नहीं कर सकता जब तक मनुष्यों को यह आशा रहती है कि यह लड़के और स्त्री मुझे सुख देंगे तब ही तक यह लाखों प्रकार के असत्य वाक्य बोल कर और विश्वास घात करके रुपया इकट्ठा करता है यदि उसको इस श्लोक पर विश्वास होता तो वह कार्य नहीं कर सकता जैसे एक कवि ने कहा है:–

अनित्यानिशरीराणि विभवोनैव शाश्वतः ।
नित्यंसन्निहितोमृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

अर्थात् यह शरीर सर्वदा रहने वाला नहीं क्योंकि हमारे प्राचीन ऋषि हमारे सामने इस जगत् से चले गये हैं हमारे माता पिता और भाई भी यहां से

चल दिये हैं शेष भी चले जा रहे हैं, पुनः किस प्रकार आशा हो सकती है कि यह हमारा शरीर सर्वदा रहने वाला है, यदि नहीं तो इस के वास्ते आत्मा के बल को नाश करने से क्या लाभ है जब ऋषि मुनि और देवताओं के शरीर ही स्थित न रहे तो हमको अपने शरीर के नित्य रहने की आशा रखना सरासर अविद्या के घर में वास करना है, यह प्राकृत पदार्थ धनादि भी सर्वदा रहने वाले नहीं हैं लाखों राजा महाराजा इस पृथिवी पर से चले गये और प्रत्येककी बुद्धिमें यह निश्चय होगया था कि मैं इस संसारका राज्य भोगनेके वास्ते हूं और मैं इस जगत्का स्वामी हूं और संसारके सारे पदार्थ मेरे भोगके वास्ते हैं परन्तु आज उनका नाम निशान भी दृष्टि गोचर नहीं होता इतना ही नहीं औरंगजेब जैसे बादशाहोंकी क़बरों का भी पता नहीं मिलता, वह जगत् को तो बिचारे क्या भोगते—किन्तु आप ही भोगे गए, संसारकी संपूर्ण वस्तु वसी की वैसी स्थित हैं, परन्तु वह जगत्को अपना मानने वाले नहीं रहे-नाहीं आज दुनियां में कोई उनकी प्रतिष्ठा हैं। कारू ने लाखों कोष इकट्ठे किए परन्तु आज न तो कारू का पता मिलता है और ना उनके वह कोष दीखते हैं जब कि कारू जैसे मनुष्योंके साथ धनादिक सांसारिक पदार्थोंने मित्रता छोड़दी तो आजकल छोटे२ राजे रईस धनिये, सेठ साहूकार दो चार लाखके विश्वाससे संपूर्ण लोगों को तुच्छ समझते हैं, इससे क्या आशा रख सक्ते हैं, जिन नव युवकोंकी बुद्धि में धनादिक सांसारिक पदार्थ सबसे प्यारे हैं, उनको चाहिये कि वह अपने दादा परदादा की अवस्था पर विचार करें, कि उनके साथ माया ने कैसा बर्ताव किया जिस माया को उसने हजारों पाप करके उत्पन्न किया था मरते समय उन को कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकती है दूर मत जाओ इस देहली की अवस्था पर विचार करो-कि एक समय यह देहली इन्द्रप्रस्थके नामसे प्रसिद्ध थी, युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा राजा यहां राज्य करता था जिसके अर्जुन, जैसे तीरन्दाज भ्राता थे अभिमन्यु जैसे बलवान् भतीजे थे, भीमसेन जैसे बलवान् गदाधारी योधा जो कटिबद्ध होकर उसके पसीने के स्थान में अपना रक्त[खून] बहाने को तयार रहते थे कृष्ण जैसे योगीराज उनकी सहायता के लिये कटिबद्ध थे वह युधिष्ठिर जिसने राजसूययज्ञ किया संपूर्ण संसार के राजाओं पर राज्य किया फिरंग [यूरूप] पाताल [अमरीका] और एशिया के मुल्कोंके सम्राट होते हुवे अपना सिक्का चलाया जिसका वर्णन विस्तार पूर्वक महाभारत में किया है जिसने अश्वमेध यज्ञ किया जिसकी आज्ञा में लाखों मनुष्योंकी सेना

रही अर्थात् बहुतसी अक्षौहिणी सेना रहती थी बड़े२ महारथी और शस्त्रधारी जिनके भ्राता थे।

भला आज कोई बतासका है कि देहली में उसका कोई चिन्ह मिलता है आज एक छोटासा मनुष्यभी उसकी आज्ञाको नहीं मानता किन्तु कोई भी नहीं जानता कि युधिष्ठिरका गृह देहलीके किस मुहल्लेम था युधिष्ठिरके पीछे बहुत से राजे महाराजे हुवे जिन्होंने इसको अपना समझा परन्तु यह देहली किसी की नहीं हुई। युधिष्ठिरने कौरवोंसे लड़ाई की सम्पूर्ण वंशका नाश किया हा। आर्यावर्तके भीष्मपितामह जैसे उसकी सहायता के लिये मारे गये द्रोणाचार्य जैसे शस्त्र विद्या के गुरु मारेगये परन्तु क्या देहली युधिष्ठिरकी हुई! नहीं जिस युधिष्ठिरने देहली के लिये इतना श्रम उठा कर हजारोंके रक्त बहाकर बड़े२ दुःख उठाये सारे वंशका नाश किया परन्तु इतने पर भी देहली उसकी न हुई भला जब इतनी आपत्तियोंके उठानेसे भी देहली युधिष्ठिरकी नहीं हुई तो उसके आदेशों राजनशीनोंको उससे क्या आशा होसकती थी सब राजे नम्बरवार देहलीको अपना२ कहते हुवे चलेगये परन्तु यह किसीकी न हुई। किसी मूर्ख को यह स्मरण न हुवा कि संसार तो आज तक किसी का हुवा ही नहीं पुनः हम उसमें अपना अहंकार रखकर उसके वास्ते वंशका नाश करनेका कलंक क्यों लें यदि वंशको जगत्के अन्दर होनेसे उसकी कुछ परवाह न करे तो धर्म का क्यों नाश करें! हा! अविद्यो तेरी महिमा अपार है जब युधिष्ठिर जैसे सभ्य पुरुषोंको तैंने फंसा लिया तो आजकलके निर्बुद्धि मनुष्योंका तो कहना ही क्या है केवल युधिष्ठिर ही तेरे जालमें नहीं फँसा किन्तु उसके सम्पूर्ण अनुयायी तेरी गुलामी का भार शिर पर लेकर चले गये कुछ काल पश्चात् महाराजा पृथिवीराज भी कुछ दिवस पर्यन्त देहली को अपना कहता रहा परन्तु वह उसकी भी न हुई॥ अपने भ्राता जयचन्द्रसे युद्ध में विजय पाकर, हजारों शूर वीरोंके शिर कटाकरभी देहली पृथिवीराजकी न रही। सुमेरसिंह ने जो भारत के शूर वीरोंमें शिरोमणि था, बहुत कुछ प्रयत्न किया यहां तक कि अपने प्राण भी उस की रक्षा में समाप्त किये, परन्तु क्या देहली पृथिवीराज की रही? नहीं, कुंवर कल्याणसिंह जैसे सिंह ने बहुत कुछ श्रम किये परन्तु सब निष्फल हुवे, यहां तक कि शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को प्रथमवार पराजय किया जिस देहली, के लिए विजयसिंह ने पृथ्वीराज का विश्वास घात किया। कुंवर कल्याणसिंह को धोके से मारडाला। सं-

पूर्ण क्षत्रिय सेना को मिटा कर आर्यावर्त को यवनों का सेवक बनाया, क्या यह देहली विजयसिंह की हुई ? नहीं ! जिस शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने लाखों मनुष्यों के रक्त बहाकर पृथ्वीराज को छल और कपटों से विजय करके अपनी संपूर्ण प्रतिज्ञा को भंगकर धर्म की परवाह नहीं की, अपन्थिवत् (लामजहबों की तरह) राक्षसता का झंडा उठाया क्या देहली उसकी हुई ? नहीं, जब कि यह देहली इतने २ कपटों से भी अपनी नहीं हुई तो अब जो मनुष्य थोड़े वित्त होने पर अहंकारी बन बैठते हैं और पाप से रुपया कमाने पर कटिबद्ध हो जाते हैं, उनको स्मरण रहे कि संसार की संपूर्ण वस्तु आज किसी की कल किसी की चलती फिरती छाया है, मौत दिवस प्रति दिवस समीप आती जाती है माता पिता समझते हैं कि हमारे पुत्र की आयु बढ़ती है परन्तु यह उनका विचार मिथ्या है, क्योंकि रात दिन रूपी दो चूहे हैं जो मनुष्यों की आयुरूपी रस्सी को निरन्तर काटते जा रहे हैं निशि दिवस के चक्र में मनुष्यों की आयु घटती हुई ज्ञात नहीं होती, मृत्यु मनुष्य की आयु का नाश अन्धेरे को प्रकाश की तरह करता हुआ चला जाता है परन्तु जो मनुष्य मृत्यु से भय करता है उसको संसार के विषय दुःख नहीं दे सकते हैं परन्तु जिसको मृत्यु का भय नहीं है उसको पाप की भयंकर आशा अपने वशीभूत रखती है। पाप से केवल वही मनुष्य बच सकता है, जो मृत्यु को प्रत्येक समय शिर पर खड़ी देखता है। जो मौत को भूल जाते हैं वह अपनी हानि कर बैठते हैं अपनी मौत को प्रत्येक समय स्मरण रखना चाहिये इस ही से सम्बन्ध रखने वाला एक दृष्टान्त भी है।

एक समय किसी कामी राजा ने किसी विद्वान् वैद्य को आज्ञा दी कि हमारे वास्ते एक ऐसी औषधी तयार करदो कि जिसके सेवन से रात्रीभर काम से अवकाश न मिले वैद्य तो ऐसे ही राजा महाराजा नवाब और रईसों की खोज में फिरा करते हैं।

उन्होंने ऐसी ही औषध तैयार करदी और जिस समय वह औषध राजा की सेवामें भेजी तो राजा जी ने आनन्द को प्राप्त होते हुए भृत्य को आज्ञा दी कि इसको बाग में लेजाकर गुरुजी की सेवामें रक्खो भृत्यने ऐसा ही किया, गुरुजी उस औषधी को ठीक तो जानते ही नहीं थे कि इसके क्या गुण और अवगुण हैं, उन्होंने समझा कि राजाजी ने कुछ उत्तम ही वस्तु भेजी होगी झट दो तीन तोला खागये। राजाने भृत्य को आज्ञा दी कि जाओ, नौकर वापिस डिब्बा लेकर आया और सम्पूर्ण वृतान्त वर्णन किया राजा ने उस समय तो

श्रवण करके मौन धारण किया और रात्रि को वैद्य की आज्ञानुसार एक रत्ती खाई और रात्री के अन्तिम समय पर्यन्त काम की पूर्ति नहीं हुई। जब प्रातः काल उठे तो स्मरण आया कि मैंने तो एक रत्ती ही खाई थी, जब मेरी यह गति हुई और गुरुजी की न मालूम क्या गति हुई होगी ? यही मनमें सोचकर बाग में जा पहुंचे देखा तो गुरुजी उसी प्रकार समाधि में बैठे हुए हैं. महाराज देखकर गहरे विचार में गिरा कि यह क्या वार्ता है। जिस काम वर्धक औषध ने मेरा यह हाल किया उसने गुरुजी पर कुछ भी असर न किया। इतने में गुरुजी की समाधि खुली। देखा कि महाराजा गहरे विचार में गिरे हुये हैं पूछा कि क्या सोच रहे हो ? महाराजा ने कर बांधकर कहा कि महाराज अप-राध क्षमा करें तो कुछ जिह्वासे शब्द निकालूं गुरुजी महाराज बोले कि निर्भय होकर तुम्हारे मन में हो सो कहो। महाराजाने कहा कि महाराज मेरे मनमें एक शंका उत्पन्न हुई है आप इसका उत्तर देकर मेरा दुःख दूर करें गुरुजी ने कहा पूछो, राजा ने कहा कि महाराज मैंने जो कल आपकी सेवामें कामवर्धक औषध भेजी थी आपने उसमें से तोलेसे ज्यास्ती खाई थी और मैंने एक रत्ती, परन्तुजब भी मुझसे सम्पूर्ण रात्रिमें काम पूर्ति नहीं हुई आप पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ इसका क्या कारण है। सन्यासी ने कहा कि पुनः किसी रोज बतलायगे। परन्तु तुम आज दो मजदूर बुलाकर इस बागमें रक्खो और उनको अच्छे उत्तम वस्त्र पहना कर इसको ठीक सजा कर और सुन्दर स्त्री उनके भोग के लिये भेजो और प्रत्येक उत्तम सामान उनको दिया जावे और प्रत्येक दिवस उनको जिस वस्तु की आवश्यकता हो वही भेज दो, राजाजी ने नौकरों को आज्ञा दी कि दो मजदूर नगर में से पकड़ कर बाग में लेजाओ और नजरबन्द रक्खो और कुल सामान उनको दे दो। नौकरों ने वैसा ही किया जब वह दोनों मनुष्य खा पीकर अच्छे प्रकार पुष्ट होगये और श्रमसे मोक्ष हुए तो कामदेव ने अपनाजाल फैलाया अब जब उन से पूछा जाता कि क्या चाहिये तो उत्तर में कहा जाता कि स्त्री। जब दस पन्द्रह दिवस उन को स्त्री मांगते हुए हो गये तो राजाजी ने गुरु जी के समीप जाकर कहा कि महाराज अब तो वह मनुष्य केवल स्त्री ही स्त्री पुकारते हैं।

अच्छा तो नगर में मनादी करादो कि वह दो मनुष्य जो पाले गये थे कल को बलिदान किए जावेंगे परन्तु मनादी इस ढङ्ग से कराओ कि वह भी सुन लेवें और रात्रि को दो रत्ती औषधि देदो! और दो सुन्दर स्त्री भी भेजदो और

जो कुछ यह कहैं उसका मुझे समाचार दो। राजाजी ने सम्पूर्ण कार्य्य वैसा ही किया। जब उन मजदूरों ने सुना कि कल हम बलिदान किए जावेंगे तो मन में विचारा कि हमको जो राजा ने निष्प्रयोजन उत्तम २ भोजन वस्त्र दिये हैं उस का केवल बलिदान देनेके और कोई अर्थ नहींहै उसका कारण भी तो और नहीं दीखता है अस्तु, कल निश्चय मौतके भक्ष्य बनेंगे। उन स्त्रियों ने बार बार इच्छा प्रकट की कि किसी प्रकार हमारी तरफ ध्यान दें, परन्तु उन को ध्यान में भी नहीं आया कि हमारे पास और भी कोई हैं या नहीं। उन्हों ने आकर राजा जी से कहा महाराज वह तो नपुन्सक है। महाराज चकरायेकि यदि वह नपुसक होते तो बार २ स्त्री की इच्छा क्यों प्रकट करते महाराज ने सम्पूर्ण वृत्तान्त गुरुजीसे कहा। गुरुजीने उत्तर दिया कि वह नपुन्सक नहीं किन्तु आपने उनको मौत का भय दिखाया था उस ने उन को नपुन्सक बना दिया है जिससे इतनी इच्छा होने पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अब तू अपने प्रश्न का उत्तर सुन, जिस मृत्यु के भय में उन को नपुन्सक बना दिया जो रात दिन काम की चेष्टा करते थे यद्यपि उनको सम्पूर्ण रात्रिको जीने की आशा थी परन्तु मुझे तो पल के जीने की आशा नहीं है भला हमें पुनः यह कामदेव किस प्रकार सता सकता है आप समझ गए होंगे कि मृत्यु का भय कितना बलवान् है कि मनुष्यों को पापों से तत्काल बचा सकता है यह केवल शरीरको अनित्य जाननेका ही फल है अर्थात् अविद्या ही के प्रथम अंग को जानने से मनुष्य पापों से बच सकता है उस मनुष्य की दशा का ढंग ही पलट जाता है। यह एक ऐसी बात है कि जिसकी बुद्धि में बैठ जाती है उसकी दशा ही पलटा खा जाती है। मृत्यु प्रत्येक मनुष्यके सिर पर सवार है, जो मनुष्य लाखों तोपें अपने शत्रुओं के वास्ते रखते हैं वह भी मृत्यु के पंजे से बच नहीं सकते। जिन के पास बहुतसी बन्दूक तोप और आर्मामेंट के गोले स्थित हैं वह मृत्यु की बराबरी नहीं कर सकते। जिन्होंने बड़ी २ ढालें तलवारें किर्चें तीर और कमान शत्रुओं से बचने के वास्ते सहायक बना रक्खे हैं मौत के सामने सब निष्कार्य हैं। मृत्युके भयसे कोई मनुष्य जब तक नहीं बच सकता है कि तब तक वह अविद्या और विद्या के स्वरूप को ठीक २ नहीं समझले, अतः अविद्या का प्रथमावयव 'अनित्य को नित्य मानना' है उस के नाश का कारण 'मृत्यु का भय' है।

अविद्या का द्वितीय अंग।

अविद्या का प्रथम अंग तो ज्ञात हो गया-कि अनित्य को नित्य मानना ही अविद्या है, अब उसका दूसरा अंग बतलाते हैं कि-अशुद्ध शरीर को शुद्ध मानना-प्रत्येक मनुष्य जो मोह में फंसता है केवल एक सौन्दर्य को देखकर? क्या कोई शरीर शुद्ध कहला सकता है कदापि नहीं। क्योंकि शरीर के प्रत्येक अवयव से सिवाय मलों के और कुछ नहीं निकलता चक्षु सबसे प्रकाश वाली और शुद्ध है उस में भी जरासी मिट्टी पड़ जाने से जीवात्मा बहुत दुःख मानता है और जब देखोगे उस में से मल ही (ढीड) निकलता हुआ देखोगे यदि उस को तोड़ दो तो मांस और रक्त ही निकलता है। मनुष्योंके शरीरका कौनसा अवयव है जिस के अन्दरसे निकली हुई वस्तुको मनुष्य शुद्ध मानता हो। रक्तको प्रत्येक मनुष्य अशुद्ध मानता है मांस भी अशद्ध ही है, मेद और अस्थि भी शुद्ध नहीं निदान शरीर में सब ही अशुद्ध वस्तु अर्थात् घृणित पदार्थ भरे हुए हैं कोई भी स्वच्छ पदार्थ नहीं-मनुष्य नित्य जल से धो कर ऊपर की त्वचा को स्वच्छ कर लेता है परन्तु आभ्यन्तर से मल मूत्रादिकों को कोई भी नहीं धोता हैं ऐसी दशा में शरीर के स्वच्छ होने की प्रतिज्ञा करना कैसी मूर्खता है क्या शूद्र को शरीर अशुद्ध और ब्राह्मण का शुद्ध है। नहीं नहीं महाराज शारीरिक दशा में तो ब्राह्मण और शूद्र एक हैं सब ।। के शरीरों में वही भ्रष्ट पदार्थ भरे हुएहैं? जिस स्त्रीको मनुष्य सुन्दर जानकर उस के मोह में प्राण तक देदेता है यदि विचार पूर्वक देखा जावे तो यही ज्ञात होगा कि स्वर्ण के घड़े में पाखाना भरा हुआ है केवल बाह्य बनावट ने उसको सुन्दर बना रक्खा है वरन उस के आभ्यन्तर ऐसी वस्तु भरी हुई है कि जिसके स्पर्श से मनुष्य अपने हस्तपाद को बार २ धोता है चाहे कोई बाह्य दशा में कैसा ही सुन्दर हो-परन्तु मूलमें निर्बलता होने से बच नहीं सकता जब शरीर की ऐसी गति है तो मनुष्य क्यों इससे मोह करता है केवल अविद्या के कारण से वरन। कोई विद्वान् मनुष्य ऐसी मलीन वस्तु को स्पर्श करना भी अच्छा नहीं समझता अविद्या के गहरे चक्र में गिरकर जीव की बुद्धि विनाश को प्राप्त होकर मनुष्य को धर्माधर्म का ज्ञान भी भुला देती है यहां तक ही खराबी नहीं हुई किन्तु इस अविद्या के कारण से ऐसे मांस को कि जिसकी दुर्गंध से मकानों में ठैरना कठिन ज्ञात होताथा मनुष्यने उसकोभी खुराक मान लियाहै कोई नहीं विचारता कि भेड़ का सम्पूर्ण शरीर जिस खुराक से बना है वह भद्र मनुष्यों की दृष्टि से

गिरा हुवा है परन्तु मनुष्य उसको भी आनन्द से भक्षण करते हैं जब तक वह अच्छी दशा में है तब तो उसको अच्छा नहीं मानते परन्तु जब उस में दुर्गंध आने लग जाती है तो वह मद्य बन जाती है और मनुष्य उसको पीने के वास्ते अधिक मूल्य पर भी लेते हैं। निदान कि मनुष्य अविद्या के कारण प्रत्येक भ्रष्ट से भ्रष्ट वस्तु को भी स्वच्छ समझ कर अपनी आत्मिक दशा का विनाश कर बैठे हैं जिसको देखकर विद्वान् लोग बहुत ही घबराते हैं यदि किसी का हस्त रक्त से स्पर्श होजावे तो वह बीसियों बार हाथ को मिट्टी से धोता है परन्तु रक्तसे भरे हुवे मांसको भक्षण करनेके लिए बिचारे जीवोंकी नाड़ियोंकी चालको बन्द कर देते हैं अर्थात् वियोग कर डालते हैं प्रथम तो मनुष्यों का शरीर ही भ्रष्ट पदार्थों से भरा हुआ है परन्तु बहुत से मनुष्य कह बैठेंगे कि हमें तो मनुष्यों के शरीर में से दुर्गंध नहीं आती यदि यह स्वच्छ नहीं होता तो दुर्गंध अवश्य आती है। परन्तु आपको स्मरण रहे कि प्रथम तो दुर्गन्ध उन पदार्थों में से आया करती है जो उनको कभी नहीं मिले-वरन् आभ्यान्तर होने से अधिक समय तक गंध को ग्रहण करते रहने से ज्ञान शक्ति नहीं रहती और वह वस्तु अपने अनुसार होजाती है क्योंकि हम देखते हैं कि चर्मकार मनुष्य चमड़ा धोने वाले खटीक चर्म की गंध के इतने शत्रु नहीं होते जितने कि हम तुम मांस के बेचने वाले कसाई मांस की दुर्गन्धि से नहीं घबराते कारण यही है कि उनकी इन्द्रियों में उन वस्तुओं के समीप रहने से आपस में ऐसा सम्बन्ध होजाता है कि उन में कोई भेद ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार इस जाति के मनुष्य दुर्गन्ध से घृणा नहीं करते उनको अस्वच्छ पदार्थ भी स्वच्छ ज्ञात होते हैं यही दशा उन मनुष्यों की है जो रात्रि दिन शरीर को ही जीव समझकर उसकी रक्षा में लगे रहते हैं उनको यह विचार नहीं होता-कि जिस शरीर से प्रत्येक समय गंदगी के पदार्थ निकलते हैं वह शरीर किस प्रकार शुद्ध कहला सक्ता है जब कि ऐसे ज्ञान के हेतु से स्थिति ज्ञात हो जावे कि प्रत्येक शरीर गंदगी का थैला है चाहे वह थैला चमकदार मखमल का हो अथवा सन की बोरी का परन्तु उस थैले के अन्दर दुर्गन्धित पदार्थ हैं तो वह कभी इस से मोह नहीं कर सकता और कभी सुन्दर वस्तु को देख के उस पर मस्त (दीवाना) नहीं हो सक्ता है ? क्योंकि वह जानता है कि यह सुन्दरता बाहर ही दृष्टिगोचर होती है, न कि आभ्यन्तर भी ! उसमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिससे मोह किया जावे यह चलती हुई गाड़ी

जो प्रत्यक्ष में चमकीली ज्ञात होती है प्रत्येक मनुष्य को अपनी तरफ खेंच सकती है परन्तु जिस मनुष्य को इसके कारण का ज्ञान हैं वह जानता है कि यह पदार्थ सब दिखावटी हैं। जो मनुष्य मांस भक्षकों की दुर्गन्धि को अच्छी तरह से जानते हैं वे कदापि ऐसे पदार्थ के भक्षण का श्रम न करेंगे परन्तु जिन मनुष्यों को अविद्या के कारण से भ्रष्ट शरीर को स्वच्छ होने का निश्चय होजाता है वह शारीरिक उन्नति को सामाजिक उन्नति के बराबर समझते हैं नहीं २ किन्तु इस से अधिक मानते हैं वह मनुष्य गन्दी वस्तुओं को किस प्रकार अशुद्ध कह सके हैं, और किस प्रकार से रुक सके हैं संसार में यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो बहुत थोड़े मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो अविद्या के फन्दे से पृथक हैं अविद्या के बल और पराक्रम ने सम्पूर्ण संसार को चक्र में डाल रक्खा है। यद्यपि हजारों उपदेशकों के उपदेश होने पर भी जग में पापों का बल अपनी संपूर्ण शक्तिसे कर्म कर रहा है, संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि इसका निरोध कर सके। गवर्नमेंट (राजसभा) अधर्मियों को दण्ड देकर अर्थात् हिंसकों को वध का,चोरोंको कारागार इत्यादिकका दंड देकर हजारों प्रकार से यत्न करती हुई यह इच्छा प्रकट करती है कि मेरे राज्य में मनुष्य धार्मिक और सच्चे रहें और पापों का होना नितान्त छूट जावे परन्तु जहाँ तक पता मिलता है यही पाया जाता है कि पापोंका होना इसप्रकार बढ़रहा है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में नदी की वृद्धि होती है...जहाँ पहिले एक स्थान पर व्यवहार होते समय छल कपट और मुकद्दमे बाजी का भय नहीं था वहाँ पर आज हजारों प्रकार के प्रबंध होनेपर नहीं २ किन्तु रजिस्टरी और तमस्सुक के होनेसे यह झगड़ा समाप्त नहीं हुआ, भाई का भाई शत्रु होगया रात्रि दिन राजसभा में झूंठे गवाह और टकापंथी वकीलों की चांदी दृष्टि गोचर होती है प्रत्येक मनुष्य के मन में स्वार्थ ने अपना घर बनालिया है और अहङ्कार भी इतना बढ़रहा है कि अपने आपको न मालूम क्या समझरक्खा है क्यों कि अविद्या के कारण यह नहीं जानता कि उसकी सत्ता क्या है जिस शरीरके लिये वह इतना झगड़ा कर रहा है एक मिनटमें विनाश को प्राप्त होने वाला है आजकल की शिक्षा अविद्या को दूर करने के अतिरिक्त और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त करा देती है बालक पाठशाला (स्कूल) में पाछे जाताहै उसको तनको रक्षाका स्मरण प्रथम होताहै छोटी सी अवस्था में बिना छाता और ऐनक के कार्य नहीं चल सकता कोट बूंट और चुरट तो ऐसे आवश्यकीय हैं कि उनको एकदिन न मिलेतो सभ्यता की पुच्छ

दूर होजाती है इस समय भारत वर्ष में अविद्या के द्वितीयावयव ने तो इतना बल प्राप्त करलिया है कि मनुष्य मूलसे हजारों योजन दूर जापड़े हैं। क्या भारत वासियों ने शुद्धाशुद्ध का विचार नहीं किया क्या इस नियम का ज्ञानही उनको नहीं किन्तु भारत वासियोंकी प्रत्येक बात में शुद्धाशुद्ध का विचार लगा हुवा है शोक इस बात का है कि इस उत्तम नियम का अर्थ उल्टा समझ लिया है भोजन करते समय शुद्धाशुद्ध का बहुत कुछ विचार है परन्तु वह सब बेढङ्गा है जो कुछ कि अविद्या के दूर करनेके अतिरिक्त उसको बढानेका कारण होगया है भारत में कान्यकुब्ज ब्राह्मण शुद्धिका बहुत अहङ्कार करते हैं उनकी भोजनादि में तो यह दशा है कि पर ब्राह्मण के हाथ की रोटी तक नहीं खाते हैं यही नहीं किन्तु आपस में भी भाई २ के हाथ की नहीं भक्षण करते परन्तु क्या उन्होंने भ्रष्ट पदार्थों का त्याग किया नहीं २ किन्तु उन में तो मांस के भक्षण करने वाले प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं उनमें जो शुक्ल होते हैं वह प्रायः मांसाहारी के अतिरिक्त मद्य पान भी करते हैं काश्मीरी ब्राह्मण जो एक दूसरे के हाथ की बनी हुई रोटी व पकवान भी नहीं खाते वह भी तो मांस को चटकर जाते हैं, इन दोनों प्रकार के पण्डितों में हजारों मनुष्य इन पदार्थों का भक्षण करना धर्म समझते हैं और अपने इष्ट देवताओं को बकरे का बलिदान देते हैं प्रायः मन्दिरों में भैंसों के कण्ठ पर शस्त्र रक्खा जाता है काली कलकत्ते वाली का मन्दिर जिस मनुष्य ने देखा होगा वह अच्छी तरहसे जानता है कि कहां तक इन बिचारे पशुओंके प्राण की हानि इस अविद्या के कारण होती है. पटियाले में विश्वपति नाम महादेव के मन्दिर में हजारों भैंसे प्रत्येक वर्ष मारे जाते हैं बिचारी बकरी और भेड़ों की क्या संख्या है विन्ध्याचल देवी के मन्दिर में भी ऐसा ही हिंसा का बाजार गर्म दृष्टि गोचर होता है वहां लोग इस ही अविद्या के कारण से धर्म के स्थान में अधर्म कर रहे हैं नहीं विचारते कि जिस दुर्गाको तुम माता कहते हो वह जगत की माता होने से इन बकरे भैंसों की भी माता होगी क्या यह देवी है अथवा डायन है क्योंकि डायन सर्पनी के अतिरिक्त और कोई माता अपने बच्चोंका भक्षण करना नहीं चाहती है सा मान्य दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि:—डायन भी तीन गृह त्याग देती है। न मालूम कि क्यों मनुष्य देव्यादि पर कलङ्क लगाते हैं अजी महाराज! केवल अपनी अविद्या को सिद्ध करने के लिये? अभी आप ज्वाला मुखी के मन्दिर में चले जावें वहां भी जीवों की हिंसा ही होती पावेंगे यही दशा कांगड़े में दृष्टि गोचर होती है भला

ऐसी उत्तम जगह में जहां पूर्व बड़े २ विद्वान् रहते थे और इस समय भी जो जाते हैं वह धर्म का संकल्प करके पुनः क्यों ऐसे खराब कार्य होते हैं केवल अविद्या के कारण से। कोई विद्वान् मनुष्य ऐसी बातों को मान नहीं सकता है?

यद्यपि इन दुराचारों में स्वार्थ का भी पूर्ण भाग है परन्तु स्वार्थ तो पुजारी और तीर्थ के ब्राह्मणों का ही कहला सकता है बिचारे यात्री जो दूर दूर से बहुत सा रुपया व्यय करके बहुत सी आपत्ति उठाकर घर के कार्य और धन्धों को छोड़ कर वहां तक जाते हैं वह तो अपने ज्ञान में धर्म करने जाते हैं यदि उनको ज्ञान होता कि जीवों की हिंसा जिसको हम अविद्या से धर्म समझ बैठे हैं महापाप है तो वे कभी न करते उन्होंने न धर्म शास्त्र की शिक्षा पाई और नहीं सुविद्वानों का सत्सङ्ग किया है जो वाममार्गी अथवा अद्वैतब्रह्मास्मि होते हैं इन दोनों प्रकार के साधुओं के पास तो धर्म की शिक्षा मिल ही नहीं सकती क्योंकि वाम मार्गी तो अधर्म को भी धर्म मानता है और नवीन वेदान्ती के विचार में जीव ही ब्रह्म है जिसके लिये किसी धर्म की आवश्यकता ही नहीं है इन के अतिरिक्त बैरागी आदिक तो बिलकुल अपठित होते हैं यही कारण है कि सम्पूर्ण वह जातियां कि जिनके हृदय में दया भी होती है वैदिक धर्म से पृथक होकर जैन धर्म में संमिलित हुये। यदि इस प्रकार के हिंसक धर्म न चल जाते जो कि वेदों के विरुद्ध शिक्षा दे रहे हैं तो कदापि आर्यावर्त्त में बौद्ध जैनादिक नास्तिक मत नहीं चलते और नहीं उनके आचार्यों को उनके चलाने की आवश्यकता होती अस्वच्छ पदार्थ को स्वच्छ जनाने वाले वाममार्गियों ने आर्यावर्त्त को बहुत कुछ हानि पहुंचाई क्यों कि मनुष्यों को धर्म के पंथ से हटाकर अधर्म के मार्ग में लगा दिया और आत्मिकोन्नति के बजाय शरीरकोन्नति की पुकार मचा दी और कहने लगे:-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योर गोचरः
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः

अर्थ-जब तक जीवो क्यों कि प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु के पंजे में आना है और भविष्यत के लिए धर्माधर्म कोई वस्तु नहीं है क्यों कि जो शरीर भस्म होगया वह आगे को दूसरी बार कर्मों का फल भोगने के वास्ते किस प्रकार आसकता है इस प्रकार के अशुद्ध शरीर को शुद्ध मानने वाले ने ठीक वार्त्ता को न जानकर संसार में ऐसी अविद्या फैलादी है और मनुष्यों में धर्म के नाश हो जाने से लिप्सा (हिरस) इतनी बढ़गई है कि जिसके कारण से मनुष्य अपनी

इच्छा पूर्ण करने के वास्ते अधर्म पर तत्पर होगये, विजयसिंह ने विश्वासघात करके पृथ्वीराज को मरवाया, राजा सुखदेव ने राना सालगा का संपूर्ण कार्य बिगाड़ा, जयपुर और जोधपुर के राजपूत महाराजाओं ने कि जिनका कुल राजपूतों में प्रतिष्ठा का समझा जाता है यवनमती राजाओं को लड़की देदी, क्षत्रीपने को बट्टा लगा दिया ऐसा क्यों ? मनुष्यों ने सांसारिक प्रतिष्ठा और शरीरों के भोगों को धर्म और कर्म से अधिक समझा था उनके सामने धर्म एक तुच्छ वस्तु थी, निदान कि वाममार्ग ने भारतवर्ष को इतने कलंक लगाये हैं कि जिनके लिखने के लिये इस लघु पुस्तक में स्थान कहां मिल सकता है।

अजी वाममार्ग क्या है ? वाम शब्द का अर्थ उलटा और मार्ग का रस्ता है अर्थात मुक्तिका उलटा रास्ता। सर्वदा मिथ्या मार्ग पर वही चलते हैं कि जिनको रास्ते का ज्ञान न हो और ज्ञान का ठीक न होना यही अविद्या है. अतः आर्यावर्त्त में वाम मार्ग का कारण यह अविद्या का दूसरा अवयव है अर्थात् अशुद्ध वस्तु को शुद्ध जानना। जब तक मनुष्य इस भ्रष्ट शरीर को स्वच्छ समझे रहेंगे तब तक यह अविद्या दूर नहीं होसकती और नहीं उनके हृदय में आत्मा की उन्नति का विचार आसकता है क्यों कि पश्चिम की तरफ चलने वाला पूर्व के पदार्थों को देख नहीं सकता जब तक कि वह पश्चिम की तरफ से पूर्व की तरफ न देखे। इस ही प्रकार शारीरिक और आत्मिक उन्नति के दो विरुद्ध मार्ग हैं, जो मनुष्य शारीरक उन्नति में लगे हुये हैं वह आत्मिक उन्नति से दूर भाग रहे हैं और जो आत्मिक उन्नति की चेष्टा करते हैं वह शरीर की कुछ परवाह नहीं करते और जो मनुष्य दोनों उन्नति चाहते हैं वह दोनों मार्ग से गिर जाते हैं जिस प्रकार एक मनुष्य देहली में है वह कलकत्ते भी जाना चाहता है जो कि पूर्व में है और पंजाब भी। तो नित्य एक मील पूर्व को जाता है और एक पश्चिम को और कुछ काल के पश्चात् अपने को देहली में ही देखता है न तो वह कलकत्ते जासकता है और नहीं पंजाब में, परन्तु हमारे पाठकगण ! कह उठेंगे कि यदि यही दशा है तो आर्यसमाज के छटे नियम में यह क्यों लिखा है कि शारीरिक सामाजिक और आत्मिक उन्नति करना ! क्योंकि तुम शारीरिक उन्नति के विरुद्ध कह रहे हो परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार को तर्क करने वालों ने स्वामी जी के नियम को समझा नहीं ! क्यों कि नियम यह है कि संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश है अब उसकी व्याख्या करते हैं कि संसार का क्या उपकार किया जावे सो उसके उत्तर में कहते हैं कि जो

मनुष्य अनाथ और वृद्ध हो अपनी शारीरिक दशा में निर्बल होने से रक्षा में परतन्त्र हो उनको भोग्य पदार्थादिक की सहायता देकर शारीरिक उन्नति करना और जो मनुष्य अविद्या के कारण से अपनी आत्मा को निर्बल जानते हैं और उनके अन्दर इस प्रकार की शक्ति नहीं है कि वह अच्छे कार्य करसकें तो उनको धर्मोपदेश देकर अविद्या के जाल से निकाल कर उनकी शक्तियोंका दर्शन कराने से दृढ़ बनाना यह आत्मिक उन्नति है और जो मनुष्य मतमतान्तरों के झगड़ों से भाई होने पर भी आपस में झगड़ रहे हैं उनको वैदिक धर्म की पवित्र शिक्षा द्वारा इन वाद विवादों से हटाकर परमात्मा की सच्ची भक्तिमें लगाना यह सामाजिक उन्नति है क्यों कि जब सब मनुष्य परमात्माके सच्चे सेवक और वैदिक धर्म के अनुसार काम करने वाले हो जावें तो जगत् में कोई भी खराबी नहीं रहती और मनुष्य जाति के जो अविद्याके कारण से टुकड़े होकर प्रत्येक मनुष्य अपने आपे को निर्बल समझ बैठा है यहां तक कि बहुत मनुष्य केवल रोटी का उत्पन्न कर लेना ही बहुत कुछ समझ रहे हैं यह नहीं जानते कि हम मनुष्य जाति से पशु बन रहे हैं, क्योंकि भविष्यत का प्रबन्ध करना मनुष्य का धर्म है जो वर्तमान् में अपने पास हो उस पर ही सन्तोष करना पशुओंका धर्म है क्यों कि मनुष्य सर्वदा आगे बढने की इच्छा रखता है, हमारे विचारमें तो जब तक अविद्या का द्वितीय अङ्ग संसारमें स्थित रहेगा तब तक कोई मनुष्य वह उन्नति जिसकी कि पूर्व के ऋषि और विद्वान् भी प्रशंसा करते थे नहीं हो सकती और जो मनुष्य इस अविद्या से पृथक् होजाते हैं वह अपने कामों को बड़े वेग से कर सकते हैं। आओ आर्य गण! हम सब मिलकर परमात्मा से प्रार्थना करें कि हमारे हृदय अविद्या के इस अङ्ग को ढूंढने में हमें सहायता दें, आओ! प्रयत्न करें कि हमारी आत्मा को दुर्बल बनाने वाली अविद्या हमसे दूर चली जावे और हम जिस आनन्द को प्राप्तकरना चाहते हैं उसको प्राप्त कर लेवें।

इति

❀ अविद्या का तीसरा अंग ❀

आप लोग अविद्या के प्रथम और द्वितीय अङ्ग को तो जान गये अब तृतीय अङ्ग वर्णन किया जाता है। अविद्या का तीसरा अङ्ग दुःख में सुख मानना है, कदाचित आप लोग यह जानते होंगे कि दुःख क्या वस्तु है? जहां तक बुद्धिमानों ने विचार किया है उस से सिद्ध होगया है कि दुःख स्वतन्त्रता के न होने का नाम है। जैसे एक मनुष्य को स्वतन्त्रता है जब चाहे चला जावे,

तो वह घर में रहने से दुःख नहीं मानता परन्तु यदि उसे जाने से रोक दिया जावे तो वही घर उसे दुःख का कारण होजायगा। आप देखते हैं कि जिस कारागार में बन्दी दुःख पाता है उसी कारागार में कारागार निरीक्षक सुख से रहता है क्या कारण कि बन्दी को दुःख प्राप्त होता है? यही कि वह चलने फिरने में स्वतन्त्र नहीं, परन्तु निरीक्षक स्वतन्त्र है और उसे कोई दुःख नहीं होता। यदि किसी मनुष्य को भूख लगे और भोजन पास हो तो उसे कोई कष्ट नहीं होता परन्तु जिस के भोजन नहो उसे अत्यन्त कष्ट होता है इस से पता चलता है कि आवश्यकता का होना और उस के पूर्ण करने में समर्थ न होना ही अत्यन्त क्लेश का कारण है। आज जब कि मनुष्य आवश्यकता ओं को बढ़ाने में सुख समझते हैं वह वास्तव में अविद्या के इस तीसरे अङ्ग में फंसे हुए हैं। अर्थात् दुःख में सुख की भावना रखते हैं। प्रायः देखा जाता है कि यदि एक कृषक को वन में नींद आवे तो वह वहीं खेत के ढेलों में सो जाता है और उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। इसके विपरीत यदि वही थोड़े दिन नगर में रखा जावे और आनन्द से गद्दी तकियों पर सोने की टेव लगाई जावे तो उसे थोड़े से भी कष्ट के स्थान पर नींद नहीं आती। संसार में वस्तुओं का प्राप्त करना दूसरों को दुःख दिये विना असम्भव है परन्तु आवश्यकताओं का न बढ़ाना बहुत ही सुगम है क्योंकि इस में किसी को दुःख भी पहुंचाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे प्राप्ति करने की दशा में मानुषी शक्तियों का सामना होता है। अब यदि दोनों मनुष्य बुद्धि में समान हैं तो कोई भी एक दूसरे से प्राप्त नहीं कर सकता। फिर बल से सामना आरम्भ होता है। यदि इसमें भी समान हैं तो फिर हथियारों से, आशय यह है कि इच्छावान् मनुष्य संसार को लाभ पहुंचाने के स्थान पर दूसरों को हानि पहुंचाने का यत्न करता है जिससे कि मुकाबला होने के कारण रात दिन चिन्ता की नदी में डूबे रहना पड़ता है। परन्तु दूसरे विचार का मनुष्य जो अपनी आवश्यकता को घटी हुई रखता है, कभी बढ़ाने का ध्यान ही नहीं करता, उस का किसी से सामना ही नहीं, वह अपने भुजाओं के बल से थोड़ा सा प्राप्त करके उसीसे आनन्द में जीवन यात्रा चलाता है। यदि इसके प्रयोग में सादृश्य देखना हो तो एक ग्रामीण कृषक तथा नागरिक दुकानदारों के जीवन पर विचार पूर्वक दृष्टि डालो तो प्रकट होजायगा कि कृषक नागरिक से प्रत्येक अवस्था से सुखी है। उसका स्वास्थ्य एवं शारीरिक अवयव किसी प्रकार की चिन्ता न

होने के कारण पूर्ण सुदृढ़ है उसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता का स्थान नहीं वह दिन भर काम करता है और तत्पश्चात् घर में आकर परमेश्वर का नाम स्मरण करता है अथवा सानन्द सो जाता है। उसे न चोर का डर है न हानि का भय। वह कभी ऐसी इच्छा नहीं करता कि हे परमेश्वर अक्ल का अंधा और गांठ का पूरा भेजना। क्योंकि उसे किसी दूसरे की कमाई से कोई भाग खेंचने की आवश्यकता ही नहीं। वह अपनी कमाई से जो उसने भुजा बल से प्राप्त की है संतुष्ट है। वह यदि परमेश्वर से प्रार्थना करता है तो यही कि वृष्टि हो जिससे कि सम्पूर्ण देश में अन्न बहुतायत से हो मनुष्यों को सुख पहुंचे। उस की कमाई में से सहस्त्रों पशु पक्षी लेते हैं, मार्ग से जाते हुए बटोई भी एकाध गन्ना उखाड़ लेजाते हैं, परन्तु उसे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उसने अपनी आवश्यकताओं को थोड़ा कर रखा है दूसरी ओर दूकानदारों को ले लीजिये। उनकी अवस्था नितान्त बिगड़ी हुई है। वह रात दिन बेईमानी पर कटिबद्ध रहते हैं। दूध में पानी मिलावें, घी में चरबी मिलावें, सोने और चांदी में खोट मिलावें कहां तक कहें लाखों प्रकार का फरेब और मक्कारी करते हैं। बहियों में नाम लिखते हैं। सहस्त्रों प्रकार के जाल बनाते हैं रात के दश बारह बजे तक निद्रा नहीं आती। जब खटिया पर लेटे तो चिन्ताओं ने आ घेरा। कभी ध्यान आया कि अमुक मनुष्य की रक़म अवश्य मारी जायगी, किसी प्रकार निकालने का प्रयत्न करना उचित है। कभी ध्यान आया कि अमुक मनुष्य का मकान बहुत सुन्दर और उचित स्थान पर है, इसको जैसे होसके लेलेना चाहिये, क्योंकि उससे किराये की आय बहुत होगी। कभी भय है कि कहीं चोर न आजावें, तनिक आहट हुई और लाला जी के हवास गुम हुए नौकरों को पुकारते हैं, सार यह कि रात्रि भर नींद नहीं आती। इतना ही नहीं वरन् निज पाचन की पीड़ा कभी खांसी का वेग, और कभी ज्वर का कोप है। इसी प्रकार इन्द्रियों के सेवकों की अवस्था है। एक ब्रह्मचारी को देखिये कि जिसके मनमें काम की तनिक भी इच्छा नहीं, अरुण बदन शरीर दृढ़ इन्द्रियां यथोचित् करने वाली, होकर निश्चिन्त होकर जीवन व्यतीत होता है दूसरी ओर एक कामी पुरुष को ले लीजिये कि वह दिन भर अपने शृङ्गार में लगा हुआ अपने को सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर रहा है, कहीं उत्तमोत्तम वस्त्र बनाने का प्रयत्न कर रहा है, और कहीं इत्र तेल की आवश्यकता है, कहीं पान की इच्छा है, परन्तु इस पर भी मुख का रंग पीला है शरीर आलस्य से भरा है, उपदंश और प्रमेह की औषध

सेवन कर रहा है प्रमेह के विकार ने इन्द्रियां वातिल [शक्तिरहित] कर दी है और जो वैद्य मिलता है उससे वाजीकरणौषधि पूछ रहा है। सार यह कि रात्रि दिवस फंसे हुये हैं। रोगी से समय ही नहीं मिलता फिर धर्म कर्म का ध्यान कैसे हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य की गांठ पर आपकी दृष्टि लग रही है कि किसी प्रकार इससे थोड़ा बहुत छीन ही लेवें चाहे बुद्धि से, चाहे युक्ति से, चाहे धोखे द्वारा अथवा फरेब द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय भोग वालों को एक निमिश भी सुख नहीं मिलता। परन्तु इस प्रकार के अज्ञान हैं कि नित्य प्रति दुख के भोगते हुए भी उसी दुःख के मार्ग में पुनः चल रहे हैं। यह ऐसी प्रबल अविद्या है, कि इसने योग्य योग्य पुरुषों को बुद्धि-हीन बना दिया है। यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जावे तो विदित होगा कि विषयों में सुख तनिक भी नहीं। बहुत से मनुष्य कहेंगे कि जब हम उत्तम पदार्थ खाते हैं तब हमें सुख अनुभव होता है, परन्तु तुम कहते हो कि विषय भोग में सुख नहीं। ऐसी दशा में हम अपने अनुभव को सत्य मानें कि तुम्हारे कथन को? ध्यान देने से प्रकट होगा कि उन का यह भाव सत्य नहीं क्यों कि जो सुख विषय में होता है उसका कारण मन की वृत्तियों का एक होना है। क्यों कि जब तक मन चारों ओर से हटकर किसी विषय में न लग जावे उस समय तक उस विषय का आनन्द यथार्थ रीति पर अनुभव नहीं होता। अब देखिये सुख तो वृत्तियों के एकत्र होने में था परन्तु मूर्ख जन समझते हैं कि विषय में सुख है। जिस प्रकार किसी श्वान के मुख में सूखी अस्थि हो और उसके कारण उसकी जिह्वा में घाव होकर लोहू निकलना आरम्भ होता है। अब लोहू तो जीभ से निकलता है परन्तु मूर्ख श्वान यह समझ रहा है कि हाड़ में से लोहू निकलता है। यही दशा मूर्ख मनुष्यों की है कि सुख तो, उसके चित्त की वृत्तियों के एकत्र होने से होता है और वह जानते हैं कि विषय से सुख हो रहा है। क्योंकि जिस समय मन में कोई दूसरा विचार उपस्थित हो उस समय कोई विषय भी सुख नहीं देता। उदाहरणार्थ किसी वेश्यागामी का पुत्र मर जावे, यदि आप उस को इस अवस्था में नाच दिखायें तो उसे तनिक भी आनन्द नहीं होगा वरन वह तुरन्त कह देगा कि मेरा चित्त नहीं लगता। अनुभव द्वारा प्रकट हुआ है कि मन की इच्छा होने पर एक बुरी वस्तु भी उत्तम लगती है, और जब मन में इच्छा न हो तो उत्तम

पदार्थों से भी दुःख होता है। अब आप देखिये कि विषय के विद्य मान होने पर चित्त की वृत्तियों के एकत्र न होने के कारण सुख नहीं होता और चित्त के रुक जाने से विषय के न होने पर भी सुख होता है, जैसे कि नित्य प्रति सुषुप्ति अवस्था से प्रकट है कि उस समय किसी विषय के न होने पर भी प्रत्येक मनुष्य को सुख होता है। इससे स्पष्ट पता लग गया कि सुख मनकी वृत्तियों के एकत्र होने की अवस्था में होता है तथा दुःख चित्तकी वृत्तियों के फैलने में होता है। अब जिन वस्तुओं से चित्त स्थिर न रहे उनको सुख समझना सचमुच अविद्या का तीसरा अङ्ग अर्थात् दुःख को सुख मानना है। अब इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि आवश्यकताओं के बढ़ जाने तथा तदनुसार सामान न मिलने से ही अनस्थिरता उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में जो शिक्षा कि आवश्यकता को बढ़ाये,मुर्ख लोग तो उसे सुख का कारण ही समझते हैं परन्तु है वह वास्तव में दुःख का कारण। क्योंकि उससे आवश्यकताएं बढ़कर देश के लोगोंके चित्तमें अनस्थिरता अधिक बढ़ जायगी फिर वह किसी कार्यके योग्य न रहेंगे। आज कल जिन देशों को आप सभ्य कह रहे हैं वास्तव में वह देश अविद्या के गाढ़ खोह में पड़े हुए हैं। भारत के मूर्ख मनुष्य यूरोप की प्रकृति उपासना को सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। आप में से अधिक मनुष्य मेरे विचार से सहमत होंगे क्यों कि यूरोप की सभ्यता को आप आदर की दृष्टि से देख रहे हैं। परन्तु बातें ऐसी नहीं हैं। ध्यान देकर विचारो कि शास्त्रज्ञान से रोग की औषधि है। मनुष्य जो कुछ करता है अपने रोगों की औषधि करता है। जैसे क्षुधा का रोग है उसकी औषध भोजन तथा तृषा रोग की औषध जल है इसी प्रकार मनुष्य जो कुछ प्रयोग करता है अपने किसी न किसी रोग की औषध ही है, परन्तु विचार करने से पता चलेगा कि शास्त्रों की आवश्यकता मनुष्य के किसी रोग के निमित्त तो दिखाई नहीं पड़ती। हां केवल शत्रु से बचने के लिये शस्त्रों की आवश्यकता होती है। और जिस समय रोग उत्पन्न होता है तब ही मनुष्य औषधि को ढूंढता है अतः यह ज्ञात हुआ कि आज कल युरूप की जो अवस्था है सो बहुत ही भयानक है। क्योंकि प्रत्येक देश में जितना द्रव्य मिल सकता है सब जंगी सामान [युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं] के बनाने पर व्यय हो रहा है जिससे स्पष्टतया विदित होता है कि वर्तमान समय में युरुप के सम्पूर्ण देश शत्रुओं के भय से पीड़ित हैं। और उनको प्रत्येक समय अपनी चिकित्सा करने अर्थात रात दिन तोप बन्दूक डायनामेट के गोलों के बनाने पर भी अपने स्वास्थ्य पर अर्थात अपनी अवस्था पर भरोसा नहीं। क्योंकि यदि वर्तमान अवस्था

संतोष प्रद होती तो लोग औषध बन्द कर देते। परन्तु ऐसा नहीं वहाँ तो भयकारी अस्त्र शस्त्रों के आविष्कार में अटूट प्रयत्न हो रहा है। वहां ऐसे समूह उत्पन्न हो गये हैं जो दिन रात दूसरों के प्राण लेने की चिन्ता में रहते हैं। किसी देश में नेशन लिस्ट (जातीयता स्थापक) कहीं अनारकिस्ट (राजविद्रोही है) और कभी रूस के जार को मार डालने की चेष्टा प्रकट होती है और आस्ट्रिया की महारानी मार डाली जाती है। क्या यह समूह ऐसी सभ्यता के फल नहीं हैं जिसका अनुकरण कि हमारे आर्य भाई करना चाहते हैं। परमात्मा ने सब पदार्थ संसार में आवश्यकतानुसार उत्पन्न किये हैं जिनसे कि अधिक कर देना मनुष्य की शक्ति के परे हैं। यदि मनुष्य धार्मिक होते तो जितने पदार्थ हैं उन्हीं पर संतोष करते। परन्तु सभ्यता ने तो उन तो आवश्यकताओं को इतना बढ़ा दिया है कि उनकी इच्छानुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते और प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता बढ़ी हुई है। अतः अब सब यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हम सब से छीन कर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करें। जब प्रत्येक मनुष्य की यह दशा है कि दूसरों का द्रव्य छीनने के लिये प्रस्तुत है। अब जो बुद्धि और धोके से छीन सकता है वह उससे काम चलाता है जो बल और शक्ति द्वारा हड़प कर सकता है वह इस प्रकार अपनी अर्थ सिद्धि करता है। क्या कोई मनुष्य कहा सकता है कि वर्तमान अवस्था किसी प्रकार मनुष्यों को चैन से बैठने देगी ? कभी नहीं ! वह दिन दूर नहीं जब कि मनुष्यों के पापों का घड़ा भर जावे और स्वार्थी मनुष्य अपनी अज्ञानता का फल भोगें। जिस यूरोप में शांति की ऐसी भयानक दशा हो कि किसी महाराज को भी विश्वास नहीं कि न जाने किस समय युद्ध आरम्भ होजावे और सम्पूर्ण उन्नात नाश को प्राप्त होजावे, भारतीय लोगों का उसी यूरोप का अनुसरण करना बता रहा है कि यहां भी वही दशा होने वाली है। यह विचार कि भारत वर्ष भी यूरोप की भाँति सभ्य होजाय दूर से उत्तम लगता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ सोचते ही भय लगता है। क्योंकि इस सभ्यता का अर्थ यह है कि शान्ति असम्भव होजाय और प्रति घड़ी डर लगा रहे। भारत की प्राचीन रीतियों पर जिन मनुष्यों ने ध्यानपूर्वक विचार किया है वह जानते हैं कि भारत की यह दशा जिसे नवीन सभ्यता के बाबू असभ्य दशा बताते है यूरोप क सभ्यता की अवस्था से लाखों दर्ज उत्तम है। क्योंकि गुरुकुल की शिक्षा के समय विद्यार्थी की आवश्यकतायें इतनी सीमा बद्ध कर दी जाती थीं और वह

तदनुसार कार्य करने से इस योग्य होजाता था कि संसार में कोई दुख उसके चित्त पर अधिकार नहीं जमा सकता था। यदि महाराजा रामचन्द्र आज-कल के नवाब और राजाओं की भाँति यही शिक्षा पाते तो उनमें कभी यह शक्ति न होती कि पिता की आज्ञा पालन कर राजपाट छोड़कर वन को चल देते और लंका तक सेतु बांधकर रावण पर जय प्राप्त कर सकते। यह उसी शिक्षाप्रणाली का फल था कि महाराजा रामचन्द्र का आत्मा इतना निडर था कि कोई भय-कारी वस्तु भी उनको इरादे से गिरा न सकती थी। उसी शिक्षा का फल था कि युधिष्ठिरादि पाँचों भाई बारह वर्ष तक वन में रहे, परन्तु उन्हें कोई कष्ट न हुआ। यदि आज कल के किसी राजा, नवाब तो क्या रईस के पुत्र का भी इस अवस्था में रहना पड़े तो उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट होजावे। अविद्या का तीसरा अंग बड़े वेग से भारत में आज कल काम कर रहा है। मनुष्य नौकरी अर्थात् दासत्व को सुख समझते हैं। विषयों की अधिकता को सभ्यता समझते हैं। मनुष्य विषयों से मुक्त होकर सुख प्राप्त करें इसके स्थान पर शिक्षा दी जाती है कि मनुष्य विषय भोग के साधन प्राप्त करें। संसार को भयानक आकर्षण तो प्रकट होगया है। यह प्रत्येक निर्बलात्मा के चित्त को अपनी ओर खींच कर उसे मनुष्य के कर्तव्यों से गिराकर पशु बना रहा है। परन्तु जिसके ऊपर इस प्रकार की बुद्धि विरुद्ध शिक्षा का प्रचार और देशवासियों का यूरोप के अनु-करण के लिये कटिबद्ध होजाना स्पष्ट बता रहा है कि भारतवर्ष में अविद्या के तीसरे अंग ने प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क पर अपना पूर्ण प्रभाव डाल दिया है। अब इसका अविद्या से निकल कर सुख की ओर जाना अति कठिन है। यावत् आत्मिक बलधारी मनुष्य उत्पन्न न हो तावत् भारतवर्ष का उद्धार इस अविद्या से होना असम्भव है और आत्मिक बल जिस शिक्षा से उत्पन्न होता है वह शिक्षा हमारे देश में आज कल तनिक भी नहीं है। क्योंकि मनुष्य कर्म के पूर्व फल की इच्छा करते हैं और यह असम्भव बात है कि वृक्ष पीछे बोये जांय और फल पहिले ही लग जावें। आज कल मनुष्यों के भाव ऐसे निर्बल होगये हैं कि वह रोटी कमाने ही को परम भाग्य का फल समझते हैं। जिसके पास साधारण विषयों के साधन हों उसके प्रमाद की तो सीमा ही नहीं, वह समझता है कि उस से बढ़कर संसार में कोई जन्मा ही नहीं। भारत के दुर्भाग्य से मनुष्यों की बुद्धि ऐसी बिगड़ गई कि धार्मिक संस्थाओं के सभ्य भी धन ही को सुख और काम चलाने का कारण समझ रहे हैं। जब यह

दशा है तो आत्मिक बल कहां से हो सकता है । और जब आत्मिक बल नहीं तो इस अविद्या को दूर करना अत्यन्त कठिन है । जो मनुष्य इन्द्रिय, मन और अहंकार को जीत कर अपने अधिकार में ला सकते हैं, वही इस अविद्या को नाश कर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा सच्चे सुखका मिलना बहुत ही दुर्लभ वरन् असम्भव है । सुतराम् प्रत्येक आर्य पुरुष का धर्म है कि वह संसार के विषयों की वासना छोड़कर ब्रह्मानन्द की इच्छा में लगे अन्यथा मृत्यु आजायगी और संसार के सम्पूर्ण सम्बन्ध छोड़ कर अधर्म का फल भोगनेके निमित्त पशु योनिमें जाना पड़ेगा, क्योंकि अविद्याका फल उन्हीं योनियों में भोगना पड़ता है ।

* इति *

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ० १ ॥

प्यारे पाठकगण ! यह वह मंत्र है कि जिसके कारण से बहुत से अल्पज्ञ युरोपियों ने आर्यों को प्रकृति का उपासक सिद्ध किया है और बतलाया है कि आर्यों के पितर अग्नि वायु इत्यादि भूतोंको ईश्वर माना करते थे और उन्हीं से प्रार्थना किया करते थे अर्थात् वरदान मांगा करते थे क्योंकि आजकल भारत वर्षमें वेदोंके जानने वाले और उनका ठीक अर्थ करके उनके गौरवको प्रगट करने वाले महात्मा कम रह गयेहैं और द्वितीय वेदोंकी पुरानी व्याख्या अर्थात् शाखायें जो कि ११३१ के लगभग थीं लोप होगई इस समय लगभग आठ नौ का पता मिलता है शेषका नाम तक नहीं होता दूसरी ओर जटा,माला, पद घन-क्रम इत्यादि की रीतिसे भी अर्थ करने की रीति नष्ट होगई और वेदांगों का पढ़ना पढ़ाना भी नष्ट होगया केवल थोड़ेसे मनुष्य व्याकरण पढ़ते हुए दृष्टिगोचर आते हैं इसके अतिरिक्त यूनिवरसिटी की बुरी शिक्षाने वेदोंके गौरवको बहुत बड़ा धक्का पहुंचाया, बी० ए० तक शिक्षामें वेदांगों का नाम नहीं केवल काव्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती है आगे चलकर वेद का सायण भाष्य पढ़ाया जाता है जो उस समयका बना हुआ है जिसमें वेद विद्याका प्रचार बहुत कम होगया था, पुनः उस भाष्य को ठीक पढ़ाने वाले नहीं जो पढ़ने वाले हैं

वह प्रायः विरुद्ध मतके और वेद वेदांगों से अनभिज्ञ हैं—ये विद्यार्थियों को इस ढंग से शिक्षा देते हैं जिस से उन के अन्तःकरण वेदों की प्रतिष्ठा के स्थान में अप्रतिष्ठा स्थिर होजाती है और वह वेदों को इंजील इत्यादि की प्रकार की व्यर्थ कहानियों का समूह समझने लगजाते हैं पढे हुए लोग तो यों वेदों से भिन्न होगये और विना पढे तो न पढ़े न उनका महत्त्व मालूम हुआ अर्थात् वर्त्तमान समय में वेदोंकी अप्रतिष्ठा होने का कारण दो बातें दृष्टि गोचर आ रही हैं अतः अब हम कुछ मंत्रों की ठीक२ व्याख्या करके मनुष्यों को बतलाना चाहते हैं कि वेदोंमें व्यर्थ कहानियां नहीं हैं किन्तु कुल विद्यायें विद्यमान हैं और उनमें प्रकृतिकी उपासना का वर्णन नहीं है किन्तु प्रकृतिके तत्व स्वरूप को बतलाया है और जिन मेक्समूलर इत्यादि ने इन बातों को इस तरह बतलाया है कि जिससे वेदों की अप्रतिष्ठा होती है यह उनके या तो अज्ञान का दोष है या ईसाई धर्मका अनुयायी होनेसे पक्षपात का कारण है अन्यथा कोई समझदार आदमी जिसको वेदांगों की उत्तमता ज्ञात हो और साथ ही पक्षपात भी न रखता हो कभी वेदों के बारे में ऐसी मति नहीं दे सकता जैसी कि वर्तमान काल में कोई २ अल्पज्ञ यूरोप के वासी दे रहे हैं यद्यपि यूरुपवालों ने जिन्होंने वेदों के बनाने इत्यादिकी तिथि स्थापित की हैं उनकी अशुद्धि भी बतलानी आवश्यक है परन्तु वह किसी दूसरी जगह बतलाई जावेगी।

प्यारे पाठकगण! वेदों के दो प्रकार के अर्थ होते हैं एक अध्यात्मिक दूसरे भौतिक अब हम मन्त्र के दोनों प्रकार के अर्थ बतलायेंगे यह स्मरण रहे कि ऋग्वेद पदार्थों के स्वरूप अर्थात् लक्षण को बयान करता है और ऋचा का अर्थ स्तुति अर्थात् परिभाषा के हैं परन्तु किसी २ ने स्तुतिसे यह संकेत किया है कि किसी की झूठी बड़ाई बतलाई जावे परन्तु यहां स्तुति से वही संकेत है, जो रेखागणित अर्थात् ज्योतिषकी पुस्तकोंमें रेखा इत्यादिकी स्तुति से संकेत है उसकी वही स्तुति की जावे जो उसको दूसरी वस्तुओं से पृथक करदे जिसको संस्कृत में 'लक्षण' के नाम से प्रकट किया गया है और अंगरेजी में डेफीनेशन कहा जाता है और फारसी में तारीफ़ कहते हैं।

भ्रातृगण! इस मन्त्र में जो ऋग्वेद का सब से पहला मन्त्र है ईश्वर जीवों को अग्नि का लक्षण बतलाते हैं क्योंकि अग्नि सब से उत्तम और मनुष्यों के लिये आवश्यक वस्तु है और बिना इसके दूसरे भूतों की सिद्धि और इसके गुणों का प्रकाश नहीं हो सकता अतः अग्नि की प्रशंसा सब से पहले बतलानी आवश्यक

समझी गई-और दूसरे आध्यात्मिक अर्थ में अग्नि ईश्वर के अर्थ में भी आया है इस लिये भी इस को पहले बतलाना आवश्यक बात होता है।

आर्य्यगण ! इस मन्त्र में सात पद हैं १ अग्निम् २ ईले ३ पुरोहितं ४ यज्ञस्य ५ देवम् ६ ऋत्विजम् ७ होतारं रत्नधातमम्। पहले दो पद में यह बतलाया गया है कि हम अग्नि की प्रशंसा करते हैं अर्थात् (अग्निं) अग्नि की (ईले) स्तुति करता हूं इस के आगे अग्नि की स्तुति है पहला पद यह है पुरोहितम् अर्थात् अग्नि दूसरों की हितकारक है अब आप देख लीजिये कि यदि अग्नि का बीज सूर्य्य वर्तमान नहीं तो मनुष्य किस प्रकार काम कर सकता है किस प्रकार शिक्षा पासकते हैं अर्थात् मनुष्य की सबसे प्रथम इन्द्रिय चक्षु बिना अग्नि के निकम्मी हो जाती है अर्थात् बिना अग्नि की सहायता के मनुष्य आंख होते हुए भी अंधा है दूसरी ओर जठराग्नि अपना काम बन्द करदे तो मनुष्यके अन्दर पाचनशक्ति बिलकुल गिर जावे और साथ ही खून की चाल बन्द हो जावे जिस से शरीर का बढ़ना नितान्त बन्द हो जावेगा अर्थात् बिना अग्निके मनुष्य जीवित दशामें भी मुर्दा समझा जावेगा और वह किसी काम के योग्य नहीं रहेगा-तीसरे वृक्षों को देख लीजिये उनमें भी सूर्य्य की किरणों से आई हुई अग्नि नीचेसे जो पानी खींचने का काम करती हैं यदि बन्द हो जावे तो वृक्षों का बढ़ना नितान्त रुक जावेगा अर्थात् वृक्षों के लिये बढ़ाने का सामान अग्नि ही है चौथे यदि वायु गन्दी हो जाय तो उस के शुद्ध करने की चिकित्सा हैं कि अग्नि जलाओ तत्काल वायु शुद्ध हो जावेगी आप लोगों ने अकसर सुना होगा कि जिस मकान में दीपक नहीं जलाया जाता और वह बन्द रहता है तो उस में भूत इत्यादि आ जाते हैं लेकिन इस का मतलब यह है कि जिस मकान में बन्द रहने से-सूर्य्य की किरणें न आने से और दीपक न जलने से अग्नि का काम छुट जाता है वहां की वायु नितांत गन्दी और मनुष्य के लिये हानि कारक हो जाती है और उस मकान में जब तक हवन न किया जावे तब तक वह मकान रहने योग्य नहीं, इस लिये आर्य्यों के प्रत्येक काम में हवन का होना मुख्य बतलाया गया है पांचवे अगर पानी खराब हो तो उसकी चिकित्सा अग्नि पर पकाना है उसकी दुर्गन्धि जाती रहती है और अगर कोई मिट्टी की वस्तु भी गन्दी हो जावे तो वह भी अग्नि में जलाने से शुद्ध हो सकती है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की शुद्धि अग्नि के आधीन हैं अतः अग्नि को पुरोहित कहा।

प्यारे पाठकगण ! संसार में पुरोहित और यजमान शब्द का प्रचार है वह भी

इस ही से लिया गया है क्यों कि जो यजमान का हित करे वह पुरोहित कहलाता है क्योंकि प्राचीन समय में ब्राह्मण क्षत्री इत्यादि तीन वर्णों को यथार्थ ज्ञान और धर्मोपदेश के द्वारा उन्नति किया करते थे इस लिये उनको भी पुरोहित कहने लगे, वह सर्वदा यजमान के अज्ञान को ज्ञान से, और बुरे कर्मों के संस्कारों को अपने कर्मों के आदर्श से दूर रक्खा करते थे इसी प्रकार संस्कारों में अग्नि भूतों के रूपके प्रकाश से और उनकी दुर्गन्धि को अपनी गर्मी और यौगिक शक्ति द्वारा नाश करने से वह पुरोहित कहलाती है, (यज्ञस्यदेवम्) यज् धातु का अर्थ देव पूजा संगति करण और दान है, और संगति करण देव पूजा से तात्पर्य्य है अग्नि संयोग करने में देवता से तात्पर्य्य है आप प्रश्न करेंगे कि अग्नि सम्मेलन का देवता कैसे है परन्तु स्मरण रहे कि जितने छोटे पदार्थ मिलाये जांयगे उसी प्रकार शीघ्र अलग हो जांयगे पदार्थों का सब से उत्तम संयोग वह कहला सकता है जो परमाणु करके मिलाया जावे। अब आप समझ लीजिये कि परमाणु करना सिवाय अग्नि के किस की शक्ति में हैं, घी कहां से आता है पशुओं के दूध से दूध कहां से आता है खुराक से प्रायः मनुष्य इस पर शंका करेंगे लेकिन हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिस गाय को अधिक खल खिलाई जावे उस का दूध अधिक हो जावेगा और जिस को बिनोले अधिक खिलाये जावेंगे उस के दूध में घी अधिक होगा अब मालूम हो गया कि दूध वा घी वनस्पति से पैदा हुआ है पशु केवल एक यन्त्र है तो वनस्पति से घी निकालते हैं और वनस्पति में कहां से आता है वर्षा से। वर्षा बादल से होती है जब तक बादल में घी विराजमान न हो तो उसके उत्पन्न होने का चक्र चल नहीं सकता अब स्थूल घृत तो बादल से जा ही नहीं सकता, यह सूक्ष्म परमाणु होकर जायेगा, अग्नि का काम है वह बादल में घी मिलादे अतः कहा जाता है यद्यपि संसार के और पदार्थ भी इसी प्रकार अग्नि के कारण अपनी आवश्यकता को प्राप्त करते हैं लेकिन वह सूर्य की किरणों से काम लेते हैं, जिसको सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकते अतः यह सृष्टि नियमानुसार दृष्टान्त रख दिया (ऋत्विजम्) अर्थात् ऋतुओं के पैदा करने वाली भी अग्नि है आप जो गर्मी सर्दी वर्षा वसन्त इत्यादि ऋतुओं को मालूम करते हैं उसके पैदा करने वाली भी अग्नि है अर्थात् ये सारी ऋतुयें अग्नि के पुंज सूर्य के घूमने से पैदा होती हैं जैसे जब सूर्य हमारे शिर पर होता है तो किरणें सीधी पड़ती हैं उस समय पानी के परमाणु सूर्य की आकर्षण शक्ति से अधिक उड़ते हैं इसलिये मनुष्यको

पानी की इच्छा अधिक मालूम होती है यही गर्मी है और संसार में भी पानी के अधिक खींचे जाने से खुश्की छा जाती है और पृथ्वी के नीचे तक सूर्य की किरणें पानी निकालने के लिये जाती हैं उस समय वह वृक्ष जिन की जड़ गहरी है उनको पानी मिलता रहता है वह हरे रहते हैं और जिनकी जड़ बहुत कम गहरी हैं या तो उन्हें बराबर पानी दिया जावे वरना सूख जाते हैं बस जब पानी की आवश्यकता अधिक हो इसी का नाम ग्रीष्म ऋतु है । अब सूर्य दक्षिण की ओर जाने लगा अर्थात् दक्षिणायन होगया अब किरण तिरछी पड़ने लगीं उनकी आकर्षण शक्ति भी निर्बल हो चलीं अब वह पानी जो सीधी किरणों से ऊपर चला गया था पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से नीचे गिरने लगा पहले तो सूर्य की ओर जा रहा था अब पृथ्वी की ओर आने लगा अब ये वर्षा हो गई यद्यपि सूर्य और पृथ्वी सर्वदा प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचा करते हैं परन्तु सृष्टि नियम ने ऐसा चमत्कार कर दिया है कि सूर्य गर्मी के दिनों में पृथ्वी से अधिक आकर्षण शक्ति रखता था अब अपनी किरणों के टेढ़ी हो जाने से अल्प शक्तिमान हो गया और उसने जो जल पृथ्वी से छीन लिया था वह वापिस देना पड़ा इसके पश्चात सूर्य और भी दक्षिणायन हुआ किरण और अधिक तिरछी हो गई अब पानी बहुत कम उड़ने लगा ओस-बड़े २ वृक्षों की जड़ों तक किरणों की शक्ति निर्बल पहुंचने लगी यह शरदऋतु कहलाती है थोड़े दिनों पश्चात् सूर्य और भी दक्षिणायन हो गया अब तो किरणें बिलकुल कमज़ोर हो गईं पानी जम कर बर्फ बनने लगा बड़े २ वृक्षों के पत्ते सूख कर गिरने लगे क्योंकि नीचे से तो किरणों की निर्बलता के कारण पानी का आना बन्द हो गया और उधर से कुछ न कुछ कम होता रहा निदान पानी की आय न रही और व्यय बराबर होने से वृक्ष सूख गए इसी का नाम हेमन्त ऋतु है, इस के पश्चात् सूर्य फिर उत्तरायण होना आरम्भ हुआ किरण बलवान होने लगीं वृक्षों की जड़ों के नीचे से पानी आने लगा और वृक्षों की नई २ कोंपें और पत्ते निकलने लगे प्रत्येक ओर वृक्षों पर नवीन सिरे से जवानी आने लगी थोड़े दिनों में कुल वृक्ष हरे भरे हो गये यह वसन्त ऋतु कहलाती है इसके पश्चात् सूर्य और भी उत्तरायण होगया ऋतु में गर्मी ज्ञात होने लगी बड़े वृक्षों में और भी वृद्धि आरम्भ हुई छोटे पौदे जड़ से थोड़े गहरा बसे सूखने लगे और ग्रीष्म ऋतु आगई । प्यारे पाठक गण ! पूर्वोक्त वृत्तान्त से अच्छे प्रकार ज्ञात होगया होगा कि ऋतुओं का जन्म या विकार केवल अग्नि के कारण है (' होतारम् ')

अग्नि होता है, होता कहते हैं हवन करने वाले को क्योंकि यह संसार एक बड़ा भारी हवन कुण्ड है और उसमें जितने पदार्थ हैं वे सब हवन की सामग्री हैं और अग्नि इनका हवन करके पदार्थों के परमाणु अलग अलग करके उड़ाता रहता है जिस प्रकार होता जल आदि की शुद्धि के वास्ते पदार्थों के परमाणु करके आकाश में फैलाता है उसी तरह अग्नि संसार की वनस्पति को हवन करती है। प्यारे पाठकगण! आप देखते हैं कि अभी एक फूल सुगन्धित हरा-भरा उपस्थित था, थोड़ी ही देर के पश्चात् उसका रंग बदल गया सुगन्ध कम हो गई सूख जाने से बोझ भी कम हो गया परन्तु लोग नहीं समझते कि फूल किस प्रकार शुष्क हो गया सुगन्ध किस प्रकार नष्ट हो गई। समझदार आदमी समझते हैं कि अग्नि ने फूल में से सुगन्ध के परमाणु जिनसे वो हरे भरे थे अलग कर दिये और वह सुगन्धि आकाश में फैल गई और उससे जलादिकों की शुद्धि प्राप्त होगई जब आप सुगन्धित वस्तु को देखते या सूंघते हैं तो उस जगह अग्नि उसके परमाणु को अलग करती और वायु उसको आपकी नाक तक पहुंचा देती हैं तब आपका सुगन्ध का ज्ञान होता है यहां पर स्पष्ट ज्ञात होगया कि पदार्थों की दशा में परिवर्त्तन पैदा करने वाली अर्थात् उनको परमाणु बनाकर उड़ाने वाली अग्नि है। (रत्न धातमम्) रत्नों को धारण करने वाली अर्थात् रत्नों को उत्पन्न करने का कारण भी अग्नि है। यह जो आप चांदी सोना हीरा लाल नीलम पुखराज इत्यादि बहुत प्रकार के चमकदार धातु और रत्न देखते हैं ये सभी अग्नि के कारण से उत्पन्न होते हैं इनके अन्दर जितनी चमक है वह सब अग्नि के कारण से है क्यों कि अग्नि के बिना कोई तत्व चमकदार नहीं रहता जहां पर आप चमक देखें उसे अग्नि के कारण से समझें, जब बर्फ पर अग्नि की किरणें पड़ती रहती हैं और वह चिर-काल के पश्चात् किरणों से ढलती नहीं तो वह बिल्लौर बन जाती है और इसी तरह पर अकीक, नीलम पुखराज, हीरा, लाल, इत्यादि होजाते हैं। अब आप समझ लीजिये कि इस मंत्रमें पांच विद्याओं का बीज रक्खा गया था लेकिन अल्प बुद्धि लोगों ने तो उसको समझा नहीं और कहने लगे कि वेद चरवाहों के गीत हैं क्या कोई मनुष्य है जो पांच शब्दों में पांच विद्याओं का उपदेश करले, पहली विद्या यह है कि संसार के पदार्थों की शुद्धि किस तरह होसकती है और संसार के पदार्थ बढ़ते किस तरह हैं और संसार के जीवों का हित कारक कौनहै किसके जरिये से आँखें काम कर सकती हैं किसके कारण से

खून हरकत करता है किस कारण से भूख प्यास लगती है और किसके बिगड़ने से शरीर की संपूर्ण शक्ति रद्दी होजाती है, इन सब बातों का उत्तर था कि अग्नि के कारण से ये सारे काम संसार में होते हैं दूसरे विद्या के ठीक मिलान करने का कौनसा कारण है, या यज्ञका कौन देवता है जिसके कारण से सारे देवता प्रसन्न होजाते हैं अर्थात् कौन एक सब देवताओं को मनुष्य के लिये सुखकारी बना सकता है उसका उत्तर दिया गया कि देवता अग्नि है अग्नि सब पदार्थों को तुम्हारे लिये सुखकारक बना सकता है. एक तो प्रकाश द्वारा उन के गुण जतलाकर दूसरे गर्मी द्वारा उनको शुद्ध करके तीसरी विद्या, ऋतु क्यों कर पैदाहोती और बदलती है किस प्रकार वह जगत जो अग्नि के प्रकार गर्म हैं नितान्त ठन्डा होजाता है कि रुईदार कपड़ा ओढे विना आराम नहीं मिलता जहां पर नितान्त सूखा था, वहाँ पर जलही जल हो जाता है या एक समय सपूर्ण पेड़पत्तों से नितान्त खाली होगये वह पुनरपि हरे भरे होकर नये जीवन में आजाते हैं इन ऋतुओंका पैदा होना किस शक्ति से होता है, उत्तर मिला अग्नि से अर्थात् अग्नि के कारण से संपूर्ण विकल्प संसार में होता है। अगर अग्नि न होती तो ऋतुओं का बदलना और पदार्थ का संयोग ठीक कभी भीन हो सकता [चौथी विद्या] संसार में कौन ऐसा वान है जो प्रत्येक पदार्थ की दशा को बदल देती है उत्तर मिला अग्नि है, पांचव धातु और रत्न जो चमकदार पदार्थ हैं किस शक्ति से पदा होते हैं, उत्तर मिला अग्नि की शक्ति से ॥ इति॥

धर्म शिक्षा नम्बर १

प्रश्न—धर्म किसे कहते हैं ? उत्तर—धर्म उन स्वाभाविक गुणों का नाम है कि जिन का होना वस्तु की सत्ता को स्थिर रखता है जिन के न होने पर वस्तु की सत्ता स्थिर नहीं रह सकती। प्रश्न—हमें दृष्टान्त दे कर समझा दो ? उत्तर—जिस प्रकार गरमी और तेज अग्निका धर्म हैं जहां अग्नि होगी वहां गरमी और तेज अवश्य होगा जब गरमी और तेज न होगा तो आग भी न रहेगी। प्रश्न-और दृष्टान्तदो उ०-जिस प्रकार मनुष्य जीवनके वास्ते शरीरके अंग और प्राण हैं यदि कोई अंग कटजावे तो मनुष्यके जीवनका नाश न होगा परन्तु प्राणोंके न रहनेपर कभी मनुष्य जीवन न रहेगा। प्रश्न—क्या जीवका धर्म प्राण धारण करना है ?

उ०-जीव का धर्म्म ज्ञान और प्रयत्न है अर्थात् ज्ञान के अनुसार काम करना है। प्रश्न-जीव को कर्म्म करने की आवश्यकता क्यों हुई। उ०-क्योंकि जीव

अल्पज्ञ है जिससे उसको दुःख उत्पन्न होता है अतः दुःख को दूर करने के लिये जीव को कर्म करने की आवश्यकता है। प्रश्न—दुःख का लक्षण क्या है? उ०—आवश्यक्ता का होना और उसकी पूर्ति के साधन का न होना दुःख है या स्वतन्त्रता का न होना दुःख है। प्रश्न—दुःख के अर्थ तो तकलीफ के हैं। उ०—दुःख और तकलीफ दो पर्याय वाचक शब्द हैं जो लक्षण दुःख का है वही तकलीफ का है। प्रश्न—दुःख के वास्ते कोई प्रमाण देकर समझाओ? उ०—जिस प्रकार एक मनुष्य घर में बैठा है उसे कोई कष्ट नहीं यदि उसे घर से निकलने को बल पूर्वक रोक दिया जावे तो वह बन्धन ही दुःख है जब क्षुधा लगे और भोजन न मिले तो दुःख है यदि भोजन मिल जावे तो कष्ट नहीं इसी प्रकार बहुत से उदाहरण मिल सक्ते हैं। प्रश्न—जीव अल्पज्ञ क्यों है? उ०—एक देशी अर्थात् परिछिन्न होने से। प्रश्न—जीव दुःख से किस प्रकार छूट सकता है। उ०—परमेश्वर के जानने और उसकी आज्ञानुसार कार्य करने से। प्रश्न—परमेश्वर एक है या अनेक। उ०—ईश्वर एक है। प्रश्न—ईश्वर कौन है? उत्तर—जो इस जगत्को रचने वाला पालने वाला और नाश करने वाला है। प्रश्न—ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है? उत्तर—जगत की प्रत्येक वस्तु का नियमानुसार कार्य करना और प्रत्येक वस्तु में नियम होना और इन नियमों के परीक्षार्थ वेद जैसे पूर्ण शास्त्र का होना। प्रश्न—ईश्वर को जगत के रचने की क्या आवश्यका थी? उत्तर—उसकी स्वाभाविक दया और न्याय की प्रेरणा ही जगत बनाने का हेतु है। प्रश्न—न्याय और दया तो किसी दूसरे पर होती है क्या ईश्वर के अतिरिक्त और वस्तु भी जगत से पहले थी जिससे न्याय और दया की प्रेरणा से जगत बनाया। उत्तर—प्रकृति और जीव अनादि पदार्थ ईश्वर के अतिरिक्त हैं अर्थात् ईश्वर प्रकृति और जीव तीन वस्तु अनादि हैं जीवों पर दया और न्याय के लिये ईश्वर जगत को रचता अर्थात् उत्पन्न करता है। प्रश्न—क्या जगत से जीव और प्रकृति पृथक् हैं? उ०—जीव और प्रकृति अनादि हैं और जगत उत्पन्न किया हुआ है। प्रश्न—यदि जीव और प्रकृति परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए नहीं हैं तो ये परमेश्वर के आज्ञाकारी किसने किये? उत्तर—परमेश्वर अपने सर्वोत्तम गुण आनन्द और सर्वज्ञता आदि के कारण से इन पर अनादि राज्य करता है। प्रश्न—जो लोग परमेश्वर को प्रकृति और जीव आदि का रचने वाला कहते हैं उनका विचार असत्य है। उ०—उत्पन्न करने का अर्थ प्रकट करने का है अभाव से भाव में लाना नहीं क्योंकि विना शरीर में आये जीव का और विना कार्य जगत बने प्रकृति का

ज्ञान नहीं हो सका इस वास्ते जो शरीर और जगत का रचने वाला है वही उत्पन्न करने वाला है। प्रश्न-ईश्वर कहां है? उत्तर-कहां का शब्द एक देशी वस्तु के लिये आता है क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है इसलिये ईश्वर कहां है यह प्रश्न ही अयुक्त है जैसे कोई कहे दूध में सफेदी कहां है तो कहेंगे कि प्रत्येक स्थान में यदि कोई कहे दही में मक्खन कहां है उत्तर होगा कि प्रत्येक स्थान में और कोई कहे कि मिश्री में मिठास कहां है जवाब होगा कि प्रत्येक स्थानमें इसी तरह पर जो वस्तु प्रत्येक स्थान में रहती हो इसके लिये उत्तर होगा कि प्रत्येक स्थानमें जगह २। कारण यह होगा कि कहां कहनेका अर्थ किसी एक स्थानको ज्ञात करने का है अतः यह प्रश्न अयुक्त है। प्रश्न—यदि ईश्वर प्रत्येक स्थान में है तो हमें दृष्टि क्यों नहीं आता क्यों कि दूध में सफेदी हम नेत्र से देखते हैं मिश्री में मिठास हम जिह्वा से ज्ञात करते हैं ? उ०-वर्तमान वस्तु के दृष्टि न आने के ६ कारण होते हैं प्रथम वस्तु हमारे नेत्र से बहुत समीप हो जैसे सुरमा नेत्र से बहुत निकट होने के कारण दृष्टि नहीं आता दूसरे विशेष दूर होने से दृष्टि गोचर नहीं होता तीसरे अति सूक्ष्म होने से जैसे परमाणु अर्थात् जर्रे विद्यमान होने पर भी दृष्टि गत नहीं होते चौथे बहुत बड़ा होने से जैसे हिमालय पांचवें इन्द्रिय अर्थात् चक्षु आदि में खराबी आजाने से जैसे अन्धे को दूध में सफेदी दृष्टि गोचर नहीं होती छटे अन्तर या आवरण होने से जैसे हम दीवार के उस तरफ की वस्तुओं को नहीं देख सकते। प्र०-इन छः कारणों में से हमारे ईश्वर के न जानने का क्या कारण है? उ०—क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है इस कारण जीव के अन्दर बाहर होने से बहुत ही समीप है और दूसरे बहुत ही सूक्ष्म है यही दो कारण हैं जिससे हमें ईश्वर दृष्टि गोचर नहीं होता। प्रश्न—जो बहुत ही निकट हो उसके दृष्टि गोचर न होने का क्या कारण है। उत्तर—क्योंकि मनुष्य को प्रत्येक वस्तु के देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है इस कारण जब तक नेत्र और वस्तु के मध्य में प्रकाश की किरणें न हों तब तक नेत्र से उस वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि सुरमे को नेत्र से विशेष समीप होने के कारण नेत्र और सुरमे के मध्य प्रकाश की किरणें नहीं अतः उसका ज्ञान नहीं होता है। प्रश्न-तो क्या हम ईश्वर को किसी प्रकार जान भी सकते हैं? उत्तर हम अवश्य ईश्वर को जान सकते है। प्रश्न-किस प्रकार?

उत्तर-जिस प्रकार से नेत्रके सुरमे को जान सकते हैं उसी प्रकार परमेश्वर को जान सक्ते हैं। प्रश्न—नेत्रके सुरमे को देखने के लिये तो केवल एक शीशे की

आवश्यकता है शीशा हाथ में लिया और नेत्र का सुरमा नजर आया । उत्तर— जिस प्रकार नेत्र के सुरमे को देखने के लिये बाह्य शीशे की आवश्यकता है वैसे ही ईश्वरको ज्ञात करने के लिये भी एक आन्तरीय शीशा है । प्रश्न-वह आन्तरीय शीशा कौनसा है ? उत्तर-मन अर्थात्‌मनुष्यका दिल जिससे परमेश्वर को मालूम कर सके हैं । प्रश्न-मन तो प्रत्येक मनुष्य के पास है तो प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर दृष्टि गोचर क्यों नहीं होता । प्रश्न- मन क्या वस्तु है ? उत्तर-मन वह भीतरी और सूक्ष्म वस्तु है जिसके कारण हमें एक समय में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता । प्रश्न-मन प्रकृति से बना है या अप्राकृत है तथा नित्य है या अनित्य ? उ०-मन प्रकृति से बना है उत्पत्ति वाला है नित्य नहीं । प्रश्न-मन तो प्रत्येक मनुष्य के पास है तो प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर दृष्टि गोचर क्यों नहीं होता ? उ०-यदि शीशा और नेत्र के मध्य में प्रकाश न हो तो शीशे की उपस्थिति में नेत्र का सुरमा ज्ञात नहीं होता । प्रश्न-मन और ईश्वरके मध्य कौन सा अंधेरा है जिस के कारण ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं होता ? उत्तर-अविद्या का अंधेरा जब तक विद्या के प्रकाशसे दूर न हो तबतक ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं हो सकता ॥ प्र० अविद्या के दूर करने का उपाय क्या है ? उ०-सत्य विद्या । प्र०-क्या कोई असत्य विद्या भी है ? उ० विद्या शब्द ज्ञान का दूसरा नाम है और ज्ञान दो प्रकार का होताहै एक उत्पत्ति वाले पदार्थोंका जानना दूसरे नित्य पदार्थों का जानना जो उत्पत्ति वाले पदार्थ हैं वह सब विकारी हैं इस वास्ते उन का जानना भी परिणामी है उसी को असत्य विद्या भी कहते हैं क्योंकि सत्य कहते हैं नित्य को यानी जो तीन काल में रहे लेकिन परिणामी की सत्ता स्थिर नहीं रहती इस वास्ते यह अनित्य है । प्र०—ज्ञान कितने प्रकार का होता है ? उ०—ज्ञान तीन प्रकार का है विद्या, अविद्या, सत्य विद्या । प्र०—अविद्या किसे कहते हैं । उ०—पदार्थ के यथार्थ तत्व को न जानकर उलटा खयाल करना उसी को अविद्या कहते हैं । प्र०—अविद्या गुण है या द्रव्य ? उ०—अविद्या गुण है। प्र०—अविद्या जीव का स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक । उ०—अविद्या नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं । प्र०—यदि अविद्या नैमित्तिक गुण है तो उसकी उत्पत्ति का क्या कारण है । उ०—इन्द्रियों की कमजोरी और संस्कार की खराबी अविद्या की उत्पत्ति का कारण है । प्र०—अविद्या से किस प्रकार का ज्ञान होता है ? उ०—चेतन यानी ज्ञान वाले जीवात्मा को अचेतन प्रकृति का कार्य जानना नित्य यानी अनादि वस्तुओं को उत्पत्ति वाली और उत्पत्ति वाली को अनादि समझना ।

शरीर आदि अपवित्र पदार्थों को पवित्र और दुख देने वाले पदार्थों को सुख का कारण और दुःख को सुख समझना इस प्रकार का ज्ञान अविद्या कहलाती है । प्र०-विद्या किसे कहते हैं । उ०-चेतन जीवात्मा के ज्ञान का नाम जो अविद्या के गुण से पृथक् हो और जिससे जितने परिणाम होते जावें उसी प्रकार से शुद्ध परिणामी ज्ञान हो उसे विद्या कहते हैं । प्र०-सत्य विद्या किसे कहते हैं ? उ०-जो सर्वदा ईश्वर का अपरिणामी ज्ञान है। जो देशकाल और वस्तु के भेद से बदलता नहीं उसे सत्य विद्या या वेद कहते हैं। उ०-सत्य विद्या और विद्या का भेद किसी दृष्टान्त से समझाओ। उ० जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश मनुष्यों के लिये संसारके आदि में ईश्वर ने उत्पन्न किया है वह प्रत्येक मनुष्य के लिये एकसा है लेकिन मानुषिक सृष्टि का प्रकाश चिराग लैम्प गैस बिजली आदि अनेक भांति का है वह प्रत्येक गृह के लिये पृथक् २ भांति का है। प्र०-क्या ईश्वरीय ज्ञान के बिना मनुष्य अपने जीवनोद्देश्य पर नहीं पहुंच सकता ? उ०-कदापि नहीं ? जिस प्रकार प्रकाश के बिना नेत्र अपने काम को पूरा नहीं कर सकते ऐसे ही बुद्धि बिना ईश्वरीय ज्ञान की सहायता अपना काम नहीं कर सकती। प्र० नेत्र को काम के लिये प्रकाश की आवश्यकता है चाहे सूर्य का हो या लैम्प का इसी प्रकार बुद्धि को विद्या की सहायता चाहिये चाहे वह मनुष्य की बनाई हो या ईश्वर की। उ०-जब कि मनुष्य का जीवनोद्देश्य बहुत कठिन और जीवन का समय बहुत न्यून है इस कारण ईश्वरीय ज्ञान के कारण से ही कृतकार्य हो सकता है जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपक को हाथ में लेकर दौड़कर नहीं चल सकता। प्र०-क्या कारण है कि मनुष्य सूर्य के प्रकाश में दौड़ कर चल सकता है और दीपक का प्रकाश लेकर नहीं चल सकता ? उ०-जबकि दीपक का प्रकाश पवन को सहन नहीं कर सकता। ऐसे ही मनुष्य की विद्या तर्क को सहन नहीं कर सकती दीपक के अस्त होने का भय चलने वाले को रोकता है और दूर तक देखने की शक्ति का न होना भी रोकने वाला है इसी प्रकार मनुष्य की विद्या केवल मान ली जाती है जिसे कोई "ईमान" कहते हैं और जिस मार्ग पर विद्या की सहायता से चले उसे "मत" कहते हैं लेकिन मत और ईमान से कोई जीवनोद्देश्य पर नहीं पहुंच सकता बल्कि धर्म और ज्ञान से पहुंच सकता है।

प्र०—मत और धर्म तो पर्याय वाचक शब्द हैं ? उ०--कदापि नहीं मत के अर्थ मार्ग और धर्म का अर्थ स्वाभाविक गुण है। प्र०—धर्म और मत

की पहिचान क्या है ? उ०—धर्म में सिवाय सर्व व्यापक परमेश्वर और अपने आत्मिक गुण के किसी प्राकृतिक वस्तु और मनुष्य से संबन्ध नहीं होता परन्तु मत बिना मनुष्य और प्राकृत संबन्ध के नहीं हो सकता। प्र०—हमें धर्म और मत का दृष्टान्त देकर समझाओ। उत्तर-धर्म के दस लक्षण जो मनु ने लिखे हैं उनको पढ़ो और मुसलमान ईसाइयों की पुस्तकों को पढ़ो तो धर्म और मत का भेद ज्ञात हो जावेगा। प्र०—मनुने धर्म के दस लक्षण कौन से लिखे हैं ? उत्तर-प्रथम धृति दूसरे क्षमा अर्थात् सहन करने की शक्ति तीसरे मन को स्थिर रखना चौथे चोरी का स्मरण तक न होने देना पांचवें शुद्ध यानी पाकीज़ह रहना छटे अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, सातवें बुद्धि को बढ़ाना, आठवें विद्या को ग्रहण करना, नवें सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना दसवें क्रोध न करना।

इति

क्या हम जीवित हैं ?

ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते।
प्रशिषं यस्य देवाः यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजुर्वेदे ।

इस वेद मन्त्र में ईश्वर जीवों को इस बात का उपदेश करते हैं कि मनुष्य किस प्रकार से मृतक कहलाता है ? और किस प्रकार से अमृत होता है ?

अर्थ-" (यः) जो [आत्मदा] आत्मा का देने वाला है" इत्यादि। यहां प्रश्न होता है कि जब जीवात्मा नित्य है तो उसका देने वाला परमात्मा कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि " आत्मा " शब्द के अर्थ व्यापक के हैं, जब तक व्याप्य न हो तो वह व्यापक कहला ही नहीं सकता, इसलिये शरीर के बिना उसको जीव तो कह सकते हैं किन्तु जीवात्मा उस दशा में कहलायगा जब कि वह शरीर में व्यापक होगा। कतिपय मनुष्य शङ्का करेंगे कि शरीर तीन हैं। प्रथम स्थूल शरीर दूसरा सूक्ष्म शरीर, तीसरा कारण। यद्यपि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उत्पत्ति वाले होने से अनित्य हैं उनकी उत्पत्ति से प्रथम तुम उसे जीवात्मा न कहो क्योंकि जिस में आत्मा व्यापक रहे वह शरीर विद्यमान नहीं, परन्तु कारण शरीर में व्यापक होने से वह आत्मा कहला सकता है इस कारण वेद में जो परमात्माको आत्मा के देने वाला बतलाया है वह सत्य

नहीं। इसका उतर यह है कि कारण शरीर सब जीवों का समानहै इस में कोई सान्त आत्मा व्यापक नहीं कहला सकता, जीव को जो आत्मा कहा जाता है वह स्थूल शरीर में व्यापक होने के कारण कहते हैं अथवा सूक्ष्म शरीर में व्यापक होने के कारण जीव आत्मा कहलाता है कारण शरीर के होने से तो परमात्मा ही व्यापक कहला सकता है [बलदा] जो बल का देने वाला है, अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार "गवर्नमेंट" का तीन रुपये का चपरासी बड़े से बड़े धनी को ले आता है यद्यपि उस धनी के दसों भृत्य तथा कुटुम्बी जन भी विद्यमान रहते हैं परन्तु किसी को उस चपरासी के दूर हटाने की शक्ति नहीं होती। तो बताओ कि चपरासी में यह बल कहांसे आया ? कहना होगा कि राजा की नौकरी से। इसी प्रकार जो परमात्मा के नियमों पर चलते और उसके आश्रय पर रहते हैं उनमें भी बल आ जाता है कि समस्त सृष्टि का सामना कर सकता है, सृष्टि उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। श्री स्वामी शङ्कराचार्य तथा श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज का वृत्तान्त किसी से गुप्त नहीं, इन महात्माओं के पास ईश्वरीय नियमों के जान ने के तथा उन के अनुसार आचरण करने के अतिरिक्त और क्या था ! समस्त संसार के मनुष्य उन से विरोध करते रहे तो भी उन्होंने कार्य सिद्धि कि ? "यस्य विश्वउपासते" जिस की समस्त सृष्टि के विद्वान प्रशंसा करते हैं जो सब जगत् का अन्तर्यामी है "यस्यच्छायाऽमृतम्" जिसकी छाया अर्थात् आज्ञानुसार चलना ही "अमृतम्" अर्थात् मुक्ति का कारण है "यस्य मृत्युः" जिसकी आज्ञा के अनुसार न चलना ही 'मृत्युः' अर्थात् दुःख का हेतु है 'कस्मै' आनन्द के लिये "देवाय हविषा विधेमा" उसी परमात्मा की उपासना कर्त्तव्य है॥ जब कभी मैं इस मन्त्र के विषय पर पर विचार करता हूं तो मेरे हृदय में यह प्रश्न होता है कि "क्या मैं जीवित हूं क्या हम जीवित हैं, मेरे बहुत से मित्र प्रश्न को सुनते ही कहेंगे कि यह विचित्र पागल उपहासक है ! कि जो बोलता खाता पीता चलता है फिर भी कहता है कि हमारे जीवित होने में सन्देह है, परन्तु हमारे वे मित्र कुछ गम्भीरता के साथ विचारें तो उन्हें स्वयम् भी अपनेविषय में यही सन्देह उत्पन्न होगा अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या बोलने वाला जीवित नहीं ! क्यों कि बहुत से मतवाले बोलता पुरुष मानते हैं, परन्तु सोचना चाहिये कि यदि बोलने का नाम ही जीवित होता तो हमारा शब्द तो कदाचित् दस या बीस

शब्द पर्यन्त जा सकता है इञ्जन कि जिस का शब्द अनेक कोस पर्यन्त जाता है तो वह अवश्य ही जीवित कहला सकता है इस स्थान पर कहा जाता है कि इञ्जन तो केवल अनर्थक शब्द करता है परन्तु जो शब्द सार्थक निकले वह जीवित होने का चिन्ह है ऐसा मानने पर भी ? आर्गन बाजा, और फोनोग्राफ जीवित मानने पड़ेंगे क्योंकि उनमें से सार्थक शब्द तथा राग निकलते हैं परन्तु इस अवसर पर वादी कह सकता है कि इन में जो कुछ भर दिया जाता है वही शब्द प्रकट होता है तो इस का उत्तर यह है कि यदि वादी सोचकर देखे तो वह आप भी वही शब्द विचार कर वाणी से निकाल सकता है कि जो उसमें भरा है। क्या जिस भाषा को वादी ने नहीं पढ़ा उस के शब्द बोल सकता है अथवा जिस विद्या के सिद्धान्त को नहीं सीखा उस को बतला सकता है ? कदापि नहीं। इस कारण यह बात फोनोग्राफ और मनुष्य में तुल्य है। सिद्ध हुआ कि बोलने के कारण फोनोग्राफ जीवित नहीं कहला सकता, इसी कारण बोलने से हम भी जीवित नहीं कहला सकते। यदि कोई कहे कि हम चलते हैं तो क्यों जीवित नहीं ? तो इस का उत्तर यह है कि आप तो घंटे में दो वा तीन मील जा सकते हैं परन्तु इञ्जिन एक घण्टे में ४०. से ८० मील पर्य्यन्त सहस्त्रों मन भार लेकर चला जाता है तो उसे जीवित कहना चाहिये, परन्तु यहां इञ्जन को कोई जीवित नहीं कहता। आप कहेंगे कि हम खाते हैं पीते हैं जीवित क्यों नहीं ? परन्तु हम तो अधिक से अधिक सेर भर खा सकते हैं इञ्जन सहस्त्रों मन कोयले खा जाता है और सहस्त्रों मन पानी पी जाता है तो इतना खाने पीने पर भी इञ्जन को जीवित नहीं कहते तो सेर भर खाने या पीने वाले को किस प्रकार जीवित कहेंगे। पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि खाने पीने बोलने चलने का नाम जीवन नहीं किन्तु जीवित होना इन से कोई पृथक् वस्तु है, क्योंकि यह गुण तो जड़वस्तु में भी पाये जाते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि इन बातों का नाम जीवित नहीं तो किस बात का नाम जीवित होना है ? इस का उत्तर यह है कि (स्वतन्त्र) जीवात्मा की सत्ता का नाम जीवित होना है इस लिये कि इञ्जन में भी एक ड्राइवर विद्यमान है जिसके कारण इञ्जन चलता खाता पीता बोलता है और जैसे ड्राइवर चलाता है वैसे ही इञ्जन चलता है। यदि ड्राइवर जीवित हो तो इञ्जन उसके आधीन होगा कि जहाँ चाहे नियमानुसार ठहरादे चाहे पीछे लौटादे, परन्तु जब ड्राइवर चलती हुई गाड़ी में मर

जावे तो ड्राइवर ही इञ्जन के आधीन हो जावेगा, उस समय इञ्जन का ठहराना ड्राइवर के अधीन नहीं रहेगा किन्तु जहां इञ्जन ठहरेगा वहीं ड्राइवर को भी ठहराना होगा॥ वस इस दृष्टान्त से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह शरीर इञ्जनके तुल्य है और जीवात्मा ड्राइवरके तुल्यहै। यदि जीवके अधीन शरीरऔर उसके समस्त प्रदेश [मनइन्द्रियादि] हैं तो वह जीवित है। यदि मनइन्द्रिय औरशरीर केअधीन जीव है तो वह मृतक है। दूसरा चिन्ह जीवित मृतकका यह पायाजाता है कि जीवित अपने शरीर की किसी वस्तु को पृथक् नहीं होने देता। यदि किसी जीवित के शरीर से एक भी बिन्दु रक्त की निकल जावे तो वह घबरा जाता है। स्वेच्छा से रक्त का निकलना स्वीकार नहीं करता तथा बाह्य वस्तुओं को पचा जाता है परन्तु मृतक की दशा इस के विरुद्ध हुआ करती है, वह बाहर की वस्तुओं को पहिचान नहीं सकता और उस के शरीर में से कितना ही भाग निकल जावे उसे उपेक्षा रहती है। बहुत से मनुष्य यह कहेंगे कि यह इञ्जन का दृष्टान्त शरीर के तुल्य नहीं क्योंकि यह मन घड़न्त है। इस का उत्तर यह है कि जो सम्बन्ध जीवों का और शरीर का इस स्थान पर बतलाया है वह कठोपनिषद् में भी लिखा है यथा "आत्मानं रथिनंविद्धि शरी रथमेवतु बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्" इत्यादि। अर्थ—यह शरीर एक गाड़ी है और जीवात्मा इस गाड़ी में बैठ कर चलने वाला पथिक है बुद्धि सारथी है इन्द्रिय घोड़े हैं तथा मन प्रग्रह अर्थात् बागें हैं॥ उक्त प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह शरीर रूपी गाड़ी जीव को अभीष्टोद्देश्य पर पहुंचने के लिये दी गईहै। जो जीव अपने को शरीर के अधीन कर लेता है वह वास्तव में मृतक है इस कारण कि हम अहर्निश शरीर के अधीन रहते हैं इस लिये मृतक हैं जीवित नहीं। यदि हम में जीवन होता तो हमारे ६ कोटि भाई यवन तथा ३० लक्ष क्रिश्चियन न हो जाते। हमारी धर्मरूपीकायाओं से इतने भागका निकल जाना और हममें दूसरी जातियों की सी सम्मिलित शक्तियों का नहोनास्पष्ट मृतक होने का प्रमाण है यही कारण कि हम अपने हृदय में किसी कार्य को पूर्ण करने की तथा उसको निर्वाह करने की शक्ति ही नहीं रखते। यद्यपि जड़ प्रकृति चेतन जीवात्मा का किंकर है तथापि मृतक होने के कारण हम ही प्रकृति के दास बन गए हैं न तो हमें अपने परिश्रम पर विश्वास है और नाहीं अपने भाइयों की सहायता पर विश्वास है। ईश्वर का विश्वास तो होने ही क्यों लगा था। वेद मंत्र में स्पष्ट बतला दिया है कि

जो ईश्वर के आश्रय पर रहता है वह अमृत है जो ईश्वर को त्याग देता है वह मृतक है क्योंकि हम लोगों ने में ईश्वर के स्थान में प्रकृति का आश्रय लिया है।

यदि धन न हो तो हमारा कोई काम दृढ़ हो नहीं, ईश्वर के नियमानुसार न होने से उस के आश्रय पर हम किसी काम को दृढ़ ही नहीं समझते इसी लिये हम सरल मार्ग को छोड़ कर वाम अर्थात् उलटे मार्ग पर चलने लगे हैं। कतिपय मनुष्यों को यह शङ्का होगी कि हम वाममार्गी कैसे हैं ? न हम मद्य पीते हैं न मांस खाते हैं परन्तु स्मरण रक्खो कि शास्त्रकारों ने स्त्री को पुरुष का वाम भाग बतला कर समस्त रचना को दो भागों में विभक्त कर दिया। जिस प्रकार वाम और दक्षिण दोनों विरोधी हैं (. जो वाम है वह दक्षिण नहीं तथा जो दक्षिण है वह वाम नहीं)। जिस कारण से कि प्रकृति परमात्मा के विरुद्ध गुण युक्त है (परमात्मा चेतन है उसकी उपासना से ज्ञान बढ़ता जाता है, प्रकृति जड़ है उसकी उपासना से ज्ञान का ह्रास होता है,परमात्मा सर्वशक्तिमान् है उस की उपासनासे जीवका बल बढ़ताहै। प्रकृति निर्बल है,उसकी उपासनासे शक्ति का ह्रास होता है) इस प्रकृति और परमात्मा को बहुत से मनुष्योंने विष्णु तथा लक्ष्मी के नाम से बतलाया हैं। किसीने शिव तथा शक्तिके नाम से कहा अर्थात् शिव के मानने वाले दक्षिण मार्गी, और शक्ति के मानने वाले वाम मार्गी हैं। जिस कारण कि हम लोगोंने भी आर्ष एवं वेदोक्त मार्गको छोड़कर वाम मार्गको स्वीकार कर लिया इसी लिये धर्म रूपी जीवन से शून्य होकर मृतक हो गये। अनेक जन आग्रह पूर्वक अपने को महात्मा मानते हैं यह साक्षात् वेद के विरुद्ध है क्योंकि यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में स्पष्ट लिखा है।

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्मुखम् ॥ इत्या०"

अर्थ—इच्छा रूपी आवरण से सत्यता का मुख आवृत हुआ है यदि तुम चाहते हो कि सत्य धर्म को प्राप्त होकर उन्नति को प्राप्त हो तो उस पर्दे को उठा दो क्योंकि इस आवरण की उपस्थिति में सत्य धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता और सत्य धर्म के ज्ञान के बिना तदनुसार आचरण नहीं हो सकता एवं आचरण के बिना जीवन नहीं हो सकता क्योंकि हम में सद्धर्म का ज्ञान एवं आचरण भी नहीं अतः हम जीवित कैसे कहला सकते हैं जब तक परमात्मा की छाया में आकर अमृत न बन जावें। यद्यपि हमें [परमात्मा की छाया के नीचे लाकर बहुत से महर्षियों ने जीवित बनाने का प्रयत्न किया परन्तु वाममार्ग की उपासना से हमें कभी परमात्मा पर विश्वास ही

नहीं हुआ हम लोग अपने लेखों में बहुत से वाक्य (ईश्वरीय विश्वास सम्बन्धी) लिखते हैं परन्तु आचरण में रुपये पर ही विश्वास रखते हैं।

इति।

❀ रामायण सार ❀

श्री रामचन्द्र जी के भक्तो! दिन रात रामायण के पढ़ने वालो! महाराज रामचन्द्र जी को अपना बड़ा मानने वालो! देश के क्षत्रिय जनो! आप सर्वथा रामायण को जो आर्य कुलभूषण क्षत्रियकुल दिवाकर वेदवित् वेदोक्त कर्मप्रचारक देश रक्षक शूर सिरताज रघुकुलभानु दशरथात्मज महाराजाधिराज महाराज रामचन्द्र जी का जीवन चरित्र है उसे सदा पढ़ते हैं परन्तु शोक है कि आप उस महानुभाव के दैवी जीवन से कुछ भी लाभ नहीं उठाते महाशयो! यह चरित्र ऐसा उत्तम है कि यदि मनुष्य इस के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें तो अवश्य मुक्त पद को प्राप्त होजायें।

महाशयो! रामायण के आदि में महाराज के जन्म का वृत्तान्त लिखा है जिस से बोध होता है कि हमारे देश के राजों को जब सन्तान की आवश्यकता होती थी तब वे लोग विद्वान् ब्राह्मणों को बुला कर यज्ञ कराते थे और इस समय के लोगों की भांति गाजीमियां और मसजिदों या इस प्रकार के ढकोसले न करते थे कभी सण्डों मुसण्डों से सन्तान न चाहते थे व गूंगापीर और मसानी को न मानते थे वे टोने और धागे न कराते थे यह सब बातें आप को महाराज रामचन्द्र जी के जन्म से प्राप्त होती हैं हे रामायण के पढ़ने वालो! शीघ्र ऐसी मूर्खता की बातों को त्याग यज्ञादि कर्म प्रारम्भ करावो पुनः महाराज का वसिष्ट जी से विद्याभ्यास करना है जिससे बोध होता है कि पूर्व समय में सब क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य द्विजाति मात्र पढ़ते थे आज कल की भांति यह न था कि विद्या पढ़ना आजीविका के लिये समझें किन्तु विद्याभ्यास मनुष्यत्वका हेतु माना जाता था मूर्ख को मनुष्य संज्ञा ही न मिलती थी अब रामायण के पढ़ने वालो! शीघ्र विद्याभ्यास करो और उस वेदविद्या को जिसको महाराज रामचन्द्र जी ने पढ़ा था संसार में फैलाओ उस से आगे महाराज रामचन्द्र जी का विश्वामित्र के साथ जाना है जो इस बात का पूरा प्रमाण है कि पूर्व समय में विद्वानों और तपस्वियों का कैसा मान था देखो राजा दशरथ ने प्राणों से अधिक प्यारे दोनों पुत्र विश्वामित्र को देदिये दूसरे उस काल में क्षत्रियों के बालक ऐसे

बली होते थे जो रामचन्द्र जी ने इस छोटीसी अवस्था में ऋषि के साथ वन में जाने से भय नहीं खाया और दोनों भाइयों ने सहस्त्रों राक्षसों को मार डाला यह सब ब्रह्मचर्य विद्या और धर्म का प्रताप देख कर भी हम लोग धर्म नहीं करते । फिर रामचन्द्र जी का जनकपुर में जाकर धनुष तोड़ना लिखा है इस से भी उन के बल की प्रशंसा प्रतीत होती है इस के आगे महाराज रामचन्द्र जी के विवाह का वृत्तान्त है जिस से यह विदित होता है कि उस काल में स्वयम्बर की रीति थी और आज कल की भांति गुड़िया गुड्डे का विवाह अर्थात् बाल विवाह का प्रचार न था कन्या और वर दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और जब पूर्ण विद्वान और बल वीर्य पुष्ट होजाता था तब शादी करते थे जिस से सदा पति और पत्नी में प्रीति रहती थी और उनके गृहस्थाश्रम कैसे सुख से व्यतीत होते थे सन्तान पुष्ट और शुद्ध बुद्धि उत्पन्न होती थी ?

रामयण के मानने वालो ! आप क्यों बाल विवाह करके अपनी सन्तान को नष्ट करते हो । इस के पश्चात् महाराज को राज मिलने का लेख है और कैकई के आदेश से महाराज का वन को जाना और दशरथ महाराज की मृत्यु लिखी है इस से ज्ञात होता है कि नीच के संग से सदा हानि होती है देखो कैकई ने मंथरा के संग से अपना सुहाग नष्ट किया संसारको दुख दिया जगत में अपयश लिया जिस पुत्र के लिये यह अधर्म किया था उस पुत्रने भी उस को बुरा कहा क्या इससे कुसंग से बचने की शिक्षा नहीं मिलती जो लोग अधर्म करते हैं उनके घर के लोग भी उनको बुरा कहते हैं दूसरे महाराज दशरथ ने राज को त्याग दिया अपने पुत्र प्यारे नहीं २ नयनों के तारे को चौदह वर्ष का बनबास दिया अपने प्राणों का भी वियोग स्वीकार किया परन्तु अपने वचन न जाने दिये और संसार भर में यश लिया और संसारको यह शिक्षा दी कि मनुष्य को जो कुछ किसीको देना हो शीघ्र देदे परन्तु किसी से प्रतिज्ञा न करे न जाने कौन कैसा समय आजावे क्योंकि राजा दशरथ कैकेयीको उसी समय वर देते तो उनको यह कष्ट और पुत्रका वियोग सहना न पड़ता इस जगह पर और भी बहुतसी शिक्षा मिलती है जैसे अन्धी अन्धा अपने पुत्र श्रवणकी मृत्युसे,

मरगये उसके फलसे राजा दशरथ भी अपने पुत्र के वियोग से मरे महाराज रामचन्द्रजी के वन गमन में लक्ष्मणजी का संग जाना। देखो उस समय के लोग कैसे पिताके भक्त होते थे कि महाराज रामचन्द्रजी ने पिताके कहने से राज ही नहीं त्यागा किन्तु वनवास स्वीकार किया। क्या आज कल रामायणके पढ़ने वाले अपने पित्रोंकी आज्ञा पालन करते हैं? दूसरे लक्ष्मणजी का संग जाना भाइयों की प्रीति का प्रमाण देता है लक्ष्मणजी ने भाई के लिये देश माता और सुख सब त्याग दिया। सच्चे भाइयों की प्रीति ऐसी ही होनीहै। क्या आज कलके रामायण पढ़ने वाले कभी अपने भाइयों से ऐसी प्रीति करते हैं महाराज के संग सीताजीका वन गमन लिखा है जिससे स्वयम्बर की रीतिका गुण और सीताजी का पतिव्रत झलकता है क्या आज कलके लोग बाल विवाहसे इस पतिव्रत धर्म की आशा रखते हैं! सीताजी ने अपने पतिके लिये माता पिता सास राज गृह सुख सब त्याग कर दिया पतिके संग वन वन घूमना स्वीकार किया और पतिके बिना सब सुखोंको दुख स्वरूप समझा आह! क्याही पतिव्रत धर्म उस समय देश में प्रचलित था! आज कलकी बालविवाहकी पत्नी तो सदा मेलों में गङ्गा किनारे मन्दिरों में घूमना धर्म समझती हैं इस सच्चे पतिव्रत धर्मका तो लेश भी नहीं रहा।

फिर महाराजा भरत का रामचन्द्रजी को लेने जाना लिखा है वह क्या ही देश के सौभाग्य का समय था कि अधिकारी के अधिकारका इतना ध्यान रक्खा जाता था भरतजी ने राज की तृष्णा नहीं की सबसे अधिक भाई की प्रीति दिखाई। फिर वन में सूर्पनखा रावण की बहिन रामचन्द्र जी के पास आकर विवाह करने की प्रार्थना करती है और महाराज का उसको मना करना उसका न मानना और हठ करनी लक्ष्मणजी का उसकी नाक काटना है इस से महाराज रामचन्द्रजी का एक ही स्त्रीसे सन्तुष्ट रहकर पर स्त्री गमन वा विवाह से घृणा करना है क्या रामायण के पढ़ने वाले यहाँ से परस्त्री गमन के दोषों को न ग्रहण करेंगे? प्यारे देशवासियो शीघ्र पर स्त्रीगमन जैसे घोर पाप

को त्यागो यह भी यौवनके विवाहका फल है कि पति और पत्निमें ऐसी प्रीति है कि वह उसके लिये घरबार त्यागदे वह उसके लिये संसार भर की स्त्रियों को काक विष्ठाके समान माने ॥

इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि जो अधर्म पर हठ करता है उसकी नाक काटी जाती है और वीर क्षत्रियगण ऐसे हठी और दुराचारी को सदा दण्ड ही दिया करते थे फिर इसके पश्चात् रावण का योगी स्वरूप में आना है इससे ज्ञात होता है कि जब दुष्ट अपने में बल नहीं देखता तब इसी प्रकार के छल करके सत्पुरुषों को कष्ट देता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि किसीके बाह्य स्वरूप पर न भूलना चाहिये क्योंकि दुष्ट जन भी अच्छे पुरुषोंका आकार बना सकते हैं शोक है कि इस बात को भी देखकर हमारे देशवासी अपनी स्त्रियों को मुष्टण्डे भेषधारियों के पास जाने से नहीं रोकते जब सीता जैसी पतिव्रता स्त्री को यह कपटी पुरुष धोखा देकर निकाल ले गया तो और को क्या समझते हैं ! इसके पश्चात् जटायु का रावणके साथ युद्ध करके प्राण देना लिखा है जिससे सच्चे मित्रों का मित्र भाव ज्ञात होता है जटायु ने प्राण दिये परन्तु अपने जीते जी अपने मित्र दशरथ की पतोहू को दुष्ट रावण से बचाया क्या रामायणी इस पक्षी से भी न्यून अपने मित्रोंके साथ उपकार करेंगे उसके आगे श्रीरामचन्द्रजी का सीताजीसे वियोग और विलाप है जिससे ज्ञात होता है कि संसारके संयोगका वियोग अच्छे २ महात्माओंको घबरा देता है उस के पश्चात् रामचन्द्र जी को सुग्रीव का मिलना है जिस से ज्ञात है कि संसार में दो प्राणियों के मेल से दोनों का कार्य सिद्ध होता है और रामचन्द्र जी का बाली को मारना है इस से यह ज्ञात ही है कि जो किसी से शत्रुता रखता है उसका अवश्य एक दिन नाश हो जाता है फिर महाराज का समुद्रका पुल बांधना है जो उस समय की विशाल विद्या और उन महात्माओं के परिश्रम से प्रयत्न का साक्षी है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि यदि मनुष्य दृढ़ व्रत रखता हो तो अवश्य कृतकार्य होगा इसके पश्चात् विभीषणका रावणसे विरुद्ध होकर रामचन्द्र जी को मिलना है इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब बुरे

छिन जाते हैं तब भाई भी शत्रु बन जाते हैं और जिस घर में दो मत हैं वह एक दिन अवश्य नष्ट होगा कारण यह कि रावण और विभीषण का एक मत न था इसी से विभीषण उससे अप्रसन्न होगया और यही मतवाद भारत का नाशक है और तीसरे यह भी ज्ञात हो जाता है कि जब घर फूटा तब शीघ्र सत्यानाश हो जाता है इससे हे सज्जन पुरुषो ! तुम सदा फूट से अलग रहो हे रामायण के पढ़ने वालो ! तुम कभी भी अपने भाई से विरोध न करो इसके पश्चात् रावणादि का महाराजा रामचन्द्रादि के हाथ से मारा जाना है जिससे ज्ञात होता है कि जो आदमी अपने बल से बढ़कर छल के आश्रय काम करता है वह अवश्य नष्ट होजाता है देखो रावण ने रामचन्द्र के बल को जानकर यह ढीठपन किया कारण यह कि यदि वह रामचन्द्र के बल को न जानता तो पहिले ही बल से लाता छल न करता रावण का छल करना ही उसकी निर्बलता को प्रकट करता है रावण ने जान बूझकर यह कार्य किया अन्त में नष्ट हो गया इससे यह भी ज्ञात होता है कि जो लोग झूठे अभिमानी मनुष्य के भरोसे संसार से बिगाड़ते हैं और उस गप्पी के व्यवहारों को नहीं विचारते वह सदैव हानि उठाते हैं। देखो यदि रावणके साथी इस बातका विचार करते कि जो रावण चोरी करके सीता को लाया है वह रामचन्द्र को कैसे जीत सकताहै तो वे कभी रामचन्द्र जी से विरोध न करते और उनका नाश न होता रावणने जो पाप किया उसका फल पाया जो परस्त्री पर कुदृष्टि करेगा उसकी यही दशा होगी ! इसके अतिरिक्त और भी बहुत से अशुभ फल प्रतीत होते हैं शोक है कि हमारे देश के लोग रामायण पढ़ते हैं नित्य रामलीला देखते हैं परन्तु उसका विचार कुछ भी नहीं करते उनका लीला देखना या नित्य रामायण पढ़ना ऐसा है जैसे कि एक बकरी बाग में जाती है वह कोई ग्रास घास का खाती है कहीं पत्तों पर मुंह मारती है उसको बाग और जङ्गल एक सम है हानिकारक स्थलों से हानि तो उठाती है वन में गढ़े में गिर पड़े तो टांग टूट जाय परन्तु बाग से कुछ भी उपयोगी सिद्धान्त नहीं निकालती ! इसी प्रकार हमारे देशी भाई भी यदि कुमार्ग की पुस्तकोंको पढ़ते हैं तो शीघ्र उसमें पड़ जाते हैं परन्तु सुमार्ग की पुस्तकें सदा पढ़ें फिर भी उनसे कुछ फल नहीं निकालते यदि बहुत किया तो कहीं की दो चार चौपाई कण्ठ करली और जब कभी बातचीत हुई तो अपना पाण्डित्य जताने को सभा में कहदी मैं बहुत से लोगों को रामायण पढ़ते देखता हूँ परन्तु उसके अनुकूल आचार करने वाले बहुत ही न्यून हैं

अब इस रामायण सार का सूक्ष्मता से आशय कहते हैं। रामायण में महावीर जी के चरित्रों से सच्चे सेवकों का व्यवहार जान पड़ता है और रावण के इतिहास से जाना जाता है कि जो कुल में एक भी दुष्ट पुरुष उत्पन्न होजाय तो सारे कुल को नष्ट कर देता है दूसरे रावण पुलस्त्यमुनि का पौत्र था, शिवजी का भक्त था, वेदों का पण्डित था, परन्तु इतने पर भी मांस खाने और मदिरा पान और परस्त्री गमन करनेसे उसकी पदवी राक्षस की होगई अब तो रामायण के पढ़ने वाले लाखों दुराचार करते हैं परन्तु अपने आपको साधु और ब्राह्मण ही मानते हैं देखो महात्मा लोगो! विचारो! जिस परस्त्री गमन ने सतयुग के रावणको राक्षस बना दिया क्या जो अब करेंगे वह राक्षस नहीं? रावण शिवका भक्त था परन्तु मांसाहारने उसको राक्षस बना दिया रामायणके पढ़ने वालो इस राक्षसी व्यवहार को त्याग दो? और परस्त्री गमन तथा मादक द्रव्य का सेवन और मांस भक्षण शीघ्र त्याग करो? और रामायण से जो शिक्षा मिलती है उसे संसार में प्रचार करो! यज्ञादिक कर्म करो! वर्णाश्रम धर्म को ग्रहण करो! सम्प्रदाय को मिटाओ वेद का प्रचार करो! विद्या को पढ़ो! पढ़ाओ! विद्वान् तपस्वियों का मान करो! मूर्ख भेषधारियों का अपमान करो! मूर्ख भेषधारियों से बचो; ब्राह्मण भेषधारियों से बचो! ब्राह्मण वेद का अभ्यास करें क्षत्री वीर बनें। बालविवाह को दूर करो? ब्रह्मचर्य्य का प्रचार करो। वर कन्या का गुण कर्म की योग्यता अनुसार विवाह करो ऐसा न करो कि साठ वर्ष का वर और नौ वर्ष की कन्या दादे और पोती की शादी हजार २ हजार रुपये के लोभ से कर देते हैं? और थोड़े दिनोंमें वह रांड होकर कुल कलङ्क होजाती है। हे रामायण के पढ़ने वालो! अयोग्य से लालच वश विवाह मत करो। धर्म को नष्ट मत करो! माता पिता की आज्ञा पालन करो! माता को देवता मानो! उनकी सेवा करो! भाइयों से प्रीति रक्खो! थोड़ी बातों में उनसे विरोध मत करो! और जहां तक हो सके प्राणान्त पर्यंत भाई को कष्ट मत दो! यदि तुम इस प्रकार से जीवन व्यतीत करोगे तो अत्यन्त सुख होगा अपनी स्त्रियों को पतिव्रत धर्म सिखलाओ तुम स्त्री व्रत धारण करो स्त्रियों को मुष्टण्डे साधुओं के पास मत जाने दो दुराचारी पुजारियों से अर्थात् पूजा के शत्रुओं से बचाओ मन्दिरों में अकेले जाने से रोको उनको समझाओ स्त्री के लिए पति ही देवता है? पति को छोड़कर जो स्त्री दूसरे देवतो का पूजन करती है उसका धर्म नष्ट हो जाता है! आप कभी परस्त्री गमन मत करो? सदा वेश्याओं से बचो! कुसंग न करो

कुढंगों से बचो ! मित्रों को लाभ पहुंचाओ ! आपस में मेल करो ! घर में फूट मत करो दृढ़मत रहो जिस काममें लगो पूरा करके छोड़ो धर्म विषयको विचारो मूर्खता से हठ मत फैलाओ आपस में मतभेद मत करो । वर्णाश्रमी होकर वैदिक धर्म के अनुकूल चलो जहां तक बने सच्चे महात्माओं की सेवा करो हे पाठको ! यह सब कार्य करने से आपके रामचन्द्र जी की भक्ति पूर्ण होगी और तुम सदा सुख पाओगे नहीं तो तुमको कुछ फल न होगा बहुधा मनुष्य परमेश्वर का भजन करते हैं उनको फल नहीं होता कारण यह हैं कि मनुष्य पूर्व दोषों से अर्थात् काम, क्रोध, रोगादि से बचें तो ईश्वर भजन का फल हो सकता है । जैसे किसी रोगी के पेट में विकार हो तो दवा असर नहीं करती, यदि पेट का विकार पूर्व दूर कर दिया जाय तो दवा का असर होता हैं ।

॥ इति ॥

मुक्ति व्यवस्था ।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विपइवमदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किंचित् किंचिद्बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

भर्तृहरि शतक ।

अर्थ—प्यारे मित्रो ! महात्मा भर्तृहरि जी कहते हैं कि जब मुझे थोड़ा ज्ञान हुआ तब मैं उन्मत्त हाथी की भांति अभिमान में यह मानता था कि मैं सर्वज्ञ हूं जब मुझे बुद्धिमानों के संग से कुछ २ ज्ञान हुआ तब मुझे अपनी अल्पज्ञता का ज्ञान हुआ और बुखार की तरह मेरा अभिमान का नशा उतर गया इसी तरह जब मनुष्य कम विद्या रखता है तो वस्तु के स्वरूप को न समझ कर अपनी संस्कार-जन्य अविद्या के कारण सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझ बैठता है यही हाल लाला जगन्नाथदास का है जिन्होंने अपने अज्ञान से मुक्ति के स्वरूप को न जानकर स्वामी दयानन्द जी के विरुद्ध मनमाना बकवाद किया है जिससे ज्ञात होता है कि लाला साहब के जो पौराणिक संस्कार मुक्ति के नित्य होने के पड़ गये थे उन्हीं संस्कारों से आप को जो अविद्या उत्पन्न हुई उसी अविद्या के वश होकर आपने यह अनर्थ लिख मारा महात्मा कणाद जी ने लिखा है ।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ।

(अर्थ) अविद्या, इन्द्रिय दोष तथा संस्कार दोष से पैदा होती है। अब हम मुक्ति विषय पर लिखते हैं जिससे लाला साहब का भ्रम दूर होजाय। प्यारे मित्रो! मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। छूटता वह है जो बंधा होता है तीन तरह के दुःख रूप बंधन से छूटने का नाम मुक्ति है अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण है! या नैमित्तिक ! क्योंकि यदि स्वभाव से जीव बंधा हो तो उसकी मुक्ति का उपाय ही नहीं हो सकता महात्मा कपिल जी लिखते हैं।

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।

(अर्थ) स्वाभाविक बद्ध के लिये मोक्ष साधन का उपदेश हो नहीं सकता क्योंकि स्वभाव सर्वदा रहता है वस्तु का स्वभाव वस्तु के साथ नाश होता है जैसे महात्मा कपिल जी ने लिखा है।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥
सां० अध्याय १ सू० ७

(अर्थ) स्वभाव के अविनाशी होने से अनुष्ठान वाली बुद्धि अप्रमाण होगी क्योंकि वस्तु का स्वभाव वस्तु के साथ नष्ट होता है इस तरह पर दुःख नाश से जीवनाश होगा न कि मुक्ति। एक विद्वान महात्मा लिखते हैं।

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः ।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ॥

(अर्थ) यदि आत्मा स्वभाव से मैला व गँदला और विकार वाला हो तो उसकी मुक्ति सैकड़ों जन्मों में भी नहीं हो सकती।

यद्यज्जन्यं तत्तदनित्यं यत्र यत्र जन्यत्वाभावस्तत्र तत्रानित्यत्वाभावः ॥

(अर्थ) जो जो पदार्थ पैदा होते हैं वही नाश होते हैं और जो पैदा नहीं होते उनका नाश भी नहीं हो सकता अर्थात् जहां उत्पत्ति का अभाव है वहीं पर नाश का भी अभाव है। प्यारे मित्रो! जब इस बात का निर्णय हो गया कि जीवात्मा स्वभाव से फँसा हुआ नहीं तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है क्या जीवात्मा स्वभाव से मुक्त है तो इस अवस्था में यह शङ्का पैदा होगी कि स्वाभाविक मुक्त को हर वक्त मुक्ति सुख का अनुभव होना चाहिये बहुधा लोग यह कहते हैं कि बद्धावस्था में मुक्ति का तिरोभाव हो जाता है यथार्थ में जीव मुक्त है

लेकिन प्रादुर्भाव तिरोभाव दूसरों की दृष्टि में होते हैं वस्तु के स्वरूप में नहीं जिस तरह बादल के आजाने पर धूप का तिरोभाव होता है यह साँसारिक जीवों की दृष्टि में होता है सूर्य में धूप का तिरोभाव नहीं होता किन्तु उस में तो यह स्वाभाविक धर्म सदैव एक बराबर रहता है।

प्यारे मित्रो ! चूंकि संसार में जीवात्मा परमात्मा प्रकृति तीन पदार्थ हैं जो ईश्वर के सत्चित् आनन्द लक्षण से ही मालूम होते हैं क्योंकि लक्षण अन्य व्यावर्तक अर्थात् दूसरों से अलग करने वाले होते हैं इस में सत्चित आनन्द तीन पद हुए। पहिले कहा ईश्वर सत् है तो उसी वक्त जीव और प्रकृति में व्याप्ति हो जाने से लक्षण अतिव्याप्त होगया इस वास्ते फिर कहा कि सत्चित् है तो जीव के चैतन्य होने से लक्षण अतिव्याप्त होगया जिस से मालूम हुआ कि प्रकृति सत् मात्र है जीव सत्चित् मात्र है और परमात्मा सत्चित् आनन्द है इस वास्ते जब जीव स्वभाव से आनन्द का अधिकरण नहीं तो उसे स्वाभाविक मुक्त नहीं कहा जा सकता तो यहां यह प्रश्न उत्पन्न होगा यदि जीव स्वभाव से बद्ध भी नहीं और मुक्त भी नहीं ? तो है क्या। उत्तर होगा दोनों नैमित्तिक गुणों का अनुभव करता है जैसे अग्नि, जल वायु तीन पदार्थ हैं अग्नि का स्पर्श गर्म होता है वायु का स्पर्श न गर्म न सर्द बल्कि स्पर्शमात्र और जल का ठंडा होता है जब वायु और अग्नि का संयोग होता है तो इस दशा में वायु गर्म प्रतीत होता है और जब वायु जल से मिलकर चलता है तो उस दशा में वायु सर्द मालूम होता है अकेला वायु न सर्द है न गर्म इसी तरह जब जीव प्रकृति से संयोग करता है तो अज्ञान से युक्त प्रकृति में फंस कर दुःखों को भोगता है जैसे कि यजुर्वेद अध्याय ४० में बतलाया गया है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ॥

(अर्थ) जो लोग कार्यरूप प्रकृति या कारण प्रकृति का आनन्द प्राप्ति के लिये संयोग या उपासना करते हैं वह अन्धकार युक्त योनियों को प्राप्त होते हैं इस पर उपनिषद् में भी एक प्रमाण दिया गया है।

प्यारे मित्रो ! यह तो आपने मालूम किया होगा कि दुनियां में जो तीन प्रकार के दुख हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, कोई मनुष्य जाग्रत् अवस्था में इन दुःखों से छूट नहीं सकता किसी न किसी तरह का दुःख सदा बना रहेगा चक्रवर्ती राजा भी इस दुख में फंसे हुए दृष्टि आते हैं लेकिन सुषुप्ति अवस्था में एक कंगाल आदमी जिसको कोढ़ की बीमारी हो और

साथ ही बहुत से लोगों का ऋणी भी हो और उस ऋण के कारण बंदी गृह में पड़ा हो और पुत्र और कुटुम्ब के बहुत से लोगों के मरने का शोक भी हो लेकिन इस दशा में भी जब वह घोर निद्रा में चला जावेगा तो उसके चित्त में ऐसा सुख होगा जैसा एक राजा के चित्त में होता है इस पर उपनिषद् कार कहते हैं:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ॥

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष दावृत्तचक्षुर मृतत्वमिच्छन् ॥

(अर्थ) अर्थात् जीवात्मा जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों को बाहर की तरफ़ फैलाता है इस वास्ते बाहर की वस्तुओं को देखता है चूंकि बाहर सिवाय प्रकृति के और कोई वस्तु नहीं यद्यपि परमात्मा भी है लेकिन वह इन्द्रियों का विषय नहीं। दूसरों के जीवात्मा भी इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होते इस वास्ते प्रकृति दृष्टि पड़ती है चूंकि प्रकृति का संयोग दुःखदायी है इस वास्ते जाग्रत् अवस्था में दुःख मालूम होता है और कोई धीर पुरुष इस बात को समझ कर आत्मा की इच्छा करते हैं इन्द्रियों को रोक समाधि या सुषुप्ति द्वारा सुख का अनुभव करते हैं चूंकि सुषुप्ति अवस्था में मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदिक काम नहीं करते वरन जीव अपनी अनुभव शक्ति या ज्ञानसे अपने भीतर व्यापक परमात्मा की उपासना करता है इस वास्ते सुषुप्ति अवस्था में पूरा सुख होता है यदि संसार में सुषुप्ति न होती तो मुक्ति सुख के वास्ते कोई दृष्टान्त उपस्थित न था कौन मानता कि जब किसी इन्द्रिय का विषय न होगा उस अवस्था में भी सुख होगा।

प्यारे मित्रो ! इन सारी बातों से आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि मुक्ति नैमित्तिक गुण है स्वाभाविक नहीं ? और जब नैमित्तिक है तो उस को सिवाय मूर्खों के और कौन नित्य बतला सकता है यदि दुर्जनतोषन्याय से यह भी मान लिया जावे कि मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण है और बन्ध नैमित्तिक तो उस अवस्था में यह तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पहले मुक्त था पीछे बद्ध हुआ तो मुक्त का बंधन में आना स्पष्ट मालूम हुआ इस दशा में क्या प्रमाण है कि इससे पहले जीव कर्म्म बद्ध नहीं हुआ इस जगह तो मुक्त का बद्ध होना सब को स्वीकार करना पड़ेगा अब रही यह बात कि स्वामी दयानन्द जी ने बहुत जगह पर मुक्ति को नित्य माना है और व्यास का सूत्र और छान्दोग्य का वाक्य और सांख्य का सूत्र भी मुक्ति को नित्य मानता है इस का क्या उत्तर होगा।

"न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः"

इसका अर्थ विज्ञानभिक्षु यह कहते हैं कि मुक्तपुरुष का बन्ध के साथ दुबारा सम्बन्ध नहीं क्योंकि श्रुति में अनावृत्ति सुनी गई है और वहां छान्दोग्य का यह—

"न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति । छा० ८ १५

वचन प्रविष्ट करते हैं इससे ज्ञात होताहै कि सांख्यकार के मतमें मुक्ति नित्य नहीं बल्कि यह इस श्रुति के अनुकूल पुनरावृत्ति नहीं मानते जो कुछ आशय इस श्रुतिका होगा वह सांख्यकार के अर्थ का बोधक होगा। दूसरा सूत्र व्यास जी का वेदान्त दर्शन के अन्त का है:—

"अनावृत्तिःशब्दादनावृत्तिः शब्दात्" वे० ४।४।४।२२

जिस का अर्थ यह है कि शब्द अर्थात् श्रुति में मुक्ति से लौटना नहीं माना गया है इस वास्ते मुक्ति से लौटना नहीं होना इस सूत्र के भाष्य में भी वही छान्दोग्य की श्रुति दी गई है और बतलाया गया है कि इस श्रुति के अनुकूल अनावृत्ति है इस वास्ते व्यासजी का भी वही अर्थ है जो छान्दोग्य की श्रुति का और इस तरह पर गीता आदिक में भी जहां कहीं से लौट आना नहीं माना गया है वहां इसी श्रुति का आशय लिया गया है अर्थात् आज कल जितना मुक्ति से न लौटने का विचार है उस सब का मूल यही श्रुति है इस वास्ते छान्दोग्य से अन्वेषण करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र
तीर्थेभ्यः स खल्वेवमवर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिस-
म्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ छान्दो० ॥

विधि पूर्वक गुरु संबंधी कर्मों को करके समावर्तन संस्कार के पश्चात् कुटुम्ब में शुद्धभाव से रह कर अपना स्वाध्याय करता हुआ और धार्मिक भाव में आत्मा को स्थित रखकर सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश करके किसी जीव को दुःख न देता हो अतीर्थों ही में अहिंसा पद न समझ कर बल्कि हर जगह अहिंसा भाव से रहता हुआ वह निश्चय करके इस प्रकार वर्तता हुआ ब्रह्मलोक की आयु पर्य्यन्त ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर वापिस नहीं आता।

प्यारे मित्रो ! यहां स्पष्ट सिद्ध होगया कि छान्दोग्यमें ब्रह्मलोक की आयु पर्य्यन्त लौटने से नकार है इसका आयु के पश्चात् लौटने से इन्कार नहीं। इस

वास्ते अगले कल्प में वापिसी से इन्कार करता हूं अट्ठ: लोग यहां पर यह कहेंगे कि यहां "यावदायुषम्" इस पद का अर्थ ब्रह्मलोक की आयु पर्य्यन्त नहीं बल्कि जीव की आयु पर्य्यन्त है तो मालूम रहे कि आयु अनित्य पदार्थ की होती है नित्य की नहीं ब्रह्मलोक अनित्य और जीव नित्य है इस लिये यहां जीव की आयु से तात्पर्य नहीं। प्यारे मित्रो! अब हम सूत्रों का अर्थ करते हैं और जो प्रश्न न्याय दर्शन या सांख्य दर्शन से पैदा किये गये हैं उन का उत्तर देते हैं।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"

(अर्थ) तीन प्रकार अर्थात आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति अत्यन्तपुरुषार्थ है। यहां अत्यन्तनिवृत्ति से उस काल में अत्यन्ताभाव से अर्थ है सर्वदा का अत्यन्ताभाव नहीं अर्थात् जब तक मुक्ति रहेगी तब तक दुःख के अत्यन्ताभाव से मुराद है क्योंकि जो मुक्ति साधनों से पैदा होती है वह नित्य रह नहीं सकती अगर यह कहा जावे कि मुक्ति साधनों से नहीं होती है बल्कि स्वभाव से सिद्ध है तो इस अवस्था में संसार की हालत में भी मुक्ति सुख का अनुभव होना चाहिये जब संसार में मुक्ति सुख का अनुभव होगा तो कोई भी मुक्ति के वास्ते पुरुषार्थ नहीं करेगा और न किसी को मुक्ति की इच्छा होगी क्योंकि इच्छा अप्राप्त की होती है जब मुक्ति प्राप्त है तो इच्छा का होना असम्भव है और इस हालत में मोक्ष के जो साधन शास्त्रों में लिखे हैं सब निरर्थक हो जावेंगे फिर तो मोक्ष नित्य सिद्ध करते करते मोक्ष से हाथ धोना पड़ेगा न्याय सूत्र का भी यही तात्पर्य है।

"तदत्यन्त विमोक्षोपवर्गः"

दुःख का जो अत्यन्त छूटना है वह अपवर्ग अर्थात् मुक्ति है यहां भी अत्यन्त शब्द का यही अर्थ है जो ऊपर कह चुके हैं।

प्यारे मित्रो! इन युक्तियों से आपको मालूम हुआ होगा कि मुक्त जीव का बन्ध में आना आवश्यक है लेकिन यदि पं० जगन्नाथ होशियार पुरी या बाबा जगन्नाथ दास मुरादाबादी जिन्होंने बिना समझे इस विषय पर किताबें लिख मारी हैं यह शंका करें कि स्वामी जी ने पहले मुक्ति को नित्य क्यों माना इस का कारण यह है कि यथा आप किसी आदमी से प्रश्न करें कि आपने मांस तो कभी नहीं खाया और वह उत्तर दे कदापि नहीं, पर इस दशा में उसका अर्थ यह होगा कि वर्तमान जन्म में इसने कभी नहीं खाया इसी तरह पर जहां २ मुक्ति

से लौटना कहा गया है वहाँ वर्तमान कल्प से तात्पर्य्य है जैसा छान्दोग्यकी श्रुति से सिद्ध है स्वामी जी का यही तात्पर्य था जहां मुख्य मुक्तिका विषय आया और परीक्षा की गई तो मुक्ति को अगले कल्प में न देखकर स्पष्ट बतला दिया कि मुक्ति कल्प भर रहती है। आर्यगण ? आप जीव की तीन अवस्था नियतकर सकते हैं या तो वह स्वाभाविक बंधा हुआ है ? या स्वभाविक मुक्त है ? या बंधन और मुक्ति दोनों नैमित्तिक गुण हैं ? इसके सिवाय और कोई अवस्था हो नहीं सकती। स्वभाविक बंधा हुआ माननेसे तो मुक्तिका होना असम्भव है और स्वभाविक मुक्ति मानने से मुक्ति पूर्वक बंधन में आना स्पष्ट सिद्ध है और नैमित्तिक मुक्ति और बंधन मानने से दोनों का अनित्य होना सिद्ध है अर्थात् बंधन भी नाश होने वाला है और मुक्ति भी नाश होने वाली है जब कि दोनों हालतों में मुक्ति हमेशा के वास्ते हो नहीं सकती और मुक्त जीव का बंधन में आना स्पष्ट सिद्ध है फिर जो आदमी मुक्ति से कल्प के पश्चात् वापिसी न मानें तो सिवाय इसके कि वह हठी या मूर्ख हैं क्या कहा जा सकता है।

प्यारे मित्रों ? जगन्नाथ दास ने जो मुक्ति प्रकाश लिखा है वह केवल इनकी अल्पज्ञता का प्रमाण है क्योंकि न तो ठीक २ मुक्ति के स्वरूप का विचार किया गया और न कोई उचित युक्ति ही दी, न वे शास्त्रके सिद्धन्त को ही ठीक २ समझ सके, बिना समझे किताबों की इबारत और जुमले इकट्ठ करने का नाम इलिमयत (पाण्डित्य) या अक्लमन्दी नहीं बलिक इसको आम आदमी भी कर सकते हैं परन्तु शोक कि इस प्रकार के दुर्बोध आदमी जो पांच वरसे पढ़ने से भी मुक्ति के मज़मून (विषय) को समझने योग्य नहीं मुचित प्रकरण लिखने को उद्यत हो गये बलिक उसको लिख भी डाला। भला इनको इस बुद्धिपर यह हौंसला क्यों हुआ सिर्फ अवाम (सर्वसाधरण) को शास्त्र शून्य देखकर अविद्याजन्य संस्कार से जो मुंह पर आया बक डाला और जो दिल में आया लिख डाला।

प्यारे मित्रो ? इस वास्ते तुमको लाजिम (आवश्यक) है कि सत्य और असत्य की तहकीकात (अन्वेषणा) कोशिश करें और स्वयं अपनी सन्तान को शास्त्र पढ़ाने की प्रणाली जारी करें ताकि वह इस तरह के मूर्खों के मेल से धर्म से पतित न हों॥

❋ मुक्ति और पुनरावृत्ति ❋

संप्रति साम्प्रदायिक धार्मिक संसार में इस विषय पर विचार हो रहा है कि मुक्ति से जीवात्मा पुनः बन्धन में आता है या नहीं संसार के सब धार्मिक संप्रदायी जो मुक्ति का अस्तित्व मानते हैं वे जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते, आर्यसमाज जो कि प्रत्येक विषय को विद्या और बुद्धि की कसौटी से जांच करता है यह मुक्ति से जीवात्मा की पुनरावृत्ति मानता है, इस वास्ते विचारना यह है कि जीव मुक्ति से बंधन में आता है वा नहीं जब मुक्ति के विषय में विचार करते हैं तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्ति जीव का स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक अर्थात् उत्पन्न होने वाला है यदि मुक्ति को जीव का स्वाभाविक गुण माना जावे तो मुक्ति के साधन जो शास्त्रों में कहे हैं सब व्यर्थ हो जायंगे। और प्रत्येक जीव सदा मुक्त देखने में नहीं आता बल्कि उसे मुक्ति की इच्छा है। इच्छा उस वस्तु की होती है जो लाभकारी हो और प्राप्त न हो। यदि मुक्ति जीवआत्मा का स्वाभाविक गुण हो तो उस की इच्छा हो ही नहीं सकती क्योंकि स्वाभाविक गुण प्रत्येक द्रव्य का उस के साथ साथ रहता है और जो वस्तु हर समय पास हो उस की इच्छा कैसी? परन्तु जब मुक्ति शब्द के अर्थ का विचार करते हैं तो यह आपत्ति दूर हो जाती है। क्योंकि मुक्ति का अर्थ छूटना है जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीवात्मा बन्धा हुआ है और बंधन से छूटना ही मुक्ति है। अब यह प्रश्न उठता है कि बन्धन जीव का स्वाभाविक गुण है वा नैमित्तिक। यदि बंधन जीवात्मा का निज गुण है तो उस से छूटना असम्भव है क्योंकि किसी वस्तु का स्वाभाविक निज गुण गुणी से पृथक् नहीं हो सकता कपिल मुनि कहते हैं।

नस्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥

अर्थ— यदि बन्धन जीवात्मा का स्वाभाविक गुण होता तो उससे छूटने का उपदेश वेदों में कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में मुक्ति का उपदेश किया है इस से प्रगट है कि बन्धन जीवात्मा का नैमित्तक गुण है इस पर कपिल मुनि युक्ति भी देते हैं।

स्वभावस्याऽनपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥

स्वाभाविक गुणनाशसे रहित होने से उसके दूर करने के वास्ते जो प्रयत्न होगा वह प्रमाण नहीं होगा क्योंकि असम्भव के लिये प्रयत्न का उपदेश करना ठीक नहीं हो सकता इस से ज्ञात होता है कि बन्धन भी नैमित्तिक गुण है निदान जब मुक्ति नैमित्तिक ठहरी और बन्धन भी नैमित्तिक हुआ तो नैमित्तिक मुक्तिया बन्धन कभी नित्य नहीं हो सकता।

मुक्ति से पूर्व बन्धन होना आवश्यक है तभी मुक्ति कहला सकती है। यदि बंधा हुआ न हो तो छूटेगा किस से। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो बन्धा हुआ है वही छूटता है। क्योंकि बन्धन भी उत्पन्न होता है स्वाभाविक गुण नहीं इससे सिद्ध है कि जो छूटा हुआ हो वही बंधता है निदान बन्धन से पूर्व मुक्ति का होना आवश्यक है और मुक्ति से पूर्व बन्धन का होना आवश्यक है अतः जीवात्मा न स्वभाव से बन्धा हुआ न मुक्त है। बन्धन के सम्बन्ध में मुनि कहते हैं :—

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः॥
नहि तस्य भवेन् मुक्तिः जन्मान्तरशतैरपि॥

अर्थ— यदि जीव स्वभाव से बन्धा हुआ और मैला होता तो उस की मुक्ति सैकड़ों जन्मोंमें भी नहीं हो सकती क्योंकि स्वभाव नाशसे रहित होता है अब विचार का स्थान है कि मुक्ति का स्वरूप क्या है तो बतलाया जाता है कि अत्यन्त दुखकी निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिही मुक्ति का स्वरूप है। निवृत्ति उसकी होती है जोस्वाभाविक गुण नहीं किन्तु नैमित्तकहो स्वाभाविककी निवृत्ति हो नहीं सकती और प्राप्त भी उसे करते हैं जो अप्राप्त हों क्यों कि जो स्वाभाविक गुण है उस के साथ रहने से उसकी प्राप्ति कुछ अर्थ नहीं रखती। निदान दुःख और आनन्द दोनों जीव आत्मा के गुण मालूम नहीं होते परन्तु बहुत से नवीन वेदान्ती लोग कहते हैं आनन्द जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है परन्तु अविद्याका आवरण आजाने से प्रतीत नहीं होता इस आवरण को दूर करनेका नाम परमानन्द की प्राप्ति है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं क्यों कि गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। गुण का गुणी में आवरण नहीं आया करता। किन्तु आवरण दो द्रव्यों के मध्य में आता है सूर्य और उसकी प्रभा के मध्य आवरण नहीं आता किन्तु हमारे चक्षु और सूर्य के मध्य में आवरण आता है क्यों कि आवरण के बीच में रहने के लिये आकाश चाहिये परन्तु गुण और

गुणों के बीचमें आकाश नहीं क्यों कि उनमें संयोग सम्बन्ध नहीं जहां आकाश का अवकाश हो। किन्तु समवाय सम्बन्ध है इस लिये जीवात्मा और आनन्द के मध्य में अविद्या का आवरण बतलाना मूर्खता है निदान जो लोग जीव आत्मा का स्वरूप आनन्द मानते हैं यह उन की सरासर भूल है। महर्षि व्यास वेदान्त दर्शन में कहते हैं:-

आनन्द मयोऽभ्यासात् वे०।सू०।

अर्थः- ब्रह्म से इतर नाम दूसरा जो जीवात्मा है वह आनन्द स्वरूप सिद्ध नहीं होता किन्तु उसको अभ्यास से आनन्द प्राप्त होता है। ब्रह्म के लक्षण से भी सिद्ध होता है कि जीव आनन्द स्वरूप नहीं। ब्रह्म को लक्षण बतलाते हैं सच्चिदानन्द। लक्षण दूसरों से पृथक करनेवाला होता है पहिले कहा ब्रह्म सत् है यदि जीव प्रकृति असत् होते तो ब्रह्म का लक्षण सत् पूरा हो जाता परन्तु ब्रह्म को परमात्मा भी कहते हैं जिस से सिद्ध होता है कि वह व्यापक है प्रत्येक व्यापक के लिये व्याप्य की आवश्यकता है बिना व्याप्यके व्यापक कहला ही नहीं सकता इस लिये परमात्मा के लिये व्याप्य की आवश्यकता है यदि व्याप्य अनित्य होतो व्यापक भी अनित्य कहलायेगा इस वास्ते परमात्मा का व्याप्य प्रकृति भी सत् ही थी इस लिये लक्षण अति व्याप्त होगया अर्थात् प्रकृति में चला गया दूसरे ब्रह्म न्यायकारी था कर्म फलदाता है परन्तु जब तक कर्म करने वाला न होगा न्यायकारी नहीं कहला सकता। ब्रह्म के सब गुण सत् हैं इस वास्ते उसकी प्रजा जिनका वह न्याय करता है वह सत् होगी इस लिये ब्रह्मका सत् लक्षण जीव और प्रकृति में अति व्याप्त होगया तब कहना पड़ा ब्रह्म सत्-चित् है इस लक्षण से प्रकृति जो अचेतन है वह तो अलग होगई परन्तु जीवात्मा में यह लक्षण अति व्याप्त रहा क्योंकि जीव भी सत्चित् हैं तब कहना पड़ा ब्रह्म सच्चिदानन्द है इस लिये प्रकृति सत् जीव सत् चित् ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं निदान जीव को दुःख की प्राप्ति बन्ध, और आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृति मोक्ष है अब बंधन क्या है? दुःख क्या वस्तु है? और वह किस प्रकार प्राप्त होता है दुःख का लक्षण गोतम जी न्याय दर्शन में कहते हैं।

बाधना लक्षणं दुःखम् ॥

अर्थः—परतंत्रता ही दुख है सिवाय परतंत्रता के कोई अन्य वस्तु दुख नहीं है जीव में यह परतन्त्रता (आज्ञादि का नहोना) स्वाभाविक गुण नहीं

परन्तु संगसे आता है जैसे वायुस्वयं न शीतल है न उष्ण किन्तु जल के संसर्ग से वायु में शीतलता और अग्नि के संसर्ग से उष्णता आती है इसीप्रकार जीव आत्मा स्वभाव से न तो दुखी है न आनन्दमय। प्रकृति के संसर्ग से उस में परतंत्रता अर्थात् दुख आता है और परमात्मा के संसर्ग से आनन्द और स्वतंत्रता आती है। निदान जीव आत्मा का प्रकृति से सम्बन्ध ही बन्धन है। क्यों कि इस बन्धन का कारण भी शास्त्र कारों ने बतलाया है जिस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि बन्धन स्वाभाविक गुण नहीं। कपिलजी बतलाते हैं:-

बन्धो विपर्य्ययात् ॥

अर्थः-विपरीत ज्ञान अर्थात् अविद्या से जीवात्मा में बन्धन आता है॥ यह उलटा ज्ञान न तो सर्वज्ञ में हो सकता है नहीं जड़ में। इस हेतुसे अविद्या ब्रह्म को नहीं हो सकती है क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है और नाहीं प्रकृति को हो सकती है क्योंकि वह ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति ही नहीं रखती इस कारण अविद्या जीव आत्माकोही होतीहै क्योंकि वह अल्पज्ञहै अविद्याके अर्थ अन्यवस्तुमें औरवस्तुकोजानना है। रस्सीको सांप न तोसूर्यके प्रकाशमें जानसकते हैं क्योंकि उस समय स्पष्ट रस्सी दिखाई देती है और नाहीं नितान्त अन्धेरेमें क्योंकि उस समय कुछ दिखाई ही नहीं देता किन्तु कुछ प्रकाश और कुछ अन्धेरा हो तब ही रस्सीमें सांपका भ्रम होता है इस कारण अविद्या न तो ब्रह्मको हो सकती है क्योंकि वह सर्वज्ञ और ज्ञान स्वरूप है जो लोग सूर्यमें अन्धकार बतलावें उन से बढकर बुद्धि का शत्रु कौन होगा क्योंकि यदि सूर्य में ही अन्धेरा होजा तो अन्धेरे को दूर करनेवाला कौन आये इस लिये जो लोग ब्रह्ममें अविद्या मिलाते हैं उनसे बढ़कर बुद्धिका कोई शत्रु नहीं। अविद्या केवल अल्पज्ञ जीवात्मा को ही होती है ब्रह्म मुक्त स्वरूप है प्रकृति बन्ध स्वरूप है। जीव आत्मा न मुक्त है न बद्ध। जब प्रकृतिका संग करता है तब बंध जाता है जब ब्रह्म की ओर लगता है तब वह मुक्त होजाता है यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब कि प्रकृति सब जगह वर्त्तमान है इसलिये जीवका संग अवश्य होगा और ब्रह्म सर्व-व्यापक है उससे भी जीव अलग नहीं जासकता इस वास्ते बन्धन और मुक्ति व्यवस्था कैसे हो सकती है क्योंकि दोनों का हर समय संग बना हुआ है इस प्रश्नका यह उत्तर है कि स्थूल पदार्थमें सूक्ष्म पदार्थ रह सकता है परन्तु सूक्ष्ममेंस्थूल पदार्थ नहीं रह सकता जैसे पानीके भीतर अग्नि प्रविष्ट होकर अग्नि को शीतल नहीं—कर सकता। क्योंकि प्रकृति जीव आत्मासे स्थूल है इस हेतु

जीवके भीतर प्रकृति नहीं रह सकती परन्तु ब्रह्म जीव आत्मासे सूक्ष्म है वह जीवके भीतर रह सकता है निदान प्रकृति जीव के बाहर और ब्रह्म भीतर है लोग प्रश्न करते हैं कि क्या ब्रह्म जीवके बाहर नहीं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म जीवके बाहर भी है परन्तु प्रकृतिमें व्यापक होनेसे उस का यथार्थ ज्ञान नहीं होता परन्तु भीतरी ओर अकेला होनेसे उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है. इसी वास्ते उपनिषद् बतलाते हैं:—

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तत् शुभ्रम् ज्योतिषांज्योतिस्तदयदात्म विदोविदुः॥

अर्थ—इस शरीरमें पाँच कोष हैं एक अन्नमय कोष. दूसरा प्राणमय कोष तीसरा मनोमय कोष चौथा विज्ञानमय कोष पांचवा आनन्दमय कोष है। आनन्दमयकोषके भीतर रज अर्थात् प्रकृतिसे रहित ब्रह्म विद्यमान है वह शुद्ध सम्पूर्ण प्र[illegible]शों का भी प्रकाशक है उसको वही जन जानते हैं जो जीवात्मा को जानते हैं निदान जब जीव अपने भीतर की ओर देखता है तब तो ब्रह्म की ओर लगता है जब प्रकृतिसे सम्बन्ध करता है तब बन्धन होता है।

जब यह बोध होगया कि मुक्ति जीवात्मा का स्वाभाविक (निज) गुण नहीं तो मुक्ति किस प्रकार नित्य होसकती है क्योंकि जो वस्तु साधनोंसे उत्पन्न होती है उसका आरम्भ तो होता ही है और जिस का आरम्भ हुआ उस का अन्त और जिसका अन्त हुआ उसका आदि होना भी आवश्यक है क्योंकि एक किनारे वाली नदी और एक सीमा की वस्तु दुनियां में है ही नहीं ऐसी मुक्ति जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो असम्भव है क्योंकि नित्य अनित्य के अतिरिक्त सब असम्भव है नित्य वह है जिसका आदि और अन्त दोनों नहीं और अनित्य वह है जिस का आदि और अन्त दोनों हैं परन्तु जिसका आदि हो और अन्त न हो ऐसी सब वस्तुयें असम्भव हैं इसी वास्ते गौड़पादाचार्य कारिकामें कहते हैं:-

अनादेरन्तवत्वंच संसारस्य न सेत्स्यति।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति॥३६॥

अर्थ—जो लोग संसार अर्थात् बन्धन को अनादि मानते हैं उनके बन्धन का अन्त नहीं होसकता क्योंकि जिसका आदि न हो उसका अन्त नहीं इस लिये बन्धन को उत्पत्ति मान अर्थात् अनित्य मान कर ही मुक्ति होसकती है और जो

मोक्ष आदि वाली है वह अनन्त नहीं हो सकती। गौड़पाद के समय में बौद्ध और जैन लोग जो संसार को अनादि मानते थे परन्तु उस बन्धन से छूटना भी स्वीकार करते थे दूसरे मुक्ति को आदि मानकर उस को अनन्त बतलाते थे। क्यों कि ये दोनों बातें बुद्धि और विद्या के विरुद्ध थी इसी लिये गौड़पादाचार्य ने ऐसे बन्धन और मुक्ति को उत्पत्तिमान् और नाशमान माना है उन्हीं का मतलब हो सकता है इस लिये मुक्ति को अनित्य मानना ही बुद्धि के अनुकूल है ऐसी अवस्था में प्रतिवादी कहता है कि तुम मुक्ति को अनित्य किस प्रकार कह सकते हो, जब कि दुख का अत्यन्ताभाव मुक्ति मानी जाती है जिस का अत्यन्ताभाव हो जावे वह किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता जब प्रतिवादी से पूछते हैं कि दुःख का अत्यन्ताभाव मुक्ति में कहाँ है तो वह यह सांख्यसूत्र बोल उठता है।

अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

अर्थ—तीन प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति (छुटकारा) हो जानी मुक्ति है। ऐसे अवसरों पर लोग भूल से निवृत्ति का अर्थ अभाव ग्रहण करते हैं। अत्यन्ताभाव का अर्थ है जो तीन काल में न हो परन्तु अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ है जो होकर न रहे निदान जीव का प्रकृति से नितान्त सम्बन्ध न रहने का नाम अत्यन्त निवृत्ति है यद्यपि जीव का सुषुप्ति में भी प्रकृति से सम्बन्ध नहीं होता है परन्तु उस समय प्रारब्ध जो प्रकृति के साथ सम्बन्ध करने वाली है विद्यमान होती है परन्तु मुक्ति उस दशा का नाम है जब कर्मरूपी दुःख जीव से दूर हो जावे जैसे कहा है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यते सर्वसंशयः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थ—जब जीवात्मा परमात्मा के दर्शन करता है तब उसकी मन की गांठ खुल जाती है अर्थात् जो उस का सांसारिक वस्तुओं में अहङ्कार था वह नाश हो जाता है। जब मन और अहंकार न रहा तब सब संशय भी दूर हो जाते हैं क्योंकि संशय का आधार मन और अहङ्कार ही है और जब मन न रहा तब सब कर्म नाश हो जाते हैं क्योंकि कर्मों के संस्कार मन ही में रहते हैं निदान मन जो दुःख का

बीज है जब न रहे तब उस के साथ दुःख भी जाय उसके दुःख नाश होते हैं उसी को मुक्ति कहते हैं ऐसा ही न्याय का सूत्र कहता है- "तदत्यन्तवि-मोक्षोपवर्गः" । अर्थात् दुःख से छूट जाना मुक्ति है ।

इन सूत्रों से दुःख के अत्यन्ताभाव से मुक्ति की सिद्धि नहीं होती किंतु दुखकी बीज सहित पृथक्ता सिद्ध होती है ।

बहुत लोग यहां पर यह प्रश्न करेंगे कि तुमने मुक्ति में मन का नाश माना है परन्तु वादरायण जो व्यास जी के पिता हैं यह मुक्ति में मन का अभाव मानते हैं "अभावं बादरिराह" । किन्तु जैमिनि आचार्य मुक्ति में मनका भाव मानते हैं और व्यास जी तो अभाव और भाव दोनों ही मानते हैं इस का क्या कारण है किन्तु इस विरोध के होने पर भी तुम केवल अभाव मानते हो जब कि ऋषियों में परस्पर विरोध है तो इसका यथार्थ किस प्रकार जाना जासकता है? विदित रहे कि मन दो प्रकार का माना गया है एक नित्य दूसरा अनित्य। जिस ऋषिने नित्य मनको लेकर विचार कियाहै उसको भावमानना पड़ा और जिसने अनित्या मान कर विचार किया उसने मुक्ति में मनका अभाव माना । महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में मनको नित्य कहा है:—

तस्य द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना व्याख्याते ।

अर्थ—उसका अर्थात् मन का द्रव्य होना और नित्य होना वायु के समान व्याख्यान किया गया है जिस प्रकार वायु द्रव्य और नित्य है इसी प्रकार मन भी नित्य है । दूसरी ओर महर्षि कपिल जी सांख्यदर्शन में मनको प्रकृति से बना बता कर अनित्य बताते हैं देखो साँख्यदर्शन अध्याय १ सूत्र ७१ ।

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।

अर्थ-महत्नामी प्रकृति का पहिला कार्य है उसके अनित्य होने में क्या संशय हो सकता है । इस पर विचार करते हुए एक ओर से ध्वनि उठता है, क्योंकि वेदमन्त्र में मन को अमृत बताया है इस से मन को नित्य ही मानना यथार्थ है दूसरी ओर से ध्वनि उठती है उसका यह अर्थ नहीं हो सकता क्यों कि छान्दोग्योपनिषद् में मन की उत्पत्ति इस प्रकार मानी गई है ।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं यो ऽणिष्ठ स्तन्मनः ॥

अर्थ—जो अन्न खाया जाता है वह तीन प्रकार का हो जाता है उस का जो सब से स्थूल भाग है वह मल होकर निकल जाता है जो मध्यम [सामान्य] भाग है वह मांस बनता है जो सब से सूक्ष्म होता है वह मन बन जाता है इस से स्पष्ट प्रकट होता है कि मन अनित्य है। मूर्ख लोग जो मन की वास्तविकता को नहीं जानते वे ऐसे अवसरों पर विचार करते हैं कि शास्त्र में विरोध है इस लिये कोई शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता। ऋषि भी परस्पर विरुद्ध सम्मति रखते हैं इस लिये उनकी बात का सत्य होना आवश्यक नहीं है परन्तु ये सब विचार अनभिज्ञता के कारण से हैं शास्त्रों की एक विषय में एक ही सम्मति है परन्तु जहां विषय ही दो हों वहां दो मत होना आवश्यक है मन दो हैं एक मनन शक्ति जो कि जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है दूसरा मन करण है जो कि जीव के बाहरी इन्द्रियों से कार्य लेने का साधन है। क्यों कि जीवात्मा नित्य है इस लिये मनन शक्ति जो जीवात्मा का गुण है वह भी नित्य है दूसरा मन करण, अन्न से या प्रकृति से बनता है इस लिये वह अनित्य है व्यास जी के पिता बादरि ने मन जो बाह्य ज्ञान का साधन है उसका विचार किया उस का मुक्ति में अभाव बतलाया क्योंकि मुक्ति में कोई अनित्य द्रव्य साथ नहीं रह सकता।

जैमिनि जी ने मनन शक्ति का विचार किया उन्होंने मुक्ति में इसका होना आवश्यक समझा क्योंकि मनन शक्ति जीवात्मा की नित्य है वह जीव से पृथक हो ही नहीं सकती व्यासजी ने दोनों का निर्णय कर दिया है कि करण मन का तो मुक्ति में अभाव और मनन शक्ति का भाव होता है। कणादजी ने उपचार से मनन शक्ति विशिष्ट आत्मा को वशेषिक में मनके नाम से द्रव्य माना और नित्य बतलाया। कपिल ने मन करण को प्रकृति कार्य बतलाया और वेद मंत्रों में नित्य मनन शक्ति को अमृतकी उपाधि दी और छान्दोग्योपनिषद् में बाह्य ज्ञान के साधन मन को अन्न से उत्पन्न होने वाला। बतलाया है। क्यों कि विषय दो थे। इन हेतुओं से ऋषियों के वाक्यों में न तो विरोध है और न एक

विषय में भिन्न २ मत हैं। जो लोग दर्शनों में विरोध बतलाते हैं उनकी अज्ञता है उदाहरण यह है एक पुरुष कहताहै शरीर अनित्य है दूसरा पुरुष जिसने जीवात्मा को परमात्मा का शरीर इस श्रुति से विचार किया है 'यस्यात्मा शरीरम्' वह कहता है शरीर नित्य है स्थूल शरीर को लक्ष्य बना कर एक पुरुष कहता है शरीर अनित्य है दूसरा कारण को लक्ष्य में रखता है शरीर नित्य है तो क्या इन में विरोध है ? कदापि नहीं ॥

जब यह मालूम हो गया कि मुक्ति, मन सहित दुःख के नाश का नाम है और यह अनित्य है तो उसकी उत्पत्ति और नाश दोनों आवश्यक होते हैं मुक्त जीव दुबारा बन्धनमें आसकता है क्योंकि बन्धन के नैमित्तिक होने से यह स्पष्ट प्रकट है कि बन्धन अनित्य है जिस से स्पष्ट विदित होता है कि बन्धन से पहिले मुक्ति थी परन्तु अब मुक्त होकर बन्धन में आयगा वा नहीं यही विचार करना है इसी का नाम मुक्ति से पुनरावृत्ति अर्थात् लौटना है इस पर प्रतिवादी पुरुष कहते हैं कि मुक्त से नहीं लौटता वे अपनी बात को सिद्ध करने के लिये यह प्रमाण देते हैं:—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽनावृत्तिश्रुतेः । सांख्य ॥

अर्थः—मुक्त पुरुष का दुबारा बन्धन के साथ सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि श्रुति अर्थात् उपनिषदों से सिद्ध होताहै कि मुक्त जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पुनरागमन नहीं होता है परन्तु विदित होता है कि कपिल जी मुक्ति से पुनरागमन के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु श्रुति के अनुसार जिस प्रकार का न लौटना श्रुति ने माना होगा वही कपिल जी को इष्ट है अत्यन्त पुनरावृत्तिवादी इस में कोई युक्ति नहीं देते। केवल श्रुति का प्रमाण प्रकट करते हैं, वेदान्त दर्शन में व्यास जी भी कहते हैं—

अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ।

अर्थ—शब्द अर्थात् श्रुति से यह सिद्ध होता है कि मुक्त जीव बन्धन से अलग रहता है उसको दुबारा लौटना नहीं होता व्यासजी अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं करते हैं न कोई युक्ति देते हैं। केवल श्रुति प्रमाण से कहते हैं इस हेतु कपिल और व्यासजीका मुक्तिसे न लौटनेके विषयमें वही मत होगा जोकि श्रुतिका है श्रुतिसे अतिरिक्त इनकी कोई सम्मति नहीं, निदान जब श्रुतिका अभिप्राय स्पष्ट विदित होगा तो ये सूत्र आपही स्पष्ट हो जावेंगे गीतामें श्री महात्मा कृष्णजी कहते हैं:—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

अर्थः—जहां पर पहुंचकर फिर नहीं लौटते वह मेरा धाम है परन्तु प्रसिद्ध बात है कि गीता उपनिषदोंसे लीगई है इसलिये गीताका भी वही तात्पर्य समझना चाहिये जो उपनिषदोंका है प्रयोजन यह है कि सारे प्रश्नका मर्म उपनिषद् के भीतर है जब हम सांख्यदर्शनके भाष्य और वेदान्तके सूत्रके भाष्यको देखते हैं तो हमें दोनों स्थानों पर उपनिषद्की एक ही श्रुति मिलती है जिस से स्पष्ट विदित होजाता है कि जितने आचार्योंने मुक्तिसे पुनरावृत्तिका निषेध किया है उन सबके मस्तिष्कमें यही श्रुति ध्वनित होरही है और वह यह है ।

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते । छा०

अर्थ—वह ब्रह्म लोकको प्राप्त हुआ जीव नहीं लौटता । परन्तु जब छान्दोग्योपनिषद्को देखते हैं तो हमें इतनी ही श्रुति नहीं मिलती किन्तु सम्पूर्ण पाठ करनेसे इसका मतलब और निकलता है इस वास्ते सारा खण्ड लिखते हैं ।

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच । प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविध्यनुगुरोः कर्मातिशेषेणाभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौदेशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिका न्विदधादत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः सखल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥

॥ छा० उ०

अर्थः—यह जो आत्मज्ञान है सो उपकरण अर्थात् साधनके साथ 'ओ३म्' इस अक्षरसे लेकर उपासनाके साथ उसके बतलाने को आठ अध्याय वाला जो छान्दोग्य पुस्तक है वह ब्रह्मा अर्थात् परमेश्वरने कश्यपको सिखलाया कश्यप ने मनुको जो कश्यपका पुत्र था और मनुने सम्पूर्ण प्रजाको । जो आचार्य कुलसे सविधि वेदको पढ़कर और नियमानुकूल गुरु सम्बन्धी कर्मको समाप्त करके समावर्तन संस्कार करे फिर अच्छे गृहस्थआश्रममें स्वाध्यायसे पढ़ता हुआ धर्मात्मा सन्तान और शिष्योंको बताने और सर्व इन्द्रियोंको वशमें रखकर सर्व

जीवोंके साथ अहिंसाका वर्ताव करे तो वह जब तक ब्रह्मलोककी आयु है तब तक ब्रह्मलोकमें रहता है। ब्रह्मलोककी आयुमें नहीं लौटता। इस श्रुति से स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्मलोककी आयु तक नहीं लौटता है उसके बाद लौटनेसे इनकार नहीं परन्तु इस अवसर पर हमारे नवीन भाई यह कहते हैं कि यहां पर ब्रह्मलोककी आयुसे प्रयोजन नहीं किन्तु आयु भर इस प्रकार वर्ताव करेगा तब ब्रह्मलोकको प्राप्त होगा इस स्थान पर विचार करना है कि क्या ब्रह्मलोक कोई भूगोल विशेष अर्थात सृष्टिका कोई विशेष भाग है अथवा ब्रह्म दर्शन का नाम है जहां तक अन्वेषण करनेसे पता लगता है ब्रह्मलोकका अर्थ ब्रह्म दर्शन ही होसकता है क्योंकि यदि और लोकोंके समान ब्रह्मलोक कोई विशेष लोक है जैसे कि सूर्यलोक चन्द्रलोक पृथिवीलोक इत्यादि हैं तो उसका भी इन लोकोंके समान दर्शन होने चाहिये अथवा उसके अस्तित्वका कोई प्रमाण होना चाहिये चाहे कैसा ही हो दोनों दशाओंमे ब्रह्मलोक उत्पत्ति विशिष्ट हैं जब ब्रह्मलोक उत्पत्ति विशिष्ट है तो उसकी आयु अवश्य होगी और जिसकी आयु नियत है उसका नाश अवश्य होगा जब ब्रह्मलोकका नाश हो जावेगा तब ब्रह्मलोकको जो जीव प्राप्त होंगे उनको ब्रह्मलोक छोडना पड़ेगा निदान इस अवस्थामें भी पुनरावृत्ति अर्थात् मुक्तिसे आना मानना ही पड़ेगा इस श्रुतिका भाष्य करते समय स्वामी शङ्कराचार्य ब्रह्मलोक को कार्य मानते हैं जिससे स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्म कीआयु ही स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं।

अर्चिरादिना मार्गेण कार्यं ब्रह्मलोकमभि सम्पद्ययावत्

ब्रह्मलोक स्थिति स्तावत्तत्रै व तिष्ठति प्राक्ततो नावर्तते इत्यर्थः

अर्थात् उपासना आदि के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्तहोता है जब तक ब्रह्मलोक में रहता है तबतक वहीं रहता है और ब्रह्मलोक के नाश से पूर्व नहीं लौटता है यहाँ पर स्वामी शंकराचार्य स्पष्ट शब्दों में मुक्ति का अनित्य होना जो यथार्थ में ठीक है स्वीकार करते हैं हमने जहां तक उपनिषदों और वेदान्त दर्शन का विचार किया है हमें कहीं भी नवीन वेदान्तियों के सिद्धान्त का पता नहीं लगता यहां पर ही शंकराचार्य ऐसा नहीं कहते बल्कि और जगह भी पता लगता है। कि स्वामी शंकराचार्य और आनन्दगिरि आदि मुक्ति से लौटना मानते हैं देखो छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ४ खंड १५।

सएतान्ब्रह्म गमयत्येपएव पथो ब्रह्मपथ एतेन प्रति-
पद्यमाना इमंमानवमावर्तं नाऽवर्तन्ते ना वर्तन्ते । ५ ।

अर्थः—वह इससे ब्रह्म प्राप्त होता है यही देवतों का मार्ग और यही ब्रह्म का मार्ग है इस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होकर इस कल्प में नहीं लौटते इसका टीका करते हुए आनन्द गिरि कहते हैं:—

इममिति विशेपणादनावृत्ति रस्मिन् कल्पेकल्पान्त रेत्वावृतिरितिसूच्यते ।

अर्थः—इस श्रुति में जो (इमम्) यह विशेपता के लिये किया है इस से ज्ञात होता है कि इस कल्प में लौटता नहीं परन्तु दूसरे कल्प में लौटता है बहुत से लोग यह कहते हैं कि यहां पर मतलब यह है कि एक तो कार्य ब्रह्म लोक दूसरा कारण ब्रह्मलोक है जो कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं वह तो लौट आते हैं और जो कारण ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं वह नहीं लौटते परन्तु इस के वास्ते जब तक कोई प्रमाण और युक्ति नहीं तब तक इसका विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि कोई भी ऐसी श्रुति नहीं जिस में ब्रह्मलोक दो प्रकार का बताया हो परन्तु श्री शकंराचार्य ने दूसरे स्थान पर भी इस श्रुति पर विचार किया है जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह श्रुति ब्रह्मलोक से लौटने के सम्बन्ध में है ब्रह्म लोक कार्य है इस से उसके नाश होने के वाद जीव को लौटना पड़ता है ब्रह्मलोकका हेतु तत्व ज्ञानहै उससे ब्रह्म लोककी प्राप्ति होती है और जो वस्तु उत्पन्न होतीहै उसका विनाश अवश्य होता है । अब दूसरी श्रुतिको भीयहां पर शकंराचार्य ने मुकावला किया है लिखते हैं, । छान्दोग्योपनिषद अध्याय ५ खंड १० का भाष्यः—

न चपुनरावर्तते इतीमं मानवामावर्तंनावर्तन्त इत्यादि
श्रुतिविरोध इतिचेन्न ॥

अर्थ—वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ जीव नहीं लौटता दूसरी श्रुति कहती है कि इस कल्प में नहीं लौटता क्या इन में विरोध नहीं उत्तर मिलता है नहीं क्योंकि कहा है:

इम मानवमितिं विशोषणात्तेषामिह न पुनरावृत्ति-
रस्तीतिच ॥

इस कल्प में पुनरावृत्ति नहीं होती इस लिये (इमम्) यह विशेषण दिया गया इस विचार को शंकराचार्य इस पर समाप्त करते हैं।

अतः इममिहेति विशेषणार्थवत्त्वायान्यत्रावृत्तिः कल्पनीया ।

अर्थ- इमम् और इन हेतुओं के आवश्यक होने से दूसरे स्थान पर पुनरावृत्ति कल्पना करो इस पर आनन्द गिरि कहते हैं:-

यस्मिन् कल्पे ब्रह्मलोक प्राप्ति स्तस्मात्कल्पान्तर-मन्यत्रेत्युक्तम् ।

अर्थः—शंकराचार्य का अभिप्राय दूसरे स्थानसे यह है कि जिस कल्पमें ब्रह्म लोक प्राप्त होता है उसी कल्प में पुनरागमन नहीं होता है। उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होता है कि मुक्ति से पुनरागमन का प्रश्न निर्मूलक नहीं किन्तु दृढ़ युक्तियों और प्रमाणोंसे सिद्ध होताहै अब प्रश्न यह उत्पन्न होताहै कि मुक्तिको वेद मंत्रों और उपनिषदों श्रुतियों में अमृत कहा गया है यदि मुक्ति भी नाश होने वाली है तो उसका अमृत कहना अनुचित है पर यहां पर विचार करना चाहिये कि वेदों में जीव की दो अवस्थायें वर्णन की हैं एक मृत्यु दूसरी अमृत जैसा कि यजुर्वेद अध्याय ४० में कहा है:—

विद्यांचा विद्याच यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया,
मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

अर्थः-विद्या और अविद्या को जो पुरुष ग्रहण करने और त्याग करने योग्य जानता है अर्थात् पूर्व अवस्था में कर्म और उपासना ग्रहण करने योग्य है परन्तु पश्चात् छोड़नी पड़तीहै ऐसे ही विद्या भी पहिले ग्रहण करनी पड़तीहै फिर उस का भी त्याग करना पड़ता है जैसे किसी को नदी के पार जाना है,कर्म उपासना संसाररूपी नदी के किनारे हैं उनको विद्या का पहिला किनारा जान कर हम उस पर खड़े हैं परन्तु जहाँ विद्यारूपी नौका आई तो अविद्या रूपी पहिला किनारा छोड़ना पड़ा विद्या रूपी नौका को नदी के दूसरे तट पर पहुंच कर जब तक न छोड़ें तब तक पार नहीं हुए क्योंकि नाव नदी के बीच में रहती है पार जाने के लिये नौका को भी छोड़ना पड़ता है इस वास्ते विद्या को भी छोड़ने योग्य

जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तरकर विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है संसार में जितनी योनि हैं वह सब मृत्यु कहाती हैं उससे मरकर छूटता है परन्तु मोक्ष को अमृत इसलिये कहा है कि उसका परिणाम मृत्यु नहीं बल्कि यह जन्म लेकर छूटती है। बहुत लोगों ने मृत्यु का अर्थ नाश होना और अमृत का अर्थ नाश से रहित होना समझ लिया है यह ठीक नहीं। अब बहुत लोग यह प्रश्न करेंगे कि तुम मान चुके हो कि मुक्ति में कर्म शेष नहीं रहते जब कर्म ही नहीं तो जन्म किसके भोगने को लेता है ऐसे पुरुषों को जान लेना चाहिये कि योनि तीन प्रकार की होती है एक कर्म योनि दूसरी उभययोनि तीसरी भोगयोनि। इनमें से कर्म योनि तो पिछले कर्मों के न होने से नये कर्मों के करने के लिये होती है और उभय योनि में पिछले कर्मों का फल भोगते हैं और आगे के लिये कर्म करते हैं। तीसरी भोग योनि जिस में आगे के लिये कर्म नहीं कर सकते बल्कि पिछले कर्मों का फल ही भोगते हैं। कर्मयोनि नितान्त स्वतन्त्र होती है। क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है उभययोनि में भी जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता है, परन्तु भोगने में परतन्त्र और भोगयोनि में नितान्त परतन्त्र होता है केवल भोगता ही है आगे के लिये कुछ नहीं कर सकता इसी लिये कर्म योनि आदि सृष्टि में ही उत्पन्न होती है क्योंकि माता पिता भाई बहिन आदि सम्बन्ध कर्म से ही होता है परन्तु मुक्त जीवों के पिछले कर्म होते नहीं इस हेतु से वे अमैथुनि सृष्टि अर्थात् सृष्टि के आरम्भ समय में ही जन्म ले सकते हैं, बहुत लोग इस भ्रान्ति में हैं कि सृष्टि तो कर्मों का फल भोगने के लिये ही होती है जिनके कर्म ही शेष नहीं उनको जन्म क्यों दिया जावे परन्तु ऐसे लोगों के लिये महर्षि पतञ्जलि सृष्टि का प्रयोजन बतलाते हैं:—

भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्।

इस संसार के दो प्रयोजन हैं भोगयोनि के भोग के लिये यह संसार है और कर्मयोनि को मुक्ति के साधन करने के लिये यह संसार है अब प्रश्न यह होता है कि मुक्ति में जो ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ है उसके दूर होने का क्या कारण है उसका उत्तर यह है कि जो गुण नैमित्तिक होता है वह नित्य तो हो ही नहीं सकता क्योंकि वह उत्पत्तिमान है जिसका संयोग हुआ उसका वियोग भी आवश्यक है अब प्रश्न यह होता है कि जब कि ब्रह्म आनन्द हेतु जीव में विद्यमान है तो उससे प्राप्त आनन्द क्यों दूर हो सकता है पर विदित

हो कि ब्रह्म तो मुक्ति और बन्धन युक्त दोनों के ही भीतर है इस ब्रह्म का भीतर होना ही आनन्द का कारण नहीं और नहीं प्रकृति का बाहर होना दुःख का कारण है, जहां यह कहा गया है कि प्रकृति की उपासना से बंधन और ब्रह्म की उपासना से मुक्ति होती है वहां उपासनासे देश कालकी दूरीका दूर करना प्रयोजन नहीं क्योंकि देश और काल के सम्बन्धसे तो प्रत्येक पुरुष प्रकृति और ब्रह्म की उपासना करता है मनुष्य ही क्या किन्तु सबही प्राणी उपासना करते हैं क्योंकि ब्रह्म और प्रकृति दोनों सर्वव्यापक नित्य हैं भेद केवल इतना है कि ब्रह्म जीवों के भीतर भी है प्रकृति केवल बाहर ही है। अब मुक्ति का कारण क्या था? वेदों से प्राप्त शुद्ध तत्वज्ञान जो जीव का स्वाभाविक गुण नहीं था किन्तु नैमित्तिक था जब मुक्ति में आकर वेदों का पढ़ना बन्द हो गया तो वह ज्ञान जो नैमित्तिक था निमित्त के नाश हो जाने से न्यून होने लगा जब वेदों से प्राप्त शुद्ध तत्वज्ञान पृथक् होगया तो जीव अपनी असली दशा में आगया जिसको फिर नये सिरे से तत्वज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता हो जीवों की इसी न्यूनता को दूर कराने के लिये परमात्मा ने दया से उनको अयोनि सृष्टि में उत्पन्न किया उन में जो सब से पीछे मुक्त हुए थे उन के हृदय में वेदों का प्रकाश किया जिससे वेदों के पढ़ने पढ़ाने से जीव तत्वज्ञान को प्राप्त होता है, जो लोग यह समझे हुए हैं कि विना कर्म सृष्टि नहीं होती वह भूल में हैं बल्कि यह नाना प्रकार की सृष्टि जिस में कोई दुखी है कोई सुखी, कोई बलवान् है कोई निर्बल कोई राजा कोई प्रजा कोई स्वस्थ है कोई रोगी कोई आलसी कोई पुरुषार्थी कोई परोपकारी है कोई स्वार्थी परन्तु मुक्ति से लौटते हुए जीवों की सृष्टि एक सी विना माता पिता के युवा अवस्था में होती है उन में कोई निर्बल लंगड़ा कुबड़ा अंधा इत्यादि नहीं होते कर्म करने में सब स्वतंत्र होते हैं जैसा कर्म करते हैं वैसा ही फल पाते हैं, प्रश्न होता है कि यदि सब मुक्ति जीव आदि सृष्टि में उत्पन्न होते हैं तो क्या मुक्ति की सीमा एक ही सृष्टि है इस का उत्तर है कि सृष्टि जो ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की होती है वह ब्रह्म का दिन कहलाता है और ३६० दिन का वर्ष होता है इस लिये ३६० वर्ष को १०० वर्ष की आयु से गुणा किये ३६००० सृष्टि ब्रह्म लोक या ब्रह्म दर्शन की आयु है तद्यथा ३६ सहस्र सृष्टि और प्रलय तक मुक्ति में जीव आनन्द को भोगता है अब लोग प्रश्न करते हैं कि यदि ३६ सहस्र सृष्टि और प्रलय की सीमा मान जावे तो कोई जीव तो सृष्टि के आदि में मुक्त हुए हैं उन को सृष्टि की आदि में

जन्म लेना चाहिये परन्तु जो जीव सृष्टि के मध्य में मुक्त हुए हैं उनका जन्म सृष्टि के आदि में किस प्रकार होगा क्यों कि इस दशा में मुक्ति की सीमा में न्यूनता व अधिकता हो जावेगी इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो संसार में हर समय नये नये लोग उत्पन्न होते रहते हैं जिस जीव का जिस लोक की उत्पत्ति के समय मुक्ति का समय समाप्त होने वाला होगा उसी लोक में उसका जन्म होजावेगा दूसरे जब कोई नौकर रक्खा जाता है तो हम उस दिन को गिनते हैं यह कभी नहीं गिनते कि कितने बजकर कितने मिनट पर नौकर रक्खा गया और तनख्वाह भी दिनों के हिसाब से देते हैं घंटों और मिन्टों के हिसाब से नहीं देते तीसरे मुक्त जीवों के वास्ते आदि सृष्टि में जन्म लेने का नियम है इस लिये परमात्मा आदि सृष्टि में वेदों का उपदेश करते हैं ताकि हर एक जीव मुक्ति प्राप्त करले परन्तु जो जब अपनी अपनी अविद्या से मुक्ति प्राप्त न करें उस में परमात्मा का क्या अपराध जिस प्रकार गवर्मेन्ट ने ५५ वर्ष की अवस्था में पेन्शन देकर नौकरी से पृथक करने का नियम स्थिर किया है चाहे कोई २० की अवस्था ही में नौकरी करे वा २५ में, दोनों निकाल दिये जायेंगे। इस पर गवर्मेन्ट को अन्यायी नहीं कह सकते कोई ऐसा कहते हैं कि जिस से लौट आवें वह मुक्ति कैसी परन्तु उत्पत्ति शील वस्तु का नाश होना आवश्यक है किसी के मानने न मानने से यह अटल नियम टल नहीं सकता क्योंकि उत्पत्ति शील मुक्ति नित्य हो नहीं सकती। गौड़पादाचार्य ने मुक्ति को पारमार्थिक मानने से इनकार किया है जैसा कि वह कहते हैं:—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो नचसाधकः। नमुमुक्षुर्नवैमुक्त इत्येषा परमार्थता

अर्थः—यह जो संसार में लौकिक और वेदों से बताया हुआ व्यवहार है यह सब अविद्या से जाना जाता है यथार्थ में न तो कभी प्रलय होती है और नहीं कभी सृष्टि की उत्पत्ति होती है और नहीं कोई जीव बन्धा हुआ है न कोई मोक्ष की इच्छा रखने वाला है और नहीं कोई मुक्त होता है परन्तु गौड़-पादजी से यदि कोई प्रश्न करे कि जब कि सम्पूर्ण संसार को आप मिथ्या मानते हैं वैदिक व्यवहार को भी आप मिथ्या बताते हैं तो आपकी यह कारिका संसार से बाहर है। वा संसार में होने से मिथ्या है? यदि कहो यह कारिका

संसार से बाहर और सत्य है तो आप के सिद्धांत की हानि होगई क्योंकि आप एक ब्रह्म ही को सत्य मानते हैं उसके अतिरिक्त सब को अनित्य बताते हैं जब यह कारिका भी सत्य होगई तो एक ही सत्य न रहा किन्तु दो सत्य होगये यदि कारिकाको मिथ्या मानतेहैं तो जिन वस्तुओंको कारिका ने मिथ्या कहा है सब सत्य हो गई क्योंकि मिथ्या का मिथ्या अर्थात् अभाव का अभाव सत्य होता है ! जिस समय में गौड़पादादि आचार्य हुए हैं वह समय बौद्धों के बल का था बौद्ध लोग जगत को अनादि और कर्म के फल आदि को सत्य मनते थे परमात्मा के अस्तित्व से इनकारी थे गोड़पादादि ब्रह्मवादी थे उन्हों ने उन के खंडनमें जो प्रयत्न किया यद्यपि वह किसी अन्शमें प्रशंसनीय है परन्तु यथार्थमें अविद्या की जड़ उन्हीं महात्माओं से पड़ी। न मुक्ति जीवका स्वाभाविक गुण है और न बन्धन जीवका स्वाभाविक गुण है। मुक्तिसे पूर्व बन्धन का होना आवश्यक है और बन्धन से पूर्व मुक्ति का होना आवश्यक है रात दिन के समान बन्धन और मुक्ति का चक्र है जब जीव ब्रह्म से सम्बन्ध करता है तब ही उसके गुण आनन्द को प्राप्त करता है और जब प्रकृति से सम्बन्ध करता है तब बन्धन में पड़ कर दुःख का अनुभव करता है तीन अवस्थाओं में जीवका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है जैसा कि कपिल मुनि कहते हैं:—

॥ समाधिसुषुप्तिमोक्षेषुब्रह्मरूपता ॥

अर्थः— समाधि जब योग के यम, नियम प्रत्याहार आसन प्राणायाम धारणा ध्यान इन सात अङ्गों को पूरा कर के ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है सुषुप्ति जिस में जीव ब्रह्म का सम्बन्ध होता है परन्तु जब आनन्द भोगता हुआ भी उस के कारण ब्रह्म को नहीं जानता मुक्ति जब शरीर के अध्यास को छोड़ कर ब्रह्म के साथ सम्बन्ध करता है इन तीन दशाओं में जीव में ब्रह्म को गुण आनन्द आता है तात्पर्य यह है कि ज्ञान रहित और शरीर सहित ब्रह्म के सम्बन्ध को सुषुप्ति कहते हैं और शरीर रहित और ज्ञान सहित सम्बन्ध को मुक्ति कहते हैं निदान यह मुक्ति जीव का नैमित्तिक गुण है सहस्रों वार मुक्त हुआ सहस्रों वार बन्धा। मुक्तिसे पुनरावृत्ति न मानना ज्ञान के विरुद्ध है।

॥ इति ॥

❀ पाप और पुण्य ❀

संसार में इस बात को प्रत्येक मनुष्य मानता है कि प्रत्येक मनुष्य को दुःख और सुख होता है जिसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु उस के कारणों को जानने वाले बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य सुख की इच्छा और दुःख से घृणा करता है तथापि सुख के कारण यथार्थ रूप से न जानने से वह सुख को प्राप्त नहीं करता है और न दुःख से पीछा छुड़ा सकता है। यही कारण है कि पूर्ण प्रयत्न करने पर भी समस्त संसार के मनुष्य दुःख भोग रहे हैं। जब हम शास्त्रकारों से दुःख का कारण पूछते है तो वह हमें दुःखको पापका फल बताते हैं, और जब हम सुख के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं तो वह हमें उसे पुण्य का फल बताते हैं। मानो दुःख और सुख के कारण पाप और पुण्य हैं। ऐसी दशा में हमारा कर्त्तव्य है कि पाप और पुण्य के स्वरूप को जानें गोतम सूत्र के भाष्य में महात्मा वात्सायन ने पाप की यह टीका की है:—

"दोषः प्रयुक्तःशरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेय प्रतिषिद्ध मैथुनान्या चरति वाचाऽनृतपरुषसूचनासम्बद्धानि मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्चेति सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय"

अर्थ:—"राग द्वेष आदि दोषों में फंस कर देह से हिंसा, चोरी और व्यभिचारादि करता है, जिह्वा से मिथ्या भाषण तथा दूसरों की निन्दादिक करता है और मन से पराई हानि करने का विचार पराये धन की इच्छा तथा नास्तिकता अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा को भङ्ग करना इत्यादि करता है। यह पाप से युक्त प्रवृत्ति अधर्म के लिये होती है।

और पुण्य का यह लक्षण कहा है:—

"अथ शुभा, शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च वाचा सत्यंहितं प्रियं स्वाध्यायञ्चेति"। मनसादयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति सेयं धर्म्माय ॥

अर्थः—शुभ प्रवृत्ति यह है कि शरीर से दान देना, दूसरे की रक्षा करना, तथा दूसरों की सेवा करना, जीभ से सत्य बोलना, दूसरे के हित का उपदेश करना तथा वेद का पढ़ना और मन से दया करना लोभ का त्याग तथा श्रद्धा यह धर्म के लिये होते हैं।

यद्यपि महात्मा वात्स्यायन के इस लेख से पाप और पुण्य की व्याख्या हो गई परन्तु लक्षण यहां से भी नहीं मिला। अतः स्मृतिकारों का यह वाक्य स्पष्ट शब्दों में पाप और पुण्य का लक्षण वर्णन करता है:-

"वेद प्रतिपादितो धर्म्मः अधर्मस्तदविपर्य्ययः"।

अर्थ—जिस काम को वेद ने बताया हो अथवा (वेद शब्द से ज्ञान अर्थ लेकर) जो ज्ञानके अनुकूल हो वह धर्म है और जो वेदके प्रतिकूल है वह अधर्म है। महात्मा जैमिनि ने भी मीमांसादर्शन में धर्म का ऐसा ही लक्षण किया है।

"चोदनालक्षणोर्थो धर्मः" ॥

अर्थ—जिस कर्त्तव्य में अर्थात् जिस कार्य्य के करने में वेद की आज्ञा है वही धर्म है और जो धर्म के प्रतिकूल होगा वह अधर्म होगा यह स्पष्ट ही है अब वेद ने मनुष्य की मोक्ष के निमित्त परमात्मा के जानने का उपदेश किया है और उसके लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उसे बताया है। सुतराम् जो काम परमात्मा के जानने में सहायक है वह धर्म अर्थात् पुण्य और जो परमात्मा के जानने में रुकावट डालने वाले हैं वह अधर्म अर्थात् पाप है। अब सोचना चाहिये कि परमात्मा को किस प्रकार हम जान सकते हैं। परमात्मा हम से दूर नहीं जिसके लिये चलने की आवश्यकता हो वरन् वह हमारे अत्यन्त निकट अर्थात् हमारे बाहर और भीतर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान हैं। यदि कहो कि हम उसे जान क्यों नहीं सकते तो इसका यह उत्तर है कि जिस प्रकार अंजन नेत्रों के बहुत ही निकट होता है परन्तु नेत्र जो सब पदार्थों को देखते हैं उसे नहीं देख सकते, इसी प्रकार जीवात्मा सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है। परन्तु अपने अति समीपवर्ती परमात्मा को नहीं जान सकता। और जिसप्रकार उस अञ्जन के देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता है, इसी प्रकार परमात्मा के देखने के लिये भी एक दर्पण की आवश्यकता है जो कि परमात्मा ने मन के नाम से हम को दिया है। परन्तु दर्पण के मलीन होने से स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और शुद्ध होने से होता है इसी प्रकार मन के मलीन होने से परमात्मा

का ज्ञान नहीं होता वरन् उसके शुद्ध होने से होता है सुतराम् जो वस्तु मन में अशुद्धि उत्पन्न करे, उस का संग करना पाप है और जो काम मन को शुद्ध करे उसका करना पुण्य है। मन को मलीन करने वाली चमकीली वस्तुओं की इच्छा के कारण मन शुद्ध नहीं हो सकता। महात्मा मनु ने मन की शुद्धि का कारण सत्य को माना है जैसा कि उन्हों ने लिखा है:-

अद्भिर्गात्राणिशुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

अर्थ—जल से शरीर पवित्र होता है, सत्य बोलने तथा सत्याचरण करने से मन शुद्ध होता है।

अब विचारना यह है कि जब सत्य से मन शुद्ध होता है तो हम सत्य से किस प्रकार पृथक् होगये हैं क्या हमें यह ज्ञान ही नहीं कि सत्य ही हमारे मन को शुद्ध करने वाला है? अथवा और कोई रुकावट है जो हमें सत्य से पृथक रखती है? यह तो प्रत्येक मनुष्य कहता हुआ दिखाई देता है कि सांच को आंच नहीं, और शास्त्रों में भी सत्य के सम्बन्ध में भली प्रकार लिखा हुआ है और देखिये फारसी का कवि सादी भी कहता है कि:-

"रास्ती मूजिबे रजाय खुदास्त। कसनदीदमकि गुम शुदज़ रहेरास्त"॥

अर्थात्—सत्य परमात्मा के प्रसन्न होनेकाकारण है किसी को नहीं देखा कि सीधे रास्ते से भूल गया हो अब प्रकट हुआ कि सत्य के गुणों से तो प्रत्येक मनुष्य विज्ञ है परन्तु कोई ऐसी रुकावट अवश्य है जिस के कारण हम सत्य से दूर जा पड़े हैं। इस रुकावट का वर्णन वेदों में स्पष्ट रीति से किया गया है। देखो यजुर्वेद अध्याय ४०।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये॥ १५॥

अर्थ—चमकीली वस्तुओं की इच्छा के वर्तने से सत्य का मुख ढका है, यदि तुम अपनी उन्नति करना चाहते हो तो उस पर्दे को उठा डालो अर्थात् चमकीली वस्तुओं की इच्छा छोड़ दो।

चमकीली वस्तुओं की इच्छा जिस का नाम लोभ तथा काम है, जिन से मोह उत्पन्न होता है, सत्य से पृथक् करने वाली है। यावत् अहंकार लोभ तथा मोह रहेंगे तावत् मनुष्य सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता। इन में से भी लोभ सब से प्रबल है। यद्यपि काम के समान मनुष्य का शत्रु कोई नहीं तथापि इन्द्रियों के शिथिल एवं विशेष रोग ग्रसित होजाने पर काम की इच्छा जाती रहती है। परन्तु लोभ उस समय भी बढ़ता ही जाता है। अतः मनुष्य का सब से प्रबल शत्रु लोभ है। इसी कारण महात्मा मनु ने सब शुद्धियों में से अर्थ शुद्धि को ही विशेष उत्तम माना है। जैसा कि लिखा है:—

"सर्वेषामेव शौचानामर्थशुद्धि विशिष्यते ॥

अर्थः—सर्व प्रकार की शुद्धियों में अर्थ शुद्धि अर्थात् लोभ रहित होना विशेष है। और परमात्मा ने वेद में भी इस बात का उपदेश किया है-देखो यजुर्वेद अध्याय ४० का प्रथम मंत्र, जिसमें दूसरों के धन लेने को बरजा है— काम, लोभ और मोह यह तीनों प्राकृतिक पदार्थों के संबंध से उत्पन्न होते हैं और जिस समय जीव प्राकृतिक पदार्थों से पृथक् होते हैं उस समय में इनमें से कोई भी नहीं रहता। इससे विदित हुआ कि पाप का मूल तो प्राकृतिक पदार्थों का संग है। जिस समय मनुष्य की इन्द्रियां, जो प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति से बने हुए पदार्थों को ही देख सकती है, जाग्रत अवस्था में कार्य करती है उसी समय काम, लोभ और मोह उत्पन्न होते हैं और जिस समय सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का इनसे संबंध टूट जाता है अर्थात् वह इन्द्रियों से प्राकृत पदार्थ का देखना बंद कर देता है उस समय काम, लोभ और मोह लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं हो सकते। इससे पता चला कि मन में मैल प्राकृतिक पदार्थों के संग से आता है। जिस समय जीव प्राकृतिक पदार्थों की इच्छा को दूर करदे उस समय उसको किसी प्रकार का कष्ट हो ही नहीं सकता। परन्तु जीव चेतन अर्थात् ज्ञान वाला है। वह कभी भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता। यदि वह, ऐसी दशा में प्राकृतिक पदार्थों का संग न करे तो क्या करे, इस का उत्तर यह है कि मन, प्राकृतिक पदार्थों के प्रतिकूल परमात्मा का संग करे। प्रश्न उठता है कि मनुष्य की इन्द्रियां तो अपने स्वाभाविक काम को नहीं छोड़ सकतीं ? और इन का संबंध प्राकृतिक पदार्थों से ही होगा ? इसका उत्तर यह है कि यदि आत्मा इन्द्रियों के विषयों

को अपने मन माने किन्तु उसको इन्द्रियों का धर्म समझ कर इन्द्रियों की आवश्यकताओं से हटा कर परोपकार में लगाये और प्रत्येक समय यही ध्यान रक्खे कि यह परमात्मा की आज्ञा है । अथवा संसार में जो ब्रह्म की शक्ति से नाना प्रकार के देहधारी उत्पन्न होते हैं उन में प्रेम करने के स्थान में उन के बनाने वाले की कारीगरी का विचार रहे तो ऐसी दशा में जीव को इन्द्रियों का प्रकृति से सम्बन्ध हानि कारक न होकर लाभकारी होगा। क्योंकि चेतन जीवात्मा के संकल्पानुसार ही उस पर प्रभाव पड़ता है ।

उदाहरणार्थ एक मनुष्य सिंह को इस उद्देश से मारता है कि उस का माँस खाये तो ऐसा मनुष्य पाप करता है । परन्तु दूसरा जो कि उसे जीवों की रक्षा के निमित्त मारता है पुण्य करता है । क्योंकि जो निर्बल पशुओं को बचाने के निमित्त प्रयत्न करता है वह परमात्मा की आज्ञा का पालन करता है परन्तु जो खाने के लिये मारता है वह प्रकृति की सेवा करता है ।

परमात्मा ने जीवात्मा को बुद्धि और विद्याके द्वारा इस बात का उपदेश किया है कि वह दूसरों की रक्षा करे। अथवा यों समझो कि बड़ों का सत्कार बराबर वालों से प्रेम तथा छोटो पर दया करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है । जो इसके अनुसार काम करता है वह पुण्य करता है और जो इसके विरुद्ध करता है सो पाप करता है, सब से बड़ा परमात्मा है, उसकी आज्ञा पालन करना मुख्य कर्तव्य है । तत्पश्चात् माता, पिता, गुरु, राजा आदिक तथा देवता अर्थात् विद्वान् लोग जो हमसे किसी न किसीप्रकार की महत्ता रखते हैं, उनका, आदर करना भी कर्तव्य है । जो मनुष्य इस कर्तव्य को यथोचित पालन करता है वह पुण्य करता है और जो इसके विरुद्ध करता है सो पाप, जितने जीव हम से गुणों में बराबर हैं उनके साथ प्रेम करना पुण्य है, परन्तु इस विचार से कि यह मेरे बराबर सन्मान प्राप्त कर चुका है कदाचित् मुझ से बढ़ जावे, उनसे द्वेष करना महान् पाप है। इसी प्रकार निर्बलों के स्वत्वों को भी ले लेना महा पाप है । जहां तक हो सके निर्बलों की सहायता करना पुण्य है । जिस प्रकार का निर्बल हो उसी प्रकार की सहायता से उसकी निर्बलता को दूर करना मनुष्यत्व है, जिस प्रकारका पदार्थ हमारे पास दूसरोंसे अधिक हो उसी से सहायता करना पुण्य है । और दूसरोंको किसी प्रकारकी हानि पहुंचाना अथवा पहुंचानेका विचार करना पाप है । मनुष्यको अपनी आवश्यकताओं के लिये प्रबंध करना जीवनको व्यर्थ गमाना है । क्योंकि भोगके बदलने में मनुष्य समर्थ नहीं । जीवन में मनुष्य जो कुछ अपने लिये करता है वह सब भोग

के लिये करताहै,जिसकी उन्नति वा अवनति हमारे हाथमें नहो उसकी उन्नति वा अवनतिमें अपना समय नष्ट करना स्पष्ट अज्ञानका फल है। यही कारण है कि बहुधा मनुष्य असफलताके दुःखकी भेट चढ़ जाते हैं, यदि भोगमें उस कार्य का होना है तब तो किसी न किसी प्रकार वह कार्य अवश्यही होगा चाहे इच्छा से उसके लिये प्रयत्न करो चाहे न करो। बहुत से मनुष्यों के हृदय में यह सन्देह होगा कि कर्त्तव्य और भोक्तव्य से भेद किस प्रकार हो सकता है ? इस का उत्तर यह है कि प्रथम जो दशा या इच्छा बीज बोनेके समय होती है वह दशा खानेके समय नहीं होती। जो अन्तर इन दोनों अवस्थाओं में है वही कर्त्तव्य और भोक्तव्यमें समझना चाहिये। खानेका कार्य मनुष्य को अवश्य करना ही पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य चाहे कि मैं तनिक भी नखाकर जीता रहूँ तो यह असंभव है। परन्तु बोनेमें मनुष्यकी यह स्थिति नहीं। दूसरे खाने का आधार तो मनुष्य का अपना पेट होगा परन्तु बोने वाली वस्तुका आधार पृथ्वी होगी अर्थात् जिस कार्यका निश्चयात्मक सम्बन्ध, दूसरे जीवों के साथ किसी प्रकारका सम्बंध रखता है वह कर्तव्य है। यदि हमारे संकल्प में दूसरे को हानि पहुंचाना है तो हम पाप कर रहे हैं, यदि लाभ पहुंचानेका विचार कर रहे हैं तो हम पुण्य कर रहे हैं, इन संकल्पोंका पूरा होना हमारे अधिकार में नहीं। वरन् उनके भोग से सम्बन्ध रखता है, जैसे हमने किसीको हानि पहुंचानेका विचार किया तो पापी होचुके परन्तु उसको हानि पहुंचना उसके भोग के वशमें है। यदि उसके भोग में हानि पहुंचना न हो तो केवल हमारे विचारसे उसे हानि नहीं पहुंच सकती और ऐसी दशामें हमें संकल्पसे सफलता प्राप्त न होगी। जहां तक विचार किया जाता है स्पष्ट विदित होता है कि कोई किसीको हानि लाभ नहीं पहुंचा सकता, वरन् अपना ही हानि लाभ कर सकता है। जो दूसरोंको हानि पहुंचानेमें लगा हुआ है, वास्तवमें वह अपने मनको बिगाड़ रहा है। इसीका नाम "मलदोष" है, जिसके कारण मनुष्यको विवेचन शक्ति नितान्त मारी जाती है, और जो औरों को लाभ पहुंचाने की धुनमें मस्त है वह अपना लाभ कर रहा है। अर्थात् उसका मन शुद्ध होजाता है, प्रत्येक कार्य जो दूसरोंके उपकारके उद्देश्यसे किया जाताहै हमारे उपकार का कारण होता है। अर्थात् उससे हमारा मन शुद्ध होकरपरमात्माकी उपासनाके योग्य होजाता है जो मनुष्य दूसरोंको दुःख पहुंचा कर अपने सुखकी आशा रखते हैं उनसे बढ़कर कोई मूर्ख नहीं। क्योंकि दूसरोंको हानि पहुंचानेके विचारसे ही अपनेको हानि अर्थात् दुःख पहुंचनेका सामान पैदा होजाता है, और जब भोगके नियत और

अपरिवर्तित होने को ध्यान में रखते हुए जब ऐसे मनुष्यों की दया पर विचार किया जावे तो उनके मूर्ख होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता क्योंकि दूसरों को हानि पहुंचा कर अपना भोग तो बदल नहीं सकते केवल आगेके लिये अपने मार्ग में काँटे बोते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि औरोंको सुख पहुंचाने का ध्यान, जिसका नाम पुण्य और जिसका फल मनकी शुद्धि है प्रत्येक समय रक्खे और दूसरोंको हानि पहुंचानेके विचार से, जो कि पाप है और जिसका फल दुःख है सर्वदा घृणा करे। ॥ इति ॥

स्वामी दयानन्द और उन का उद्देश्य

प्रियवर पाठक! आप महाशयों ने श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का नाम तो अवश्य सुना होगा उन के निर्मित किये हुवे वेद भाष्य व अन्यान्य पुस्तकों को भी कदाचित् देख ने का अवसर मिला हो, यदि आप आर्य्य समाज के मेम्बर हैं तब तो आप को उनकी व्यवस्था से भली प्रकार अभिज्ञता होगी परन्तु इतने पर भी क्या आपने श्री स्वामी जी के मुख्य उद्देश्य या सदुपदेशों का प्रयोजन यथोचित् समझ लिया है मुझे जहाँ तक इस में २६ वर्ष सामाजिक आयु को व्यतीत कर तजरबे से मालूम हुआ है और उस में सफलता हुई है, मैं कह सक्ता हूँ कि मुझे अति न्यून संख्या ऐसे मनुष्यों की दृष्टि गोचर होती है जो उस महर्षि के मन्तव्यों को भली भाँति समझे हों बहुत से लोग स्वामी जी को भारत वर्ष का हितैषी मानते हैं कुछेक उन को हिंदू रिफार्मर ठहराते हैं अनेक महाशय उन को देशोद्धारक जानते हैं परन्तु मेरी सम्मति से एक महात्मा सन्यासी के विषय में ऐसा कहना मानो उसको उस के धर्म से पदच्युत कर देना है क्योंकि संयासी का धर्म सारे संसारका उपकार करना और प्रत्येक को समान दृष्टि से देखना है यदि स्वामी दयानन्द केवल भारत वर्ष के हितैषी थे तो अन्य देशों के वे अवश्य अशुभचिंतक होंगे जो सर्वथा मिथ्या है। यदि हिंदू जाति से प्रीति और अन्य से घृणा होगी परन्तु यह प्रत्यक्ष रूपसे अल्प बुद्धि जनों के मन्तव्य हो सकते हैं वास्तव में वह महर्षि एक सच्चा सन्यासी था और सारे संसार के प्राणी मात्र को सुख पहुंचाना उसका उद्देश्य था।

प्यारे मित्रो! यह आप को ज्ञात है कि आदि में सारे संसार में वैदिक धर्म

का प्रचार था परन्तु क्रमशः समय के हेरफेर ने इस वदिक धर्म को भिन्न २ टुकड़ों में विभाजित करदिया इसका प्रमाण यह है कि वैदिकधर्म का सर्वोत्तम नियम अर्थात् यज्ञ अग्निहोत्र जिसको हम प्रत्येक देश तथा धर्म की मूल पुस्तक पाते हैं पांच सहस्र वर्ष से प्रथम की कोई ऐसी सम्प्रदाय प्रतीत नहीं होती, अर्थात् यवन मत १३०० वर्ष से ईसाई मत १९०० वर्ष से यहूदी ३५०० वर्ष से पारसी मत ४५०० वर्ष से, इस से प्रथम वैदिक धर्म के अतिरिक्त कोई मत नहीं पाया जाता जिस से प्रत्यक्ष विदित है कि यह सारे मत वैदिक धर्म को बिगडने से उत्पन्न होगये इसके अतिरिक्त जिस समय चरक में * इस श्लोक को देखते हैं, ।

वाल्हीका पल्वाश्चीना शूलाकायवनाशकाः ।
माषगोधूम शास्त्रवैश्वानरोचिता ॥

अर्थात् महात्मा अग्नि ऋषि ने बलख, ईरान, चीन, अरब यूनान, और इस के पूर्वी विभागों में भ्रमण किया और वहां पर उन्होंने अंगूर उर्द और गेहूं के खाने वाले तथा शास्त्र के अनुकूल अग्नि होत्र करने हारे मनुष्य देखे तो इस से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म उस समय वर्त्तमान् था, और जब महाभारत युद्ध से योग्य विद्वानों के नष्ट होजाने से उस का प्रचार निर्बल होगया और अन्त में प्रचार के न रहने से और धनादि की अधिकता से, मनुष्यों में दुराचार फैलने लगा और राजा लोग निन्दित कर्मों में प्रवृत्त होगये ब्राह्मण जो उस समय जगत् गुरु कहलाते थे वैदिक धर्म के प्रचार के न होने तथा आलस्य से अपने कर्त्तव्यों से प्रथम ही पतित हो चुके थे वे भी राजाओं के सेवक होगये और हां में हां मिलाने लगे, उस समय जब लोगों ने राजाओं से कहा कि आप यह क्या अधर्म करते हैं ?

इसी प्रकार जब सारे देश में उनकी निन्दा होने लगी तब राजाओं ने अपने पुरोहित ब्राह्मणों से मिलकर इस निन्दा से बचने का उपाय किया और संसार में ऐसा मत चलाया जिस में सारे कुमार्ग बन गये; इस मत का नाम वाममार्ग

---

*यह श्लोक चरक में नहीं भूलसे चरक का नाम लिखागया प्रतीत होता है। इस ही लियेठीक शोधा नहीं जा सका

है, और 'वाम' का अर्थ 'उल्टा' अर्थात् उल्टा मार्ग फलगया जिस में अधर्म की बातों को धर्म्म बतलाया। अर्थात् ईश्वर के स्थान पर प्रकृति को माना या विषय सुख को धर्म्म बतलाना ये बातें प्रत्यक्ष रूप से वाम मार्ग का अर्थ उल्टा मार्ग बतला रहे हैं।

भ्रातृगण! इस वाममार्ग का मूल तैतरीयशाखा है क्योंकि उसके विषय में जो वृत्तान्त महीधर भाष्य में लिखा है उससे प्रत्यक्ष विदित होता है कि उसी समय से वाममार्ग चला अर्थात् एक समय व्यासजी के चेले वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से किसी बात पर रुष्ट होगये और उससे कहा कि मेरी पढ़ी हुई विद्या को छोड़दे, याज्ञवल्क्य ने उसी समय विद्या का वमन कर दिया, तब वैशम्पायन ने अपने और शिष्यों से कहा कि इसको खाओ, उन्होंने तीतर का रूप धारण कर उसको खालिया अतएव यह शाखा बनगई य वृत्तान्त महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में लिखा है। इस लेख से तैतरीय शाखा की उत्पत्ति ज्ञात होगई और याज्ञवल्क्य ऋषि के समय का पता लगगया।

पाठकवृन्द! यह गाथा वाममार्ग के प्रारम्भ की है अन्यथा वाममार्गियों में तो बड़ा सिद्ध वही कहलाता है जो वमन को भक्षण करले और इस गाथा में तीतर बनना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय वाममार्ग का विशेष प्रचार नहीं हुआ था और न इस प्रकार के सिद्ध उत्पन्न हुए थे--और जितने सूत्र आज दृष्टिगत होते हैं जिन में पशुयज्ञ और मांसादिक विधान है उन में अधिकतर तैतरीयशाखा. तैतरीयआरण्यक और तैतरीय ब्राह्मण के दिये जाते हैं जो वाममार्ग के समय में निर्मित हुये हैं और इन्हीं पुस्तकों में यज्ञ में पशुहिंसा बतलाई है अन्यथा पूर्वकाल में तो यज्ञ में हिंसा करना महापाप माना है जैसा ऋग्वेद के मन्त्र में लिखा है।

अग्ने यं यज्ञ मध्वरं विश्वतः परिभूरसि सइद्देवेषु गच्छति।

अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप अग्निनाम परमात्मन् तेरा जो हिंसा रहित यज्ञ सारे संसार में व्याप्त होरहा है वही यज्ञ इस स्थान से देवताओं को जाता है।

बहुत महाशयों को इस में शङ्का होगी परन्तु वेद में कम से कम सौ जगह पर यज्ञ को हिंसा रहित बतलाया है और इस मन्तव्य की पुष्टि में अनेक उदाहरण पाये जाते हैं अर्थात् जिस समय विश्वामित्र ने यज्ञ किया था उस समय राक्षस लोग उन के यज्ञ में मांस विष्टादि डाल कर उस को अपवित्र करते थे

यदि यज्ञ में हिंसा का निषेध न होता तो विश्वामित्र क्षत्री होने पर भी कभी राजा रामचन्द्रजी को सहायतार्थ न बुलाते क्योंकि यज्ञ में क्रोध करना पाप है और हिंसा विना क्रोध के हो नहीं सकती--इस में और भी प्रमाण है।

प्रियपाठक! इसका बहुत बड़ा सबूत यह है कि पारसियों को जब अग्नि होत्रका उपदेश हुआ था अर्थात् जिस समय व्यास व जरदुश्त का वार्तालाप हुआ और व्यासजी ने अग्निहोत्र का उपदेश किया उस समय तो केवल सुगंधित, बलवर्धक और आरोग्य रखने वाले पदार्थों का हवन होता था जैसा कि पारसियों के रिवाज से प्रकट होता है परन्तु वाम मार्ग फैल जाने के पश्चात् जो आर्य्यावर्त्त से अन्य देशों में शिक्षा पहुंची वहां यज्ञ के स्थान में पशु वध का प्रचार हो गया-जिस समय इस प्रकार चारों ओर वेदों के अर्थोंका अनर्थ करके वेद के नाम से बहुत सी वाममार्गीय पुस्तकें और सूत्र बनाये तो सारे संसारमें वेदों की निंदा होने लगी जैसा कि चारवाक ने लिखा है।

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भांडधूर्तनिशाचराः॥

अर्थात् तीनों वेदों के बनाने वाले भांड़ धूर्त और राक्षस हैं। जब इस तरह से वेदों की निन्दा होती थी तो एक राजा की लड़की जिस को वैदिकधर्म में अति प्रीति थी शोक से यह कह रही थी।

किंकरोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति॥

अर्थात् क्या करूं कहां जाऊं कौन वेदों का उद्धार करेगा उसकी इस बात को सुनकर कुमारिलभट्टाचार्य्य को इस बात का विचार उत्पन्न हुआ और उत्तर दिया:—

माखदीहि वरारोहे भट्टाचार्योस्ति भूतले॥

अर्थात् ऐ धर्मानुरागणी! कुछ चिन्ता मत कर वेदों के उद्धार के लिये भट्टाचार्य मौजूद हैं। और कुमारिलभट्टाचार्य ने मीमांसा वार्तिक बनाकर यज्ञों का नियम ठीक करने का प्रयत्न किया परन्तु वह पूरे तौर से कृत कार्य न हुये॥

जब इस प्रकार वाम मार्ग के अधिक प्रचारने देश में दुराचार फैला रक्खा था इसी समय कपिल वस्तु के राजा साक्षी सिंह गौतम को उसके दूर करने के

हेतु बहुत भारी विचार पैदा हुआ, उन्हों ने राज्य को छोड़ तप करना आरम्भ किया जब अच्छी तरह ज्ञान हो गया तो उन्होंने हिंसक यज्ञों का खन्डन करना प्रारम्भ किया और उस समय जब वाममार्गी ब्राह्मण सब जातियों को सेवक बनाकर अधर्म्म में चला रहे थे उनके वर्णाश्रमका भी खंडन आरम्भ किया, बुद्ध की शिक्षा अधिकतर वैदिक धर्मानुकूल थी परन्तु उस समय जो वाम मार्ग के अनर्थों से झूंठा वैदिक धर्म्म प्रचलित होरहा था उससे बिलकुल विरुद्ध थी, उस समय वाममार्गी ब्राह्मणों ने बौद्धमत के शास्त्रार्थ में वेदों के प्रमाण अर्थात् उसी वाममार्गी तैत्तरीय शाखा के प्रमाण देने आरम्भ किये महात्मा बुद्ध देव औं कि संस्कृत के बड़े विद्वान् तो थे ही नहीं इस कारण स्वयं तो वेदार्थ विचार न सकते थे दूसरे उस समय में वेदों के अनुकूल पुस्तकें भी कम प्राप्त होती थी जिससे उनको भली भांति शिक्षा होती जब उन्हों ने देखा कि वेदों के जमघटे को साथ लेकर वाममार्ग को दूर नहीं कर सकते और न संसार का उपकार कर सकते हैं तो उसका उपाय उनको यही सूझा कि वेदको मानना छोड़ दें और जहां तक हो सका इन हिंसा करने वाले यज्ञों को बन्द करने के वास्ते अनेक प्रचार और उनकी जड़ वेदों के प्रचार को न्यून करने का प्रयत्न किया अतएव उन्होंने शूद्रों से कार्य आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में सारे भारतवर्ष में हलचल मचगया जब विरोधियों ने देखा कि गौतम वेदों को नहीं मानता तो उन्होंने उससे कहा कि वेद ईश्वर कृत है।

बुद्ध देव ने उत्तर दिया कि हम ऐसे ईश्वर को भी नहीं मानते जिस से ऐसी पुस्तकें बनाई हों जिनमें हिंसा करने का उपदेश हो अस्तु इस प्रकार महात्मा बुद्धदेव धर्म्म के एक हिस्से को अपने मन्तव्यानुसार विषयुक्त समझकर उससे पृथक हो गये और शेष भाग का प्रचार करने लगे जब इस प्रकार से ज्ञान का मुख्यभाग अर्थात् जीव, प्रकृति, ईश्वर इन तीन में से ईश्वर निकल गया और शेष दो तिहाई धर्म्म अर्थात् जीव और प्रकृति का प्रचार होता रहा।

प्यारे मित्रो! इस त्रुटि को पूरा करने के वास्ते स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ब्रह्म की सिद्धि के लिये कटिबद्ध हुये और सारे देश में भ्रमण कर बौद्ध मत का खण्डन किया, और जहां तक हो सका अपना कुल समय ब्रह्म सिद्धि में व्यय किया, क्योंकि उस समय तक मनुष्यों में प्रकृति और जीव को छोड़कर दूसरे किसी स्थान में ब्रह्म दिखलाना कठिन था इस लिये उन्होंने प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म दिखलाना शुरू किया और छ पदार्थ अनादि बतलाकर पाँच

को सान्त बतलाया अभी महात्मा शंकराचार्य को अपना पूरा सिद्धान्त दिख-लानेका अवसर मिलाही नहीं था देशके दुर्भाग्यसे वह भारतका भानु इस असार संसार से चलता हुआ परन्तु जितना काम इस महात्मा ने किया उससे मालूम होता है कि यदि इस ऋषि को दस वर्ष तक अधिक जीवित रहने का अवसर मिलता तो यह भारत का उद्धार कर देते और वैदिक धर्म को जो महाभारत के बाद हानि पहुंची थी उसकी पूर्ति हो जाती परन्तु तो भी २२ वर्ष की अवस्था से ३२ वर्ष की अवस्था तक इस ब्रह्म प्रचारक ने संसार में सामान्यतया और आर्यवर्त्त में विशेषतया ब्रह्म को फैला दिया।

भ्रातृ वर्गो! महात्मा शङ्कराचार्य के पश्चात् उन के चेले यद्यपि बड़े बड़े पण्डित हुए जिन्हों ने अद्वैत वाद के सिद्ध करने के लिये सहस्रों नये प्रमाण घढ़े और सैकड़ों पुस्तकें लिख डाली परन्तु वह वैदिक धर्म्म को उस मूल तत्व से बहुत दूर लेगए अर्थात् उन्होंने प्रकृति और जीव की अस्तित्व से बिलकुल इंकार कर दिया और षट् अनादि मान कर पांच को अन्तवाला बतलाने के मन्तव्य को बिलकुल न समझा, महात्मा शङ्कराचार्य का तो यह सिद्धान्त था कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह अनित्य है और जो उत्पत्ति से रहित है वह नित्य है।

अतएव यह छः पदार्थ अनादि अर्थात् उत्पत्ति शून्य हैं और नित्य हैं परन्तु ब्रह्म तो सर्वव्यापक है अर्थात् वह अनन्त है और शेष पाँच पदार्थ जीव, ईश्वर, माया, अविद्या और इनका सम्बन्ध यह पांचों सीमा बद्ध हैं यहांपर जीव के अर्थ बद्ध जीव के हैं और ईश्वर मुक्त जीवको कहते हैं अविद्या जीवका गुण है माया प्रकृति का नाम है। हमारे कुछेक मित्र यह कहेंगे कि तुमने यह बात मन गढ़न्त कही है परन्तु जहां जीव का लक्षण किया है वहां अविद्या से युक्त चेतन को जीव माना है अविद्या के दो अर्थ हो सकते हैं एक तो ज्ञान का अभाव दूसरे विपरीत ज्ञान अगर अविद्या के अर्थ ज्ञान के अभाव के मानें तो ठीक नहीं क्यों कि चेतन ज्ञान वाले को कहते हैं और जिसमें ज्ञान का अभाव है वह चेतन ही नहीं कहला सकता इस हेतु से अविद्या के अर्थ विपरीत ज्ञान के लिये जाते हैं यहां उलटा ज्ञान बन्धन अर्थात् दुःखोत्पत्ति का कारण है और इसी के नाश से मुक्ति होती है जब मिथ्या ज्ञान का नाश होगया तो उसमें अल्पज्ञता जो जीव का स्वाभाविक गुण है मौजूद है परन्तु मिथ्या ज्ञान बिलकुल अलग हो गया अब यह बन्धन से खाली है इसी को शुद्ध सत्व प्रधान उपाधि सहित अर्थात् ईश्वर कहते हैं।

क्यों कि आदि और अन्त दो प्रकार से होते हैं एक तो देश योग से दूसरा काल योग से, जो वस्तु काल योग से आदि वाली है वह काल योग से अन्त वाली होगी क्यों कि एक किनारे की नदी कहीं होती ही नहीं जिसका आदि है उस का अन्त अवश्य है और जो वस्तु देश योग से अनादि है वह देश योग से अनन्त भी होगी परन्तु यह नहीं हो सकता कि जो वस्तु काल योग से अनादि है वह देश योग से भी अनन्त हो क्यों कि परमाणु काल योग से अनादि है परन्तु देश योग से सान्त है यहां महात्मा शङ्कराचार्य का यह प्रयोजन था कि काल योग से छः वस्तुयें अनादि और अनन्त हैं परन्तु देश योग से पाँच वस्तुयें अनादि और अन्त वाली हैं केवल एक ब्रह्म ही अनन्त है। महात्मा शङ्कराचार्य के प्रयोजन को न समझ कर लोगों ने ऐसे झगड़े उत्पन्न किये कि महात्मा शङ्कर का जो सिद्धांत वैदिक धर्म की उस कमी को पूरा करने का था जो महात्मा बुद्ध ने संस्कृत न जानने और पण्डितों के वाममार्गी होने के कारण अयुक्त समझ काट दिया था परन्तु दुर्भाग्यवश शङ्कराचार्य के चेलों ने बिना समझे या किसी अपने प्रयोजन से वैदिक धर्म के उस हिस्से को जिसको बुद्ध ने स्थिर रक्खा था बिलकुल उड़ा दिया केवल वह भाग जिसको शङ्कराचार्य बुद्ध मत में मिलाकर उसकी त्रुटि को पूरा करना चाहते थे उसी को रख लिया अर्थात् जीव, प्रकृति जिसको बौद्ध मत वाले मानते थे शङ्कराचार्य इसमें ब्रह्म को मिलाकर इसको पूरा वैदिक धर्म बनाना चाहते थे परन्तु उनके चेलों ने प्रकृति और जीव को उड़ाकर केवल ब्रह्म अर्थात् एक तिहाई वैदिक धर्म का प्रचार शुरू किया और शेष पर विशेष ध्यान न दिया अब वैदिक धर्म के दो भाग होगये एक बौद्ध मत दूसरा अद्वैत-वाद दो तिहाई भाग तो बौद्ध मत ने ले लिया और एक भाग शंकराचार्य के चेलों अर्थात् अद्वैतवादियों ने ले लिया परन्तु यह तिहाई भाग विशेषतः प्रकाशक और हितकारी था इस वास्ते यह प्रबल पड़ा और पृथ्वी के प्रत्येक विभाग में फैल गया। ॥ इति ॥

॥ स्वामी दयानन्द का उपदेश ॥

आज कल जितने मत मतान्तर आप संसार में देखते हैं, वह लग भग सब ही इस वेद मत से निकले हुए हैं और जो बड़े २ सम्प्रदाय आज दीखते हैं वे तो केवल शंकर और बुद्ध के टुकड़ों से उत्पन्न हुए हैं। ईसाई मत तो बौद्ध

धर्म से निकला हुआ है और इसलाम शँकर का शिष्य हैं। आप प्रश्न करगे कि कि ईसाई मत बौद्ध धर्म से कैसे निकला ? इसका प्रमाण यह है कि ईसाई मत की शिक्षा में बहुत सा भाग बौद्ध धर्म का दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार कि पिता और पुत्रके रूपको देखकर तथा पिता को पुत्र से पहिले जानकर प्रत्येक मनुष्य अनुमान कर लेता है कि वह इसका पुत्र है इसी प्रकार ईसाई मत और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का मुकाबला तथा इन देशों में बौद्ध धर्म को ईसाई मत के पूर्व पाये जाने से स्पष्ट प्रकट होताहै। और कल आज तो बहुतसे विद्वान् इस बात को मान रहे हैं कि ईसाई मत की शिक्षायें बौद्ध धर्म से ही ली गई हैं। गिरनार से जो लेख खुदे हुए मिले हैं उन से विदित होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी सम्राट अशोक ने अपने उपदेशकों को सिरया में भेजा था और यूनानी महाराजों से सम्बन्ध बनाया था। इस के अतिरिक्त प्रोफेसर महाजी मानते हैं कि बौद्ध धर्म ईसाई मत का कारण था और प्रोफेसर विन्मन, सिविल और लिली तो स्पष्टतया बौद्ध धर्म से निकाला हुआ ही ईसाई मत को मानते हैं। फिर बोद्ध धर्म में " तसलीस " त्रयवाद है और ईसाई धर्म मे भी यह है। सारांश यह है कि हमारी बात पुष्ट करने वाले बहुत से प्रमाण मिलते हैं।

दूसरा इसलाम शंकर के मत से निकला हुआ दिखाई देता है जिस से कि स्पष्ट प्रकट होता है कि इसी के समय में यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रचार हो चुका था परन्तु शंकर की शिक्षा बहुत समय के पीछे इन देशों में गई परन्तु मुहम्मद साहब के पूर्व शंकर के सिद्धान्त पश्चिम में फैल चुके थे। इसलाम का कलमा स्पष्ट रूप से बताता है कि शंकराचार्य की शिक्षा से लिया गया। अर्थात् ' ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मद्रसूलिल्लाह' इस में पूर्व खण्ड तो स्पष्ट रूप से इस श्रुति का अनुवाद है:-

" सर्वं खल्विदंब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥"

अर्थात् एक ही ईश्वर है दूसरा कोई नहीं, हाँ उत्तर खण्ड अवश्य आवश्यकता के कारण मिलाया गया है। यदि वे गूढ़ दृष्टि से देखें तो उन्हें विदित होजायगा कि जो मनुष्य एक ही ईश्वर से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वह सब शङ्कर के शिष्य हैं ॥

प्रिय पाठकगण ! जब इस प्रकार एक वैदिक धर्म के दो भाग होगये तो इन भागों से भी सहस्त्रों शाखायें फूट निकलीं। जिस प्रकार एक नारंगी को देख कर कहा जाय कि यह एक है, परन्तु जिस समय उसका छिलका उतारते

है तो उसकी बहुत सी फांकें पृथक् २ हो जाती हैं और जब इन फांकों को देखा जावे तो और पृथक २ दिखाई देता है, इसी प्रकार एक वैदिक धर्म के खण्ड होते चले गये और जितने आचार्य हुए सब ने प्रयत्न किया कि सम्पूर्ण संसार किसी प्रकार सत्य धर्म पर आजावे, परन्तु सबों ने दीपकों का प्रकाश दिखाया, कहीं लैम्प और विद्युत प्रकाश का भी प्रबंध हुआ और कोई चंद्रमा तक पहुंच गया परन्तु इन मनुष्य कृत प्रकाशों से मनुष्य जाति में द्वेष बढ़ता चला गया। मनुष्य मात्र एक होजाते इसके पलटे पृथक् होते चले गये।

प्रिय पाठकगण! यह तो आप जानते ही हैं कि जिस समय संसार में सूर्य का प्रकाश होता है उस समय प्रत्येक मनुष्य को अपने घर में प्रकाश दीखता है और वह बाहर भी प्रकाश ही प्रकाश देखता है। केवल यह विचार तो उसे होता है कि जिन के चक्षु दूषित होगये हैं, अथवा जिसने किवाड़ों पर आवरण कर लिया हो उसके लिये तो प्रकाश नहीं अन्यथा समस्त संसार को प्रकाश है परन्तु जिस समय सूर्य के प्रकाश के बदले सहस्रों दीपक भांति २ के प्रकाशित हो जाते हैं उस समय जो जिस दीपक के प्रकाश के बदले अपने गृह में बैठता है अथवा जिस दीपक को अपने पास पाता है उसको तो प्रकाशित समझता है और शेष समस्त संसार को अन्धकार मय। यही दशा मनुष्य के मतों की है। वह अपने मत को सत्य और दूसरों के को बुरा समझते हैं परन्तु ईश्वरीय धर्म में यह बात नहीं, वह प्रत्येक को उत्तम समझते हैं, वह केवल उनको बुरा समझते हैं जिनके कि कर्म दूषित हैं अथवा जिनकी बुद्धि पर ज्ञान का आवरण पड़ा हो।

प्रिय पाठक गण! जब सूर्यास्त हो जाता है उस समय संसार की यह दशा होजाती है कि एक ओर तो सिंह अपने भिटों से निकल कर प्राणियों को दुःख पहुंचाते हैं, दूसरी ओर अन्य रुधिरामिष भोगी भयङ्कर पशु का घूमना आरम्भ कर देते हैं। इधर चोर और डाँकू भी अपनी पूर्ण शक्ति से कार्यारम्भ कर देते हैं, जिधर देखो उधर संसारी जीवों को दुःखद शक्ति आ एकत्रित होती हैं। दीपकों का प्रकाश सहस्रों और लक्षों की संख्या में होने पर भी उनकी बुराइयों को दूर नहीं कर सकता। यही दशा आध्यात्मिक सृष्टि की है। जिस समय ईश्वरीय विद्या की शिक्षा बन्द हो जाती है उस समय प्रथम तो प्रत्येक में स्वार्थ दम्भ और कीर्ति आदिक दोष आजाते हैं इसके पश्चात् अनृत

धोखा, हत्या (कतल आम) और मुकद्दमा बाज़ी अधार्मिकता और विश्वासघातक अत्याचारी रुधिर के प्यासे वैरी संसार में आ उपस्थित होते हैं, और संसार के मनुष्यों को उनके उद्देश्य के मार्गसे हटाकर नाना प्रकार के दुखों में डाल देते हैं।

प्रियपाठक गण! जिस समय स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ था यथार्थ में उस समय यही दशा हो रही थी वैदिक धर्म के अन्त हो जाने से एक ओर तो कुरानियों के दीपक जल रहे थे वह अपने धर्म को ही समस्त संसार में उत्तम बतारहे थे। दूसरी ओर ईसाई मतका विद्युत प्रकाश संसार भरमें उत्तम होने का दावा रखता था, तीसरी ओर बौद्ध धर्म्म का दीपक भी पूर्ण उन्नति अवस्था में अपने को सर्वोत्तम सिद्ध कर रहा था। चौथी ओर भारत के सम्प्रदाय धर्म्म "शाक्तिक, वैष्णव, गाणपत्य और सौर्य्य आदिक" अपने ही टिम टिमाते हुए दीपकों को सारे संसार में सब से अधिक प्रकाशित समझते थे। पांचवीं ओर सहस्रों प्रकार के भेषधारी "गोस्वामी, वैरागी, दादूपन्थी, निर्मले रामस्नेही और कबीर पन्थी आदिक" अपने धर्म्म को सर्व श्रेष्ठ बता रहे थे।

प्रिय पाठकगण! ये समस्त मत एक दूसरे के विरोध पर कटिबद्ध थे अपने मतको उत्तम और दूसरों को बुरा बता रहे थे। जब मुसलमान अपने धर्म को अच्छा कहते थे तो दूसरी ओर से दिखाया जाता था कि तुम्हारे धर्म में अत्याचार के अतिरिक्त और कोई उत्तमता ही नहीं दिखाई देती। यही दशा ईसाइयों की तसलीम के आक्षेपों की होरही थी। हिन्दू बिचारे बहुत ही पतित अवस्था में थे ये अपने धर्म्म कर्म से नितान्त अनभिज्ञ थे। छोटे २ पादरी और मौलवी जब बड़े बड़े हिन्दू पण्डितों से शास्त्रार्थ करने को उद्यत होते थे तो दीन हिन्दू पण्डित घबराते फिरते थे। उन को म्लेच्छ के नाम से पुकारते और शास्त्रार्थ से घबराते थे। यद्यपि हिन्दू धर्म्म सब से अधिक युक्ति संगत तथा इस के शास्त्र सब से अधिक पूर्णता को प्राप्त थे, परन्तु साम्प्रदायिक दोषों के मेल ने हिन्दुओं को अपने वास्तविक धर्म्म से बहुत दूर गिरा दिया था। अतः हिन्दू धर्म का सोना साम्प्रदायिक खोट की मिलावट के कारण बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरने योग्य न था। इस समय आवश्यकता थी कि एक पूर्ण विद्वान् आये और सत्य धर्म का पता बताये।

प्रिय पाठकगण! ऐसे भयंकर रोग के लिये जब कि शरीर के अवयव पृथक् २ हो जाय और बहुत से रोग एकत्रित होकर शरीर को नाश करना चाहें

कितनी विद्वत्ता तथा परिश्रम की आवश्यकता है। इस को तो आप भली भांति समझ गये होंगे कि स्वामी दयानन्द के आने के पूर्व यही दशा वैदिक धर्म की हो रही थी। स्वामी दयानन्द ने संसार में आते ही इस रोग के निदानार्थ इस की नाड़ो को देखा और जाना कि अंधकार ने इसे बहुत ही दुखी कर रक्खा है और जहां कहीं दीपकों का प्रकाश है उसने और भी अवयवों को पृथक् २ कर दिया है। इस योग्य वैद्य ने इसके रोग का कारण जान कर औषधि बनाई और विचार किया कि यावत् इसको पूर्णतया प्रकाश न मिलेगा तावत इन रोगों की चिकित्सा असम्भव है और जब तक कि यह पृथक् २ दीपक बुझकर एक ही प्रकाश पर सब काम न करने लगें उस समय तक उचित चिकित्सा नहीं हो सकती और दीपकों में कोई भी इस योग्य नहीं कि जो समस्त संसार को प्रकाशित कर सके। दूसरे दीपक का प्रकाश कभी भी वायुसे निर्भय नहीं हो सकता इस लिये मनुष्य इस प्रकाश के आधार पर बैठ तो सकते हैं परन्तु अपने उद्देश्य को नहीं प्राप्त हो सकते। अतः इन दीपकों में कोई भी इस योग्य नहीं जिस से कि काम निकल सके। अब उस ने विचार करना आरम्भ किया कि इन दीपकों में पहिले कौनसा प्रकाश था जिस की किरणों से यह दीपक जलते हैं। उस ने सोचा कि नानक साहब दादूजी और कबीरदास के दीपक तो ४०० वर्ष पूर्व न थे और वल्लभ आदि को लगभग इतना ही समय हुआ। रामानुज और चैतन्य आदि सभी आठ सौ वर्ष पूर्व न थे मुहम्मद साहेब का इस्लाम और कुरान १३ सौ वर्ष से पूर्व समय में नहीं था। ईसा शंकराचार्य बुद्ध और जैन आदि ढाई सहस्र वर्ष से पूर्व नहीं सिद्ध होते। चार्वाक आदिक ३ सहस्र वर्ष तक पहुंचते हैं। मंजूसियों की जबूर और तौरेत भी ३४ सौ वर्ष से पूर्व विद्यमान न थे पारसियों की पुस्तक ज़िंदावस्था भी ४५ सौ वर्ष तक का प्रमाण देती है। वाम मार्गियों के मत का पता ४८ सौ वर्ष तक मिलता है। अब इस के आगे किसी मत के लैम्प का पता नहीं चलता। दूसरे यह भी विदित किया कि संसार की प्रत्येक जाति न्यून से न्यून सात सहस्र वर्ष से सृष्टि की उत्पत्ति मानती हैं और उनकी इलहामी किताबें (ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तकें) ४५ सौ वर्ष से आगे नहीं जाती तो क्या ईश्वरने १५ सौ वर्ष तक मनुष्योंको अपने आदेशसे अज्ञानमें रख कर दुःख दिया होगा ? सम्भव नहीं प्रतीत होता कि सर्व शक्तिमान् और सर्वज्ञ होते हुए भी ईश्वर इस प्रकार संसार के राजाकी भांति पहिले तो [सृष्टि को] अन्धकारमें रक्खे और फिर अपूर्ण नियम भेजता रहे और सर्वदा प्रकाश दिख-

लाता रहे। ईश्वर के रचित संसार से उसके ज्ञानका पूर्ण होना प्रकट होता है परमेश्वरने मनुष्यकी आंखोंके लिये सूर्य बनायाहै उस को आज पर्यन्त बदलनेकी आवश्यकता नहीं हुई और न सृष्टि के अन्त तक है और कानों की सहायताके लिये आकाश बनाया है उसे भी बदलनेकी आवश्यकता नहीं इसी प्रकार जिन इन्द्रियोंकी सहाय अर्थ जो पदार्थ बनाये उनमेंसे किसी को भी बदलनेकी आवश्यकता नहीं हुई। फिर कैसे सम्भव होसकता है कि मनुष्यके सर्वोत्तम पदार्थ और आन्तरिक एवं सूक्ष्म वस्तुओंके जानने योग्य साधन अर्थात् बुद्धि के सहायतार्थ जो अपनी विद्याका सूर्य उसने दियाहो उसको बारम्बार बदलनेकी आवश्यकता पड़े। सुतराम ज्ञात हुआ कि संसारमें जो प्रकाश उत्पन्न हुआ है वह सब मनुष्य कृत है और जो सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ है; जिसकी उत्पत्तिका समय मनुष्य की बुद्धि से बाहर है, ईश्वरीय प्रकाश है।

प्रिय पाठक गण! उसके साथ ही जब उस महात्माने यह विचार किया कि इन में से कौन ऐसा प्रकाश है जिसको वायुसे भय नहीं। जहां तक उसने खोज को जाना कि अपूर्ण दीपक तो वायुसे घबड़ाते हैं अर्थात् तर्क द्वारा अपने लिये सिद्ध नहीं कर सकते। प्रत्येक मत जो मनुष्य कृत था, यह कहता हुआ दिखाई दिया कि मजहब धर्ममें अकल [बुद्धि] को दखल (प्रवेश) नहीं। इसके पीछे उसने तर्क शास्त्रका खोज आरम्भ किया जहां पर वैशेषिक शास्त्र के बनाने में महर्षि कहते हुए दीख पड़े:—

बुद्धि पूर्वा वाक्यकृति वेंदे।

अर्थात वेदमें जो कुछ लिखा हुआ है वह बुद्धिपूर्वक है। अर्थात् वेदकी किसी बातको तर्क का भय नहीं, क्योंकि वे सर्वज्ञसे उत्पन्न हुए हैं।

प्रिय पाठक गण! जब महर्षिने वेदकी प्रशंसा तर्क शास्त्रमें देखी और वेदोंमें भी गायत्री मन्त्र के अर्थोंको विचारा तो स्पष्ट विदित हुआ कि बुद्धि के बढाने का साधन केवल वेद ही है। अब विचार हुआ कि और लोग तो धर्ममें बुद्धि को काममें लानेसे रोकते हैं और गौतम धर्म्म में बुद्धिको बढाकर काम लेने की आज्ञा देते हैं। इस लिये वेद अवश्य ज्ञान पूर्ण है साथ ही यह भी पता चला कि इस समय जो वेदके मानने वाले हैं इस अज्ञान और मूर्खता में पढे हुए हैं इसका क्या कारण है। जब देखा कि मनुष्य जिस कामको वेदानुकूल मान कर उसके करने में जिन मन्त्रों के अर्थ से अनभिज्ञ है और वैसे ही

बिना जाने पूछे अपने भ्रम वश मन माने वेद मन्त्र उच्चारण करते हैं। जैसे कि शनैश्चर की पूजा शन्नो देवीति इस मन्त्रसे की जाती है। इससे प्रकट होगया कि मनुष्य तनिक भी वेदादि नहीं जानते और विवाह पद्धति आदि सब ही बिना अर्थ जाने रीति की भांति भुगताई जाती है। संध्यादि नित्यकर्मों के अर्थों से तो ये लोग नितान्त अनभिज्ञ थे सारांश यह कि इस प्रकार अविद्या का कारण वेदार्थ का अज्ञान ही समझ में आया फिर विचार हुआ कि क्या इतने पण्डित भारत वर्ष में हैं यह—वेदार्थ के जानने वाले नहीं जब पण्डितों से मिलकर देखा तो और भी आश्चर्य हुआ कि मनुष्य वेदों के अर्थसे बहुत दूर जापड़े हैं और अपने अज्ञान वश नवीन ग्रन्थों को वेद समझने लग गये हैं बहुधा मनुष्य तो उन श्रौतसूत्रोंको जो वाम मार्ग के समय में बने वेद बता रहे थे यह नहीं देखते थे कि इन सूत्रों में स्थानान्तर पर तैत्तरीय शाखा के प्रमाण हैं और तैत्तरीय शाखा याज्ञवल्क्य के पीछे आती है और याज्ञवल्क्य जी व्यासजी के पीछे जन्मे। मानो तैत्तरीय शाखा इसी कलियुग की बनी हुई है। और ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तरीय 'आरण्यक और तैत्तरीय प्राति शाख्य आदि तो इस से भी पीछे बने हैं। वह सूत्र जिन में इनके प्रमाण हैं इनके भी बहुत समय उपरान्त बने सारांश यह कि यह श्रौतसूत्र आदिक ३ सहस्र वर्ष से पूर्व के नहीं ठहरते। कतिपय मनुष्य उपनिषदों को वेद कहते हैं परन्तु वह भी सत्य नहीं, क्योंकि उपनिषदों में याज्ञवल्क्य तैत्तरीय श्वेतकेतु, जाबालि और यम आदिक ऋषियों के शास्त्रार्थ लिखे हैं जिनसे पाया जाता है कि यह शास्त्रार्थ इन महात्माओं के पीछे लिखे गये और वेद सृष्टिके आदि में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा पर प्रकट हुये थे अतः जो पुस्तक सृष्टि के मध्यमें बनी वेद नहीं कहला सकती।

कतिपय मनुष्य ब्राह्मण ग्रंथों को वेद कहते हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में भी इतिहास भरा हुआ है दूसरे वे वेदों के मंत्रों से प्रतीक को लेकर व्याख्या करते हैं अतः वह वेद नहीं वरन् वेदों का व्याख्यान है।

जब स्वामी दयानन्द ने देखा कि बहुत से पुस्तक आज कल वेद के नाम से बना लिये गये हैं, तो उन्हों ने बहुत परिश्रम से अन्वेषण किया और अन्त में पता चला कि चार वेद संहिता अनादि हैं। अब एक बात और प्रकट हुई बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि आदि में वेद एक था परन्तु व्यास जी ने इन को चार में विभाजित किया। अब इसमें यह खोज हुई कि इसका कारण क्या

है, क्यों कि प्रथम तो स्वयं वेद में चारों वेदों का पृथक् २ होना वर्णन है। दूसरे ब्राह्मण ग्रंथों में भी चारों वेद भिन्न २ ऋषियों पर उतरे माने गये हैं। और मनु आदि भी चारों वेदों का होना मानते हैं, यह एक वेद का होना कहां से लियागया। जब टटोल की गई तो उस का कारण भी महीधर भाष्य की भूमिका में से एक गाथा जान पड़ी और वह इस प्रकार कि व्यासजी ने मनुष्यों की निर्बल बुद्धि देखकर चारों वेद बांट कर वैशम्पायन आदि अपने शिष्यों को पढ़ाये,जब इसकी भी खोज की तो प्रकट हुआ कि आजकल जो ऋग्वेदी,यजुर्वेदी सामवेदी और अथर्व वेदी ब्राह्मणों की संज्ञा हैं इसी में वेदों का विभाजित होना महीधर का तात्पर्य्य है:— ॥ इति ॥

मनुष्य और पशुओं का आत्मा एक है अथवा नहीं ?

कतिपय मनुष्यों को यह संदेह हो रहा है कि मनुष्यों और पशु में एक ही प्रकार का आत्मा है अथवा भिन्न २ प्रकार का ? जिस का आशय यही है कि मनुष्यों का आत्मा ही पशु के देह में प्रवेश करता है अथवा इस से भिन्न किसी दूसरे प्रकार का है। इस संदेह को निवृत्त करने के लिये मनुष्य के देह और आत्मा का संबंध भी जान लेना उचित है हम पिछले टे्क्ट में सिद्ध कर चुके हैं कि देह और आत्मा का संबंध मकान और मालिक का है, और मकान दो प्रकार के होते हैं, एक तो वह जिसमें जीव स्वतंत्र रहता है, जैसे, घर, और दूसरे कारागार आदिक, जिनमें जीव स्वतंत्र नहीं होता। मनुष्य का आकार दोनों स्थानों में एक सा होता है, जिस से प्रकट होता है कि कारागार और घर में रहने वाले मनुष्य एक से ही है केवल शक्तियों में अन्तर पड़ जाता है, जैसे जो मनुष्य घर मेंरहता है वह अपनी स्वतंत्रता के कारण अपने हानि लाभ का स्वामी रहता है यदि व्यय अधिक करता और कमाता थोड़ा है तो वह ऋणी होजाता है परन्तु कारागार में स्वतंत्रता मिलने के कारण हानि, लाभ पर उसका कोई वश नहीं। यदि कमाता थोड़ा और खाता अधिक है तो वह ऋणी नहीं होता, कारागार में उसके हाथों में हथकड़ी, पावों में वेड़ी डाल कर और घर से बाहर न जाने की आज्ञा देकर उसके स्वातंत्र्य को रोका गया है, और घर में उसकी स्वतंत्रता है। इस के अतिरिक्त बंदी और स्वतंत्र मनुष्य में कोई भेद नहीं। अब यह भेद जब मनुष्यों में भी दीखता है, कि कोई सेवक है, कोई राजा, कोई शासक है और कोई शासित, राजा पालकी में विराजमान

और सेवक उस पाल को कंधों पर उठाये हुए हैं, तो जिस प्रकार इस भेद के होते हुए भी राजा और सेवक दोनों के मनुष्य होने में संशय नहीं होता और नाहीं एक बंदी और एक स्वतंत्र व्यक्ति मनुष्य जाति से पृथक् कर सकते हैं और जो दशा कि संसार में बंदी और स्वतंत्र मनुष्य की है वही दशा ईश्वरीय सृष्टि में कर्तव्य और भोग योनि की है। कर्तव्य का अर्थ आगे के लिये बोना है, जो आगामी में पक कर भोगतव्य होजाता है और भोगतव्य का अर्थ बोने की जगह अर्थात् आगामी के लिये प्रबंन्ध करने के स्थान में केवल वर्तमान भोग के लिये परिश्रम करता है।

जिस प्रकार खाना और बोना दोनों कर्म हैं, दोनों के लिये परिश्रम कीआवश्यकता है परन्तु फल दोनों का भिन्न है। अब एक ही मनुष्य दोनों प्रकार के कर्म करसकता है। ऐसे मनुष्य भी हैं जो दूसरों का उपकार करना ही अपना जीवनोद्देश्य समझते हैं ऐसे मनुष्य भी हैं जो अपना पेट पालना ही चाहते हैं, ऐसे भी हैं जो अपना और दूसरों का ही भला करना चाहते हैं, और ऐसे भी हैं जिन्हें दूसरों को हानि पहुंचाना ही भला लगता है मानों मनुष्य अच्छा बोने वाले और खाने वाले और बुरा बोने वाले मिलते हैं।

जिस से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि करना और भोगना दोनों मनुष्य योनि में हो सकते हैं परन्तु पशु इस से भिन्न हैं, वह भोगते ही हैं अर्थात् खाना जानते हैं बोना नहीं जानते। जिसका यह स्पष्ट अर्थ है कि वह भोगतव्य योनि है। जो मनुष्य बोता है वह अपने नाज को पृथ्वी में डाल देता है, यदि वह पृथ्वी पर पड़ा रहे तो पूर्णतया नहीं फलता, इस लिये उसे मिट्टी के नीचे दबा देते हैं तब वह फलता है और जो मनुष्य भोगता है वह अपने पेट में डाल लेता है या देह पर पहिन लेता है। तात्पर्य यह कि भोग अपने ही लिये किया जाता है और जो मनुष्य दूसरों की भलाई, बुराई करता है वह मानों बो रहा है। यदि वह भलाई को प्रकट करता है तो उसकी भलाई कीर्तिका कारण तो हो जाती है परन्तु उससे आत्मिक शान्ति का फल नहीं मिलता और जो मनुष्य बुराई को प्रकट करता है तो उससे उसकी अपकीर्त्ति तो अवश्य होती है परन्तु इससे बुरे संस्कार कम पडते हैं क्योंकि लोगों में अनादर और अपशब्दादि उसकी उन्नति में बाधा डालते हैं इसी लिये भारत वर्ष में यह प्राचीन लोकोक्ति थी कि "नेकी छिपा कर करो और बदी प्रकट करो" जिस से यही अभिप्राय सिद्ध होता है कि मनुष्य अभिमानी नहीं होता क्योंकि प्रकट में भलाई करनेसे

संसार में प्रतिष्ठा होती है जिस के कारण मनुष्य अभिमानी होकर दुःख उठाता है और बदी (बुराई) के प्रकट होने से मनुष्य का हृदय घमण्ड से रहित हो जाता है क्योंकि चारों ओर से उसे फट कार पड़ती है।

इस से स्पष्ट रीति पर प्रकट हो गया कि जो मनुष्य भलाई का बीज बोते हैं और उसे छिपाकर (गुप्त) रखते हैं वह भविष्य के लिये अपना सुधार करते हैं और जो बुराई के बीज को छिपाकर बोते हैं वह अपना बिगाड़ करते हैं। जब कि हम कर्मों से मनुष्य को बद्ध और मुक्त देखते हैं तो आत्मा के लिये जो कर्म करने में स्वतन्त्र है मोक्ष और बन्धन का विचार किस प्रकार बुद्धि विरुद्ध हो सकता है। जब कि कर्मों ही के कारण एक ही मनुष्य कारागार और घर (दो भिन्न स्थानों में) में देखा जाता है तो एक ही आत्मा का दो प्रकार के देहों में जो कारागार और घरकी भाँति आत्मा के घर हैं, जाना बुद्धि विरुद्ध हो सकता है. आत्मा के गुण दो प्रकार के हैं, एक वह जो स्वयं आत्मा के गुणहैं अर्थात् "ज्ञान और प्रयत्न" जो पशुओंमें समान पाये जातेहैं। और दूसरे वे गुणजो आत्माको मनुष्य और योनिमें शिक्षा द्वारा प्राप्त होतेहैं। इनमें पशु और मनुष्य भिन्न हैं। जैसे दुःख सुख का प्रतीत होना जो स्वयं आत्मा का गुण है अथवा दुःखद पदार्थों से घृणा तथा सुखद वस्तुओं की इच्छा करना जो मन के कारण जीवों में पाये जाते हैं यह पशु और मनुष्यों में समान हैं। परन्तु दुःख के कारण जान कर उस के दूर करने का उपाय करना तथा सुख के साधनों को जान कर उन के एकत्र करने का विचार करना ये शिक्षा से प्राप्त होने वाले गुण मनुष्य योनि में ही मिल सकते हैं। पशु योनि में नहीं। उदाहरणार्थ स्वतन्त्र मनुष्य के हाथ पैर खुले होते हैं और उसे आने जाने का अधिकार भी होता है वह अपने हाथोंसे कृषि कर सकता है और चोरी भी कर सकता है।

परन्तु जब उसे चोरी की बान पड़जाती है तो उसकी टेव मिटाने के लिये गवर्नमेन्ट (शासन शक्ति) उसके हाथों में हथकड़ी डाल देती है जिसका यह प्रयोजन होता है कि वह उठाने की शक्ति न रखने के कारण इस लत को भूल जावे। अब रोकना तो चोरी से था है परन्तु हाथों में हथकड़ी होनेसे वह खेती भी नहीं कर सकता, न पावों से वह विद्या प्राप्ति के लिये जा सकता है, न किसी की रक्षा के लिये दौड़ सकता है और न चोरी का माल लेकर भी भाग सकता है, क्यों कि अब उस के पांव में बेड़ी डालदी गई। इसका आशय तो यह था कि उस को लेकर भागने की यत्न उसे कम होजावे, परन्तु अब वह रक्षा और

शिक्षा के निमित्त भी नहीं दौड़ सकता। यद्यपि गवर्नमेंट का अभिप्राय सिवाय चोरी का माल लेकर भागने के और कामों से रोक ने का नहीं था, परन्तु इन सब कामों का संबंध हाथ पांव की स्वतंत्रता से है जब तक हाथ पांव की स्वतंत्रता न रोकली जावे उस समय तक चोरी की कुटेव दूर नहीं हो सकती। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि गवर्नमेंट का अभिप्राय इन लतों को दूर करने का नहीं है, और नाहीं बन्दी उस कुचाल को छोड़ता है जिस के छुड़ाने के निमित्त उसे कारागार भेजा गया था, क्यों कि हम देखते हैं कि बहुत से बंदी कारागार से मुक्त होते ही चोरी आदिक उन्हीं पापों में प्रवृत्त होते हैं जिन के दूर करने के लिये उनको दण्ड दिया गया था। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गवर्नमेंट हाथ और पावों को हथकड़ी और बेड़ी से बंद करके और देह को कारागार में बंद करके इस कुबान को मिटाने का प्रयत्न करती है जिस से कि यह इस रोग की पूर्ण निवृत्ति हो जावे तथापि अपनी निर्बलता के कारण इस बुराई की जड़ को दूर नहीं कर सकती। क्यों कि सब से प्रथम पाप की जड़ मन में बैठती है तत् पश्चात् शरीर और इन्द्रियों से वह पाप किया जाता है। जब तक मनसे उस पापको न भुला दिया जाय तब तकउसकी जड़ नहीं हट सकती। परन्तु मन से भुला देना मनुष्य अथवा मानवी गवर्नमेंट की शक्ति से परे है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिये कि मनुष्य कृत गवर्नमेंट पाप की जड़ को नहीं उखाड़ सकती। यही कारण है कि बंदी कारागार से आकर भी उन्हीं अपराधों को करते हैं जिन के दण्ड भोगने और जिनकी स्मृति भुलाने के लिये कारागृह में भेजे गये थे। परन्तु सर्व शक्तिमान अपनी प्रजा को ऐसे कारागार में भेजते हैं कि जहां उनको विचार करने की भी शक्ति नहीं रहती। जिससे उनको पाप की लत ही भूल जाती है। मनुष्य शरीर तो आत्मा के लिये घर की भाँति ऐसा स्थान है जहां पर कि वह अपने भले के लिये स्वतंत्रता पूर्वक कर्म कर सकता है और पशु योनि ऐसी है कि जहां आत्मा स्वतंत्रता पूर्वक कर्म करना तो कहां विचार भी नहीं कर सकता क्यों कि वहाँ पर मनके ऊपर तमो गुण की हथकड़ी लगाई जाती है, जिससे कि उसकी स्मरण तथा विचार शक्ति कुछ कर ही नहीं सकती। यदि कारागार और नगर के अन्य दूसरे घरों के मनुष्यों को भिन्न प्रकार का समझें तो मनुष्य और पशु की आत्मा में भी भिन्नता हो सकती है और यदि दोनों दशाओं में मनुष्य योनि एक ही है तो मनुष्य और पशु का

आत्मा भी एक ही प्रकार का है जिस प्रकार संसार में मनुष्य पाप करने पर घर से पृथक् कर कारागार भेज दिये जाते हैं ।

इसी प्रकार परमात्मा के नियमनुसार मनुष्य,पापों की घान को दूर करने तथा उस कर्म का दण्ड भोगने के लिये, पशु योनि में भेज दिया जाता है। जिस प्रकार यहां पर पापों के अनुसार कैद दीवानी, कैद महज (साधारण) 'कैद वामुशक्कत' और 'कैद तनाई' (सपरिश्रम तथा एकान्त कारावास)आदि भिन्न २ प्रकार के दण्ड हैं इसी प्रकार पापो के अनुसार पशुयोनि भी असंख्य प्रकार की है जिस प्रकार कारागृह से मुक्त होकर बंदी घरों को आते हैं और घरों में पाप करके कारागर को जाते हैं इसी प्रकार जीव भी मनुष्य देह से पशु देहमें और पशु देह से मनुष्य देह में कर्मानुसार आते जाते रहते हैं, और जिस प्रकार मृत्यु होने पर ही मनुष्य के इस(आने जानेके) क्रमका अन्त होता है अर्थात् मृत्यु से पूर्व मनुष्य स्वतंत्रता पूर्वक करने की दशा में हो अथवा भोगने की अवस्था में हो अर्थात् घर में रहे अथवा कारागार में दोनों से नहीं छूट सकता, इसी प्रकार जीव मोक्ष से पूर्व मनुष्य देह में हो चाहे पशु शरीर में इन से नहीं छूट सकता। मुक्ति ही इसकी समाप्ति करती है और इसी कारण मुक्ति को नाम 'अतिमृत्यु' रखा गया है । कतिपय मनुष्यों को यह संदेह होगा कि संसार में वन्दी न्यून और स्वतंत्र अधिक हैं यदि इसी के अनुसार इस मनुष्य और पशु को वन्दी और स्वतंत्र जीव क्रमशः समझ लें तो मनुष्यों की संख्या पशुओं से अधिक होनी चाहिये परन्तु सँसार में पशु मनुष्यों की अपेक्षा अत्यधिक हैं अतः यह उदाहरण यथार्थ (ठीक)नहीं । इसका उत्तर यह है कि जीव में नैसर्गिक रीति पर पापोंके संस्कार अधिक हैं इसी प्रकार मनुष्य भी पापी अधिक और धर्मात्मा थोड़े हैं। यदि गवर्नमेन्ट सर्वज्ञ होती तो वर्तमान मनुष्यों में सौ में से एक भी बड़ी कठिनता से स्व तन्त्र दिखाई देता नहीं तो सबही बन्दी होते। इस समय बंदी की संख्या न्यून होना गवर्नमेंट की पापों से अनभिज्ञता का परिणाम है नकि पापी लोगों की न्यूनता का।

पाप का संबंध जिस में जीवात्मा स्वतन्त्र समझाजाता है केवल विचार से है जैसे किसी को हानि पहुंचाने का विचार करना ईश्वरीय नियमानुसार पाप है। परन्तु वर्तमान गवर्नमेंट को विचार का ज्ञान नहीं होसकता यावत् वह विचार कार्य में परिणत न हो तो यों कहिये कि सब से अधिक और महान् पाप का तो गवर्नमेन्ट दण्ड ही नहीं देसकती। इस प्रकारके पापी तो गवर्नमेन्ट

के दण्ड से पूर्णतया बचे रहते हैं। दूसरे बहुत से मनुष्य कर्म-द्वारा पाप कर के भी गवर्नमेन्ट के दण्ड से बचे रहते हैं, जैसा कि लाखों मनुष्य घूंस लेते हैं परन्तु उनमें से दण्ड पाने वाले उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, लाखों मनुष्य झूंठी साक्षी देते हैं परन्तु सौ पीछे एक भी कठिनाई से झूठी साक्षी देने का अपराधी समझा जाता है। इसी प्रकार और भी लाखों पाप होते हैं जिनके अपराधी गवर्नमेन्ट तक समाचार न पहुंचने से दण्ड नहीं पाते, अथवा घूंस तथा झूठी साक्षी द्वारा अथवा किसी कानूनी पेंच से बीच में ही छूट जाते हैं। यदि प्रत्येक पापी को दण्ड मिलता तो गवर्नमेन्ट के कारागृहों में नगरों से सहस्रों गुणा अधिक भीड़ होती। इस समय कारागारों में नगरों से थोड़े मनुष्य होना इस बात का प्रमाण नहीं कि पापी थोड़े हैं और धर्मात्मा अधिक। परन् इस बात का प्रमाण है कि जिस प्रकार गवर्नमेन्ट का मन पर अधिकार न होने के कारण पापों की जड़ नहीं उखड़ सकती, इसी प्रकार मनका हाल न जानने के कारण लाखों पापियों को दण्ड भी नहीं देसकती। परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ हैं। उसके न्याय में न तो अज्ञान ही बाधा डालता है, न घूंस काम करती है, न झूंठी साक्षी से कोई पापी बच सकता है और न कानूनी पेंच पापी की रक्षा कर सकते हैं। सुतराम् सर्व अपराधियों को दण्ड मिलता है, जिससे कि बन्दी अधिक स्वतन्त्र न्यून संख्या में होते हैं।

जहां तक आध्यात्मिक विद्या के पण्डितों के ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है उनसे भी मनुष्य और पशु के आत्मा का एक ही होना सिद्ध होता है और जो मनुष्य आध्यात्मिक विद्या से अनभिज्ञ हैं उनकी सम्मति इस विषय में मानने योग्य नहीं।

भारतवर्ष के ब्राह्मण, बौद्ध धर्म के विद्वान, जैन धर्म के पंडित और यूनान के दार्शनिक सब सहमत हैं केवल पुरानी शिक्षा को मानने वाले जिन के ख्याली मज़हब (कल्पित मत) में युक्ति से काम लेना निषेध है, जो आध्यात्मिक विद्या से अनभिज्ञ केवल तलवार के बल धर्म फैलाते रहे, अथवा ईसाई पादरी गण जो अधिक संख्या में अध्यात्म विद्या से शून्य ही दिखाई पड़ते हैं, जो अपने धार्मिक सिद्धान्तों को बुद्धि एवं प्रयोग द्वारा सिद्ध करने में असमर्थ हैं विरुद्ध है। यदि इनकी पुस्तकों पर विचार किया जाय तो उन में जीव का लक्षण तक नहीं तो ऐसी दशा में जब कि यह लोग जीव का लक्षण करना भी न जानते हों इनका मनुष्य और पशु के जीव को भिन्न २ अथवा एक ही

प्रकार का मानना कोई अर्थ नहीं रखता। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में इस सिद्धान्त की पुष्टि में बहुत से प्रमाण देदिये हैं अतः इस ट्रैक्ट में शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिये गये। जो महाशय प्रमाण देखना चाहें वे सत्यार्थ प्रकाश और वेद-भाष्य भूमिका में देख सकते हैं, अथवा पण्डित लेखराम ने जो 'तुंबूते तनासिख' लिखा है उस में भी प्रमाण लिखे हुए हैं। अब जिस प्रकार कारागार में रहने वाला बन्दी और घर में रहने वाला गृहस्थी कहाता है, वास्तव में बंदी और गृहस्थी कोई दो भिन्न वस्तु नहीं हैं वरन एक ही मनुष्य दो स्थानों में रहने के कारण दो भिन्न नाम हैं, इसी प्रकार मनुष्य और पशु स्वयं जीव रखने के कारण जीवधारी अथवा 'हैवान' कहलाते हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि मनुष्य 'हैवानेनातिक' अर्थात् बुद्धि और स्वतंत्रता से काम लेने वाला है, और दूसरा हैवान मुतलक अर्थात् वह बाह्यसाधनों से बुद्धि का कार्य नहीं कर सकता मनुष्य विद्या द्वारा बुद्धि बढ़ा सकता है परन्तु पशु जितना उनका अपना ज्ञान है उसी से काम ले सकते हैं, और विद्या से ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति नहीं रखते। पशुओं को जितनी बातें सिखावें वे उसको उसी प्रकार ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि यह हरकत (क्रियायें) केवल उनके आत्मा तथा अवयवों से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु मन में बन्धन के कारण संस्कार न होने से वह उस से कोई दूसरा नतीजा नहीं निकाल सकते। इस लिये वह विद्यासे शून्य रहते हैं। जो अन्तर एक मनुष्य के स्वतन्त्र और बंदी होने में है, वही अन्तर मनुष्य और पशु के आत्मा में होसकता है। मनुष्य और पशु योनि दो भिन्न स्थान हैं जिन में रहकर जीव स्वतन्त्रता और बंधन के भोगको भोगता है जिस प्रकार बंदी होने से कोई मनुष्य जाति से पृथक् नहीं होजाता तथा बंधन से फिर भी मुक्त हो सकता है और स्वतन्त्र मनुष्य फिर भी कारागारको जासकता है। यह परिस्थितिका भेद है। जातिका कोई भेद नहीं। यही भेद मनुष्य और पशु के आत्मा में है। उनकी जाति एक ही है। जिस प्रकार किसी मनुष्य के हाथ न होने से वह दूसरा मनुष्य नहीं हो जाता, वरन् केवल उसकी शक्ति में अन्तर होजाता है, इसी प्रकार पशु के देह में प्रवेश करने से जीव दूसरा नहीं हो जाता, वरन् केवल उसकी शक्तिमें अन्तर पड़ जाता है। जो गुण स्वयं जीव के हैं वह मनुष्य और पशु दोनों में समान हैं और जो साधनों से उत्पन्न होते हैं उन में अन्तर है। जिन वस्तुओं के अपने गुण एक हों वह एक जाति कहाती

हैं आर्जी (नैमित्तिक) गुणों में से प्रत्येक के भिन्न गुण होने के कारण भिन्न होती हैं। सुतराम मनुष्य और पशु दोनों में जीव एक ही प्रकार का है।

॥ इति ॥

॥ यज्ञ ॥

प्रिय पाठक गण ! आज कल यज्ञ का अर्थ, शास्त्र से अपरिचित होने के कारण बलिदान अथवा जीव हिंसा के लेने लग गये हैं और मनुष्यों से पूछा जाता है कि तुम यज्ञ का अर्थ हिंसा कहां से लाते हो उस समय वह वाम मार्गियों की क्रिया और उनके बनाये अथवा ग्रंथों में मिलाये हुए वाक्य उपस्थित करते हैं जिनमें कहीं केवल पदच्छेद और समास को ही बदल कर मनुष्यों को भ्रांति में डाला जाता है। अतः आज हम यज्ञ के विषय पर विचार करना चाहते हैं, जिस से सर्व साधारण को सर्वोपयोगी कार्य की उत्तमता ज्ञात होजाये, संसार में इसका प्रचार होजावे, और जो जैन बौद्धादि मनुष्य बिना समझे केवल वाम मार्गियों की क्रिया तथा पुराणों की गप्पों के भरोसे पर इस सर्वोपयोगी काम की निंदा कर रहे हैं वह अपनी भ्रांति को जान कर इसके प्रतिकूल होने के स्थान पर सहायक होजायें, जो वेदों की निन्दा के कारण नास्तिक कहाते हैं वे फिर वर्णाश्रम धर्म को मानकर आस्तिक होजावे तथा संसारसे फूटका झंडा उखड़कर प्रेम का झण्डा गडजावे। प्रिय पाठको ! यज्ञ, शब्द, यज, धातु से निकला है, जिस का अर्थ देव पूजा संगति करण और दानका है। आज कल जो मनुष्य यज्ञ का अर्थ बलिदान लेरहे हैं वह केवल देव पूजा के लिये बलिदान करना इस शब्दका अर्थ बताते हैं और देव पूजा से स्वर्गकी प्राप्ति बताई जाती है। अब देखना यह है कि देव पूजासे स्वर्ग की प्राप्ति होती है या नहीं तथा देव पूजा किसी पशु का बलिदान करने का नाम है या क्या।

हम जहां तक वेद के ग्रंथों को देखते हैं तो सुख विशेष का नाम स्वर्ग प्रतीत होता है किसी स्थान विशेष का नहीं और सुख उस समय होता है जब कि दुःख का लेश न हो। अब संसार में सब से महान् दुःख रोग, सांक्रामक रोग, (मत विरोध) तथा आवश्यकताहैं और इनके निवृत्ति का एक मात्र साधन यज्ञ है। जैसा कि लिखा है यज्ञ तीन प्रकार के पदार्थों से करना चाहिये जिनमें प्रथम ही पुष्टिकारक, दूसरी दुर्गन्धि निवारक और तीसरी रोग विनाशक औषधियां हों। पुष्टिकारक पदार्थ वायु और जल को शुद्ध करते हैं और

रोग विनाशक औषध यज्ञ में बैठने वालों तथा समस्त संसार में से सांक्रामिक रोगों को निवारण करती है । प्रिय सुहृदगण ! यज्ञ केवल महान् दुखों को दूर करने का साधन है परन्तु आज कल मूर्खों ने यज्ञ को दूषित कर दिया है बहुधा मनुष्य कहेंगे कि यज्ञ बलिदान का नाम है और जैन बाबाजो आत्मा राम जी ने तो इस पर अधिक जोर दिया है कि यज्ञ में हिंसा होती है बाबाजीने संहिताओं का तो कोई प्रमाण दिया नहीं केवल इधर उधर वाममार्गियों के ग्रंथोंको लेकर अथवा राज शिव प्रसाद जेनी आदिक के इतिहास को प्रमाण देकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परन्तु बाबाजी का यह पुरुषार्थ निष्फल प्रतीत होता है जब कि वेदों से (यज्ञ में हिंसाका) निषेध पाया जाता है ! देखो ऋग्वेद सायण भाष्यः—

"अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति"॥

प्रिय पाठक गण ? हमने आपको केवल मन्त्र और सायणाचार्य भाष्य में दिखा दिया कि यज्ञ में हिंसा करना महा पाप है इसके लिये हम आपको एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं जिससे कि आप लोग समझ जावेंगे । आपने बहुधा रामायण को पढ़ा होगा और बहुतों ने रामलीला में देखा होगा कि जिस समय विश्वामित्र के यज्ञ को राक्षस लोग विघ्न डालकर पूर्ण नहीं होने देते थे उस समय विश्वामित्र यद्यपि क्षत्री वीर था तथापि हिन्सा के भय से रामचन्द्र को सहायता के लिये बुलाने गया क्योंकि वह जानता था कि बिना क्रोध किये तो हिंसा हो नहीं सकती और क्रोध करना दीक्षित के लिये महा पाप है, इसी कारण उसने रामचन्द्र को बुलाया ।

प्रिय पाठकगण ! जब कि यज्ञ में क्रोध करना भी महापाप गिना जाता है तो कौन मूर्ख कह सकता है कि यज्ञ में हिंसा होती है और आजकल जो वाम-मार्गी इस प्रकार के हिंसक यज्ञ करते हैं यद्यपि वह हिंसा करते हैं परन्तु उनके संस्कारों में कुछ कुछ चिन्ह अब भी अहिंसा के मिलते हैं जैसा कि उन का इस प्रकार के यज्ञों को 'काम्य कर्म' बताना और प्रायश्चित्त करना जिस प्रकार कि विज्ञान भिक्षु अपने सांख्य भाष्य में लिखते हैं ।

बहुत से यज्ञों में देखा गया है कि पहले तो लोगों ने पशुमेध यज्ञ किया और फिर प्रायश्चित्त किया और जब उनसे पूछा गया कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो उत्तर दिया कि यह काम्य कर्म है और जहां गृह्य सूत्रों में यज्ञों का वर्णन—

है वहां भी इस प्रकार के यज्ञों को काम्य कर्म ही बतलाया गया है । तात्पर्य यह कि पशु हिंसा वाला यज्ञ अवैदिक है और यज्ञ सर्वदा हिंसा रहित होता है आजकल जितने यज्ञ होते हैं सब में तो हिंसा होती नहीं । हाँ कहीं होती है । परन्तु इसके साथ ही यह लोग प्रायश्चित्त करते हैं । यद्यपि इस प्रायश्चित्त से हिंसा का दोष दूर नहीं होता तथापि इतना अवश्य होता है कि समझदार मनुष्य यह समझ जाता है कि यह वेदविरुद्ध कार्य है क्योंकि वेदानुकूल कर्म का प्रायश्चित वैदिक मनुष्य कर ही नहीं सकते, कारण यह कि उनके धर्म में तो वेदों को छोड़ कर और कोई प्रमाण ही नहीं माना जाता जैसा कि महात्मा मनु कहते हैं ।

"अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्म जिज्ञासमानानाम् प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥"

अर्थः— जिसका चित अर्थ और काम से हट गया है उनके लिये धर्म का ज्ञान उचित है, और धर्म के जानने के लिये परम प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है । ऐसा ही महात्मा जैमिनि मुनि ने कहा है:—

"चोदनालक्षणोर्थो धर्म्मः ॥

अर्थात् "जिस कर्म के करने की वेद में प्रेरणा की गई हो वही धर्म्म कहाता है" ॥ जब वैदिक धर्म ही वेदानुकूल है तो यदि हिंसा को वह वेदानुकूल समझते तो किस प्रकार वेदानुकूल हिंसा का प्रायश्चित्त करते । यज्ञ करने वालों का प्रायश्चित करना भी हिन्सा को वेदविरुद्ध ठहराता है और जहां लोग कहते हैं कि "वैदिकी हिंसा हिंसा नास्ति,, इसका अर्थ यह है कि वेद में जो राजा को आज्ञा दी गई है कि वह दुष्ट, हिंसक, डाकू, आदि मनुष्यों तथा सिंह और वाराहादिक पशुओं को मारे तो राजा का मारना हिंसा नहीं कहाती । कारण कि राजा को उनका मारना अपने अर्थ अथवा हिंसा के विचार से नहीं बताया गया, वरन दूसरों की रक्षा के लिये निर्बलों की बलवानों से रक्षा करतो राजा का धर्म है इसलिये राजा को इस हिंसा का पाप नहीं लगता है ।

प्रिय पाठकगण ! यदि आप तनिक विचार करें कि आप क्या वस्तु हैं और धर्म क्या ? पाप और पुण्य केवल मन की अशुभ वृत्तियों का नाम है । क्योंकि मन ही इस प्रकार के पाप करता है और मन ही इसका दंड पाता है । इस लिए लिखा है:—

क्षुधापिपासा प्राणस्य शोक मोहो मनसस्तथा ।
जरा मरणे शरीरस्य षडूर्मि रहितः शिवः ॥

अर्थात् 'भूख और प्यास प्राणों का धर्म है' क्योंकि प्राणों के साथ जितने अग्नि और जल के परमाणु बाहर निकलते हैं उतनी ही शरीर में न्यूनता होती है और इसी न्यूनता का नाम भूख और प्यास है। यह तो प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जब घोर परिश्रम करते हैं तो प्राण वायु वेग से चलता है अतः परमाणु झट २ निकलते हैं और भूख अधिक लगती है और शिथिलता में प्राण कम चलते हैं इसकी दशा नाड़ी से ज्ञात हो जाती है। दूसरे हर्ष और शोक यह मन में होते हैं, क्योंकि मन किसी दूसरे विचार में लगा हो तो हर्ष और शोक जनक पदार्थों से सम्बन्ध होने पर भी हर्ष और शोक नहीं होते और बूढ़ा होना और मरना यह शरीर का धर्म है अर्थात् जब शरीर से जीवात्मा निकल गया तो मृत्यु हो गई और पाप तथा पुण्य का करना भी मन की वृत्ति पर निर्भर है। जब तक किसी का इरादा (निश्चय-विचार) नहीं उस समय तक वह उस कार्य का उत्तर दाता नहीं।

बहुत से जैन लोग कहते हैं कि यज्ञ करने में बहुधा जीवों का नाश हो जाता है, जैसे कोई जीव लकड़ी में है, कोई सामग्री में और कोई वायु में से आ गिरता है, अतः यज्ञ से हिंसा होती है परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य बीमारी से मर जाते हैं वह हिंसा किस को लग जाती है। क्या जो वैद्य औषध देता है वह इस पाप का अपराधी समझा जाता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार जो लोग यज्ञ करते हैं वे संसार के उपकार के लिये करते हैं उनका भाव किसी को दुःख पहुंचाने का नहीं होता। हां यदि कोई जीव यज्ञ के कारण मर जावे तो उस का यह ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामग्री और लकड़ी को भले प्रकार शुद्ध करने और देखने की आज्ञा वेद ने स्वयं देदी है। इस कारण जो इस आज्ञा की उपेक्षा करता है वह इस अवहेलना का अपराधी है, परन्तु हिंसा करने का अपराधी नहीं।

प्रिय पाठक गण ! बहुतसे जैनी यह कहते हैं कि वेदोंमें यज्ञमें हिंसा करने की विधि लिखी है। जब उनसे पूछते हैं कि कहां लिखा है तो कहते हैं कि यह वेद की श्रुति है परन्तु जब इस श्रुति की खोज की जाती है तो वेदों में इसका पता नहीं लगता, हां उन सूत्रों में जो वाममार्ग के पीछे प्रकट हुए अथवा

जिन में वाममार्ग की अधिक मिलावट पाई जाती है । इसी प्रकार और बहुत से तैत्तरीय शाखा तैत्तरीय आरण्यक और ब्राह्मण के प्रमाण बाबा आत्माराम जी ने लिखे हैं और अन्य जैनी भी इन्हीं ग्रंथों में से प्रमाण देकर यज्ञ में हिंसा को सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु जहां तक विचार किया जाता है उन का अन्वेषण इतना निर्बल प्रतीत होता है कि उन्होंने किसी वेद का भाष्य न तो स्वयं देखा और न किसी से सुना वरन् केवल ब्राह्मणों के कहने पर ही मान लिया कि यह तैत्तिरीय शाखा आदिक वेद है । अन्यथा जब महीधराचार्य अपनी यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में तैत्तिरीय शाखा कीउत्पत्ति याज्ञवल्क्य के समय में बताते हैं । और याज्ञवल्क्य व्यास जी महाराज के चेले वैशम्पायन के शिष्य हैं, जिनका समय महाभारत के लग भग सौ वर्ष पश्चात् प्रतीत होता है । ऐसी दशा में तैत्तिरीय शाखा के प्राचीन न होने के कारण उसके बताये हुए यज्ञों का भी अभाव ठहरता है और तैत्तिरीय आरण्यक एवं वह सूत्र जो आज श्रौत सूत्र कहे जाते हैं जिन में तैत्तिरीय शाखा के बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं । जितने प्रमाण बाबा आत्माराम जी ने यज्ञ में हिंसा दिखाने के लिये दिये हैं वे सब उन्हीं ग्रंथों के हैं, और कहीं आत्माराम जी ने चाहे संस्कृत विद्या की न्यूनता के कारण चाहे पक्षपात से हो अर्थ का अनर्थ किया है । क्योंकि संस्कृत विद्या अगाध एवं गूढ़ अर्थ वाली है कि तनिक से पदच्छेद अथवा समास के बदलने से आशय सैकड़ों कोस दूर चला जाता है जैसे किसी ने कहा कि:—

" मद्याजी परमांगतिम् " ॥

अर्थात्—' मेरी पूजा करने वाला परम गति को जाता है, । अब दूसरे ने खींच कर ऐसा अर्थ किया:—

मदिरा पीने वाला और बकरा खाने वाला परम गति को जाता है ।

प्रिय पाठक गण ! कतिपय मनुष्य यह कहते हैं कि यज्ञ से देव पूजा किस प्रकार हो सकती है । क्योंकि अग्नि आदिक जड़ पदार्थों को प्रसन्न करने के लिये घृत और मेवा आदिक का डालना व्यर्थ है । परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि जड़ पदार्थों पर ही मनुष्य का जीवन निर्भर है । यदि जड़ पदार्थ प्रसन्न न हो तो मनुष्य का जीवन एक भार हो जावे उदाहरणार्थ जिस नगर का जल उत्तम नहीं वहाँ रहने में प्रत्येक मनुष्य को कठिनाई होती है । जहाँ की वायु में रोग हो वहां तो कोई रहना ही नहीं चाहता । आपने महामारी और

बम्बई के समाचारोंसे जान लिया होगा कि कोई नहीं कह सकता कि ' जल वायु ' आदि जड़ पदार्थों को प्रसन्न किये विना हम सुख प्राप्त कर सकते हैं। कतिपय मित्र कहेंगे कि यह पदार्थ जड़ होकर प्रसन्न और अप्रसन्न कैसे हो सकते हैं ? परन्तु क्या जड़ का अर्थ अप्रसन्न रहना है, जब कोई वस्तु हमारे अनुकूल होती है तब हम उसे प्रसन्न कहते हैं, जैसे सुगन्धि क्या गन्धमें प्रसन्नताका गुण है ? नितांत नहीं, वरन् हमारे अनुकूल होनेसे ही प्रसन्न कहाती हैं, इसी प्रकार और बहुतसे उदाहरण हैं, जहां पदार्थों के साथ हम प्रसन्नताका प्रयोग करते हैं।

प्रिय पाठकगण ! यज्ञसे बढ़ कर संसार में कोई उपकारक कर्म दूसरा नहीं, क्योंकि जल वायु की अशुद्धि, कि जिससे प्राणियोंको कष्ट होता है, उससे ही बचानेका नाम यज्ञ है, जब भारतवर्ष में यज्ञ होते थे तब कभी विशूचिका आदि रोगोंका पता भी न था, परन्तु जब से वाममार्गियोंके हिंसक यज्ञाभासोंने यज्ञ जैसे उत्तम कर्मको कलंकित कर दिया तभी से यहां अकाल, विशूचिका और प्लेग (महामारी) आदि नानाप्रकार के संक्रामक रोग आगये, जिससे प्राणीमात्रको दुःख होरहा है।

यद्यपि गवर्नमेंट स्वच्छता आदि अनेक प्रकारके साधनोंसे इन रोगों को रोकनेका प्रयत्न कर रही है परन्तु जब तक आन्तरिक स्वच्छता अर्थात् अन्न जल और वायुकी पवित्रता न हो उस समय तक उनका नाशहोना कठिन प्रतीत होता है, सम्पूर्ण अन्नोंमें मैला खाद डाला जाता है जिस से भोजन अस्वच्छ हो रहा है, समस्त नदियों में वस्त्र धोने, गन्दे नाले मिलने एवं पृथ्वीमें मृतकों को गाड़नेसे पृथ्वीका जल, अस्वच्छ होगया है, और मट्टीके तेल जैसा दुर्गन्धकारक तेल जलाकर उसके धुएँ द्वारा सारे वायु मण्डलको दुर्गन्धित कर दिया है, भारतवर्षसे सर्व-उत्तम पदार्थ पृथक् कर दिये गये हैं, ऐसी दशामें यदि रोग न फैलें तो बनाने वालेके सम्पूर्ण नियम निकम्मे होजावें ॥

प्रिय पाठकगण ! जब तक भारतवर्षमें यज्ञका प्रचार था उस समय तक अग्नि, वायु और जल आदि प्रत्येक पदार्थ मनुष्योंके अनुकूल बना रहता था, इस यज्ञके साध्य साधन आदि भेदोंसे भिन्न२ नाम हैं, जैसे पुत्रेष्टि चातुर्मास्य, दर्शपूर्ण आदि। नाना प्रकारके यज्ञोंके बहुतसे लाभ समझे गये हैं, जैसे किसी के पुत्र उत्पन्न न हुआ तो उसके लिये पुत्रेष्टि यज्ञकी आवश्यकता है, और प्रत्येक यज्ञके लिये भिन्न २ प्रकारकी सामग्री नियत हैं, जिस प्रकार कि प्रत्येक रोगके लिये भिन्न २ औषधि होती है।

आजकल जो बहुधा यज्ञोंमें सफलता नहीं होती उसका बड़ा भारी कारण यज्ञोंकी सामग्रीका अज्ञान है, अन्यथा यह सम्भव नहीं था कि जिस मार्ग के निमित्त यज्ञ किया जावे वह कार्य पूर्ण न हो।

जिस समय महाराजा दशरथ के संतान नहीं होती थी उस समय पुत्रेष्टि यज्ञ किया गया, और उस यज्ञका प्रसाद राजाकी रानियोंने खाया तो चार पुत्र उत्पन्न हुए, आप अचम्भा करेंगे कि प्राकृतिक नियमके विरुद्ध किस प्रकार का बखेड़ा उपस्थित करदिया। परन्तु मित्रो! यह बात सत्य और प्राकृतिक नियम के ठीक अनुकूल है, क्योंकि यदि पुरुष में पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं तो उस को यज्ञ में बैठाया जाता है, और यदि स्त्री पुरुष दोनों में नहीं तो दोनों मिल कर यज्ञ करते हैं और ग्यारह दिन तक उन औषधों के परमाणु जिन से यज्ञ किया जाता है सूक्ष्म होकर प्राण वायु के द्वारा उन के शरीर में प्रवेश करते हैं, और अग्नि के सन्मुख बैठने से बुरे परमाणु, पसीने की राह निकलते रहते हैं, जिस से ग्यारह दिन में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार वर्षा आदि के निमित्त यज्ञ किये जाते थे, मूर्खों ने यज्ञ की विद्या को न जानकर इस पर आक्षेप किये हैं, परन्तु यथार्थ तथा ज्ञानपूर्ण एक भी नहीं।

प्रिय पाठकगण! भारतवर्ष में जितने विद्वान् हुए प्रत्येकने यज्ञके ऊपर जोर दिया था। पारसियोंकी आतिशपरस्ती (अग्नि पूजा) तथा यहूदियों की सोख़नी कुर्बानियां भी इस यज्ञको बिगाड़ कर बनाई गई है। जिससे मालूम होता है कि एक समय समस्त भूमण्डल यज्ञ को अपना धर्म समझता था। परन्तु! जिस समय से वाममार्ग चला और उन्होंने हिंसक यज्ञ आरम्भ किये तो संसार में यज्ञों की निन्दा फैल गई और मनुष्य इस सर्वोपयोगी कार्य से पृथक् होगये। जिस प्रकार दही उत्तम पदार्थ है परन्तु जिस समय ताम्रपात्र में डाल दिया जावे तो वही दही जिसे थोड़े समय पूर्व प्रत्येक मनुष्य खाना चाहता था, अब विष समझकर कोई खाना नहीं चाहता और प्रत्येक को उससे घृणा हो जाती है, यही दशा यज्ञ की है कि एक सर्वसुखद कार्य जिससे अवसरपर वर्षा सन्तानोत्पत्ति और जल-वायुकी शुद्धि तथा रोगों की चिकित्सा होती थी, आज सब लोग उससे पृथक् होकर दुःख उठारहे हैं।

प्यारे आर्यगण! यदि अब भी आप सुख चाहते हैं तो वेद विद्या को प्राप्त कर यज्ञ के विषय को स्पष्टतया जान उसका प्रचार करो, जिससे भारतवर्ष, नहीं नहीं सब के दुःख दूर हों और संसार में सुख और शान्ति फैल जावे।

देह ब्रह्माण्ड का नक्शा है।

यदि संसार में ध्यानपूर्वक विचार करें तो सम्पूर्ण वस्तु तीन के अन्तर्गत दिखाई पड़ती है। प्रथम वह जिसे सुख दुःख प्रतीत होता है, दूसरी जो सुख का कारण है और तीसरी जो दुःख का कारण है। अब सुख और दुःख दो विरोधी गुण हैं, जो कि एक ही गुणी में नहीं हो सकते, इस लिए यदि सुख और दुःख अनुभव करने वाले जीवात्मा का गुण सुख माना जावे तो सुख का नाश किसी दशामें नहीं हो सकता जिस समय तक कि जीवात्माका नाश न हो। यहां प्रतिपक्षी प्रश्न करता है कि जिस प्रकार जल का गुण शीतलता है परन्तु अग्नि के सम्पर्क से जल उष्णता को प्राप्त होजाता है, इसी प्रकार जीवात्मा स्वयं सुखस्वरूप है परन्तु माया के सम्पर्क से दुःखी होजाता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता जल की शीतलता को ढाँप लेती है इसी प्रकार माया की परतन्त्रता जो दुःख स्वरूप है जीवात्मा के आनन्द को ढांप लेती है जिससे जीव अपने को दुःखी प्रतीत करता है। परन्तु प्रतिपक्षी का यह दृष्टान्त समूल मिथ्या है, क्यों कि आवरण दो द्रव्यों के बीच में होता है गुण और गुणी के बीच में नहीं होता उदाहरणार्थ जब एक द्रव्य है जिसका गुण शीतलता है और त्वचा एक दूसरा द्रव्य है जिससे शीतलता तथा उष्णता का ज्ञान होता है ऐसी दशा में अग्नि का आवरण त्वचा और जल के बीच में हो सकती है। परन्तु जब सुख द्रव्य नहीं वरन् जीव का गुण है तो जीव और सुख के बीच में माया का आवरण आना असम्भव है। दूसरे नैमित्तिक गुण सूक्ष्म पदार्थ का स्थूल पदार्थ में आया करता है, अग्नि जल से सूक्ष्म है अतः अग्नि की उष्णता जल में प्रतीत होती है। परन्तु माया अर्थात् प्रकृति जीव की अपेक्षा स्थूल है अतः न तो वह जीव में आ सकती है और नाही जीव और सुख के बीच में आवरण कर सकती है। सुतराम् जीवात्मा स्वयं सुखरहित है और प्रकृति परतंत्र अर्थात् दुःख स्वरूप है, और परमात्मा सुख स्वरूप है। जब जीव प्रकृति का उपासना करता है, जैसा कि जाग्रत अवस्था में नित्य देखता है तभी अपने को दुखी पाता है और जब परमात्मा की उपासना करता है तब सुख का अनुभव करता है, जैसा कि समाधि सुषुप्ति और मुक्ति अवस्था में होता है। प्रकृति के बने हुए दो शरीर हैं जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर के नाम से प्रसिद्ध हैं, तीसरी प्रकृति स्वयं कारण शरीर कहाती है, इन तीनों शरीरों के भीतर दो पुरुष अर्थात् जीव और ब्रह्म रहते हैं, यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का निवास स्थान है, और यह शरीर जो

जगत् का नक्शा (चित्र) है जीव के काम करने का स्थान है। जिस प्रकार जीव इस सम्पूर्ण शरीर को नियमपूर्वक चलाता है उसी प्रकार ब्रह्म समस्त संसार को। जितनी विद्याएँ जगत् में हैं वह सम्पूर्ण इस शरीर में सूक्ष्म रूप से है। इसी कारण योगी समाधि द्वारा इस शरीर के भीतर सब विद्या को देखता है। महर्षि कपिल जी ने इस नक्शे को इस सूत्र में दिखाया है:—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥ सां० ॥ १।२६

अर्थः—सत्—प्रकाश स्वरूप अर्थात् अग्नि, रज जो न प्रकाश करे और न ढांपे अर्थात् जल वायु, आकाश, काल और दिशा, और तम जो ढांपे अर्थात् पृथ्वी इन सबकी कारणदशाको प्रकृति अर्थात् कारणशरीर कहते हैं। उस दशा का नाम प्रकृति इस लिये है कि कारण अवस्था में उसमें विरोध नहीं प्रतीत होता, केवल मिश्रित अवस्था में एक दूसरे के नाशक होते हैं। जिस प्रकार अब पृथ्वी प्रकाश को ढांपती है परन्तु ऐसी परमाणु दशा में नहीं होती। उस कारणरूप प्रकृति से स्थूल महत्तत्व अर्थात् मन बनता है। बहुत से मनुष्य महत्तत्व का अर्थ बुद्धि करते हैं परन्तु यह समूल असत्य है, क्यों कि महत्तत्व द्रव्य है और बुद्धि गुण है। महत्तत्व का अर्थ बुद्धि करने से शास्त्रों में विरोध पैदा करने के अतिरिक्त सांख्य की व्यवस्था भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि सांख्यकार स्वयं महत् का अर्थ मन करते हैं। देखो साँख्यदर्शन अध्याय १ सूत्र ७१:—

महदाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मनः" ॥

अर्थ—"महत् नाम प्रकृति का पहिला कार्य मन है" यद्यपि विज्ञान भिक्षु आदि ने यहाँ भी मन का अर्थ बुद्धि ही किया है जो कदापि सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि गुण है वह प्रकृति का कार्य नहीं हो सकती। प्रकृति का कार्य्य द्रव्य होगा और मन द्रव्य है अतः मन का अर्थ खेंचतान कर बुद्धि करना यथार्थ नहीं। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि यद्यपि न्याय और वैशेषिक शास्त्र की सम्मति में बुद्धि गुण है तथापि कपिल मुनि ने उसे द्रव्य माना हो तो तुम क्या कहोगे? ऐसा कहने वाले साख्यशास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हैं क्योंकि सांख्य में भी बुद्धि को गुण बताया है।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ सां० २। १३ ॥

अर्थः—"अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान का नाम बुद्धि है" साथ ही बुद्धि को द्रव्य मानने से सांख्यशास्त्र की सम्पूर्ण व्यवस्था ही बिगड़ जाती है, इस को पूर्णतया इस ट्रैक्ट में दिखा नहीं सकते, क्योंकि पचासों सूत्रों में गड़ बड़ मचैगी, परन्तु थोड़ा आगे वर्णन करेंगे। मन से अहङ्कार उत्पन्न हुआ और अहङ्कार से पांच तन्मात्रा अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन गुणों के गुणी पृथक् होगये। और पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां यह सब सत्तरह मिलकर अर्थात् मन, अहङ्कार, पांच तन्मात्रा और दस इन्द्रियां सूक्ष्म शरीर अथवा लिङ्गशरीर कहाता है।

परन्तु यदि बुद्धि को द्रव्य मान कर लिङ्गशरीर में सम्मिलित किया जावे तो लिङ्ग शरीर सत्तरह के बदले अठारह का हो जायगा। परन्तु १० वस्तुओं के बने हुए का नाम (लिङ्ग) शरीर किसी आचार्य ने नहीं माना। और कपिल मुनि जी के तो सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है:

"सप्तदशैकं लिंगम्" ॥ सां० ३ । ६ ॥

अर्थ—"सत्तरह वस्तुओं के संघात से बने हुए का नाम लिंगशरीर है"

आर्य लोग कहेंगे कि जब सत्यार्थ प्रकाश में भी महत् का अर्थ बुद्धि किया है तो तुम्हारी बात को कैसे मान लेवें। परन्तु ऐसे आर्य पुरुष वही होंगे जिन्होंने ऋषि दयानन्द की पुस्तकों के सम्बन्ध में खोज नहीं की। स्वामी दयानन्द की पुस्तकों में भीमसेन आदि पण्डितों की कृपा से जितनी अशुद्धियां हुई हैं, जिनको ऋषि दयानन्द ने छपी हुई दशा में देखा भी नहीं, पहिला सत्यार्थ प्रकाश जो स्वामी जी के जीवन काल में छपा उस में बहुत कुछ गड़ बड़ हुई, जिसकी विज्ञप्ति उन्होंने स्वयं यजुर्वेद भाष्य के प्रथम अङ्क में छाप दी थी, और दूसरी वार सत्यार्थ प्रकाश के प्रेस से निकलने के बहुत दिन पूर्व स्वामी जी का परलोक गमन हो चुका था, इस लिये उनका अशुद्धिपत्र वे न बना सके, और पंडितजनों के शास्त्रों को विचारे हुए न होने के कारण सूत्रों का अनुवाद वैसा ही कर दिया जैसा कि प्राचीन टीकाओं में लिखा हुआ था। क्योंकि स्वामी जी के विचारों को जानने वाला मनुष्य यह कभी नहीं मान सकता कि स्वामी दयानन्द जीव और ब्रह्म को एक मानने वाले हों, परन्तु इस सूत्र के अनुवाद से एक ही सिद्ध होते हैं जैसा कि लिखा है कि पचीसवां पुरुष अर्थात

जीव और परमेश्वर है क्योंकि सांख्य ने २५ पदार्थ माने हैं, उन में से १ प्रकृति कारण शरीर १७ का लिंग शरीर, ५ का (पांच भूतों) स्थूल शरीर, यह सब मिलकर २३ होते हैं। हां पुरुष में जीव और ब्रह्म लेने से पूरे पच्चीस हो जाते हैं। परन्तु बुद्धि को जोड़ने से २६ हो जाते हैं अन्यथा जीव और ब्रह्म को एक पदार्थ मानना पड़ता है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि पुरुष शब्द का एक वचन क्यों आया है? इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष शब्द के दो अर्थ हैं, एक जीव दूसरा ब्रह्म। अब जीव और ब्रह्म एक जाति के नहीं जिनको द्विवचन लिखते, वरन् जब पुरुषका अर्थ जीव किया तब वह जातिको ध्यानमें रखते हुए एक ही हैं और जब ब्रह्म किया तो वह स्वरूपसे एक था अतः दोनों के लिये एक वचन ही उचित था। यदि महर्षि कपिल एकही पुरुष मानने वाले होते तो वह पुरुषको बहुत न मानते, जैसा कि उन्होंने लिखा है:—

"जन्मादि व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ सां०१।१४६

अर्थ—कोई पुरुष जन्म लेरहा है, कोई दुख भोग रहा है, कोई सुख, और कोई बंधनमें फंसाहुआ है, और कोई मुक्त, इस लिये पुरुष अर्थात् जीव बहुत हैं। बहुधा मनुष्य कहते हैं कि जीव और ब्रह्म का यदि जातिसे एक वचन मान लें तो क्या हानि है। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ब्रह्म में जातिका प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि जाति बहुत वस्तुओंमें रहा करती है, एक में नहीं,ब्रह्म एक है अतः जब ब्रह्म और जीव भिन्न२ गुण वाले हैं तो उनकी एक जाति किस प्रकार कह सकते हैं। शास्त्रों के टीकाकारों की यह दशा है कि एक चूक जावे तो सब चूकते चले जाते हैं उसकी चूकको सुधारते नहीं इस अशुद्धि के जन्मदाता सांख्यतत्वकौमुदीकार थे, जिसने कि उस श्रुतिका पाठ जिससे तीनअनादि पदार्थ सिद्ध होते हैं बदल कर ऐसा कर दिया जिससे पुरुष और प्रकृति दोही अनादि सिद्ध हों और इसीलिये उनको ब्रह्मके स्थान पर एक और घड़ा हुआ पदार्थ बुद्धि, घुसेड़ना पड़ा, उसीकी कृपासे बहुधा मनुष्य महर्षि कपिलको नास्तिक बताते थे। विज्ञान भिक्षु आदि समस्त टीकाकारोंने उनका अनुकरण किया और जहां कोई ऐसा वाक्य मिला जिससे इनका अर्थ अशुद्ध दीखे उस पदका अर्थ भी बदल दिया। यद्यपि सूत्रकारने स्पष्टतया प्रकृतिका प्रथम कार्य महत् अर्थात् मन बताया था परन्तु विज्ञानभिक्षुने मनका अर्थ भी बुद्धि करदिया। क्या सूत्रकार को बुद्धि शब्द लिखना नहीं आता था? कि वह बुद्धि के स्थान पर मन लिखते? सूत्रकार तो बुद्धिको द्रव्य नहीं मानते, वरन् गुण बताते थे, परन्तु

प्रकृतिका कार्य होनेसे बुद्धि द्रव्य होता, अतः उन्होंने मनको जो कि द्रव्य था स्पष्टतया कहा, परन्तु किसीने नास्तिकपन से बुद्धिको द्रव्य बताकर ब्रह्मको उड़ाया और अन्य गूढ़ विचार न करने वालोंने उन्हींका अनुकरण किया, यहां तक कि स्वामी हरिप्रसाद ने जो वैदिकवृत्ति नाम करके एक टीका लिखी है उसमें भी इन परम्परासे चली आने वाली अशुद्धियोंका कोई विचार नहीं किया। हमारी समझमें जब तक आगे पीछेके सूत्रोंकी व्यवस्था ठीक न करली जावे तब तक किसी को शास्त्रोंकी वृत्ति लिखने का अधिकार नहीं। हमने तो स्वामी जी का ऊपर नाम (और उस) के साथ उपाधि देखकर ही इस वृत्तिकी अवस्था को समझ लिया था क्योंकि उनको यह उपाधि किसी सभा सोसाइटीकी ओर से मिली हुई नहीं। वास्तव में इस सूत्रमें ऋषिने, तीन शरीर जो प्रकृतिकी दशा हैं और दो पुरुष बता कर इस देहको ब्रह्माण्डका चित्र बनाया है। प्रकृतिका कारणशरीर मन अहंकार रूप, रस, गन्ध स्पर्श, शब्द और इन के साधन नेत्र, नासिका, श्रवण, रसना और त्वचा, पांच ज्ञानेन्द्रिय-तथा हाथ, पांव, जिह्वा, उपस्थ और गुदा-यह पांच कर्मेन्द्रिय यह सब १७ मिलकर लिङ्गशरीर कहा जाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश-यह स्थूल शरीर, देहमें रहने वाला जीव और समस्त ब्रह्माण्डके शरीरमें रहने वाला ईश्वर है। यद्यपि इस अवसर पर और भी विशेष लिखनेकी आवश्यकता थी, परन्तु यह पुस्तक छोटी और विचार अधिक होनेके कारण संक्षेपसे ही वर्णन किया गया है, इस न्यूनताको हमारे पाठकगण स्वयं विचार कर पूरा करलें अथवा हमें यदि कभी अवसर मिला तो बड़ी पुस्तकके रूपमें उपस्थित करेंगे।

ईश्वर का भय

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १
यजु० अ० ४०मं०१

अर्थ—यह जो संपूर्ण संसार दृष्टि गोचर होरहा है अथवा जो भिन्न २ उस के अवयव दिखाई देता है यह सब ईश्वरके निवास स्थान हैं और जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं को भूल जाते हैं वे सब दुःखों को भोगते हैं इसलिये हे जीव! तू किसी का धन लेनेकी इच्छा मतकर।

यह कैसा उत्तम उपदेश है कि जिस के समझने से मनुष्य सर्वदा पापोंसे बचकर सुख और शांति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि मनुष्यमें डरने की स्वाभाविक टेव है। जब मनुष्य कोई पाप करने लगता है तो उस समय उस के चित्त में यह भय उत्पन्न होता है कि इस पाप को करते हुए कोई देख न लेवे और इसी कारण वह सर्वदा पाप को छिपाकर करने का प्रयत्न करता है, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जिस के हृदय में पाप करते भय न उपजता हो, इसी भय के कारण वह घर के भीतर जाकर, किवाड़ बंद करके और द्वार पर अपने सहयोगियों को खड़ा करके पाप करता है, यदि मनुष्य को यह ज्ञान होता कि मैं पाप करके किसी प्रकार भी दण्ड से नहीं बच सकता तो वह कदापि पाप न करता, परन्तु मनुष्योंके हृदय में धार्मिक शिक्षा न होने के कारण परमात्मा की सत्ता एवं सर्व व्यापकता का ज्ञान तो होता ही नहीं, वह केवल संसारी भयसे बचने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान समय में सब से प्रथम तो गवर्नमेंट का भय है जिसको वह इसप्रकार निवृत्त कर देते हैं, कि प्रथम तो इस बंद घर में कोई देखता ही नहीं, यदि कोई मनुष्य देख भी ले और वह गवर्नमेंट का कर्मचारी हो तो उसे कुछ घूंस देदी जायगी, इस से भी काम न चला तो झूठे साक्षी उपस्थित कर दिये जायेंगे, जिनसे कि न्यायालय से आपराधमेव छोडदिया जाऊंगा, यदि इस में भी सफलता न हुई तो वकील (प्राड विवाक) करके कानूनी कमजोरियों से (नियम त्रुटियां) जीत जाऊंगा और यदि इन बातों से काम न चला तो न्यायाधीशों को पूरी घूंस देकर बच जाऊंगा। यह विचार हैं जिन के कारण मनुष्य गवर्नमेंट का भय होते हुए भी पाप करना नहीं छोडते दूसरा भय जाति का है, वह तो आज कल जाता ही रहा, कारण यह कि जाति में ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े देखने में आवेंगे जो किसी न किसी पाप के अपराधी न हों, अब जब कोई मनुष्य किसे पापी को जाति (सभा) के समक्ष उपस्थित करने लगता है तो विचार तुरन्त ही उसके मन में आता है कि यह भी मेरे दोष अवश्य ही प्रकट करेगा, अतएव वह अपने विचार को छोड देता है, तीसरा भय लोक लाज का है सो इस का तो आजकल चिन्ह भी नहीं दीखता, जब देश की यह दशा है तो पापों का बढ़ना आश्चर्य नहीं है, और जब पाप अधिक होने लगे तो दुर्भिक्ष, प्लेग, भूकम्प, तथा लडाई झगडे ऐसी आपत्तियों का आना अनिवार्य है, जिस की रोक किसी मनुष्य के हाथ में नहीं,

न गवर्नमेंट इसको रोक सकती है और न जाति ही इसका कोई उपाय कर सकती है। ऐसी अवस्था में विना धार्म्मिक शिक्षा दिये मनुष्यों का पापों को छोडना वहुत ही कठिन है, क्योंकि प्राचीन काल में जव मनुष्य ईश्वर से डरते थे उस समय पाप संसार में वहुत ही थोडा दिखाई देता था, जव से वेदों की शिक्षा वंद होगई, और जनता नास्तिक होगई, जो ईश्वर को स्थानापन्न मानने लगी, उस समय से मनुष्यों को ईश्वर का भय न रहा। वेदों की पवित्र शिक्षा के समय में पाप करना अति दुष्कर जान पडता था, क्योंकि जब मनुष्य यह जानता है कि मेरे पापों का दण्ड देने वाला मेरे सन्मुख विद्यमान है, जिसे मैं किसी प्रकार की घूंस से प्रसन्न नहीं कर सकूंगा न झूंठे साक्षियों से छुटकारा होगा, क्योंकि वह स्वयं देख रहा है, साक्षी को कैसे मानेगा, न वकील से काम चलेगा, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, अतः किसी प्रकार धोखे में नहीं आसकता और न उसके राज्य से भाग कर कहीं जासकता है। वह तुरन्त पापों को छोड देता है, एक और भी बुराई है जो मनुष्य को साहस दिलाती है, और जिसके कारण वह पाप से नहीं बचता, वह जानता है कि पुलिस पकडने आवेगी तो उसके मुकावले में सफलता की भी आशा है और वहुधा राजा, महाराजा, और नवाव आदिक तो अपने को पुलिस के भय से रहित समझते हैं, परन्तु जब मनुष्य को यह विश्वास होजावे कि जिस शक्ति के हाथों में मेरे पापों का फल देना है वह इतनी वलशालिनी है कि संसारके वडे से वड़े महाराजा लाखों सेना, हाथी, घोड़े खड्ग, भुशुण्डि, तोप, और डाइनामेट के गोले आदिक रखते हुए उसके वारेन्ट मौत (मृत्यु संदेश) को एक मिनिट के लिये भी नहीं रोक सकते क्योंकि यह समस्त अस्त्र, शस्त्रादि तो वाह्य आक्रमण के रोकने के निमित्त हैं, पापों का दण्ड देने वाली शक्ति तो भीतर विद्यमान है, चाहै कितनाही वड़ा दुर्ग बना लिया जाय वह केवल वाह्य शक्तियों से बचने को लाभकारी होगा, आन्तरिक शक्ति से बचने के लिये निकम्मा है चाहै जितने सहायक हों वह भी देह धारी से बचा सकते हैं, चाहै जितने शस्त्रास्त्र हों वह भी देह धारी पर ही चलाये जासकते हैं।

अब किसी शक्तिसे भी पाप करके हम किसी प्रकार नहीं बच सकते और न कोई सांसारिक शक्ति उस को रोक सकती है, ऐसी शक्ति की अवज्ञा करना मानो अपने को दुःख के समुद्र में डवोना है। मनुष्य सुख दुःख का कारण जान

कर किसी काम को नहीं करता, उस की इच्छा सुख प्राप्त करने एवं दुःख से बचने की है अतः वह पाप को दुःख का कारण जानते हुए कभी नहीं कर सकता यदि संसार में पाप से बचाने वाली कोई शक्ति है तो वह ईश्वर का भय है, और वह भी उस समय जब कि उस का दृढ़ विश्वास हो जावे। यदि मनुष्य को यह विश्वास होजावे कि ईश्वर संसार के प्रत्येक खण्ड में विद्यमान है, मेरे भीतर भी है, मैं किसी प्रकार उसकी दृष्टि से अपने पापों को नहीं छिपा सकता, न ईश्वर के पुत्र (खुदा के बेटे) का कुफ्फारा मुझे पाप करने पर दण्ड से बचा सकता है और न मुहम्मद साहेब की शफाअत (साक्षी) से पाप हटाये जा सकते है, और न मैं किसी प्रकार के छापे तिलक तथा भेष धारण करके पापों के फल से बच सकता हूँ, तो वह कभी पाप नहीं करेगा। ये जितने मतमतान्तर हैं वे सब पाप बढ़ाने के कारण हैं क्योंकि ये सब ईश्वर को सीमाबद्ध मानते हैं जिससे मनुष्य के हृदय में उस का भय तनिक भी नहीं रहता। कतिपय मनुष्य तो यह विचार लेते हैं कि पाप करके "तोबा" कर लेंगे, परमात्मा क्षमा कर देगा। जब तनिक "तोबा" करने से पाप क्षमा होजावेंगे तो पापों से कोई क्यों बचेगा। किसी ने कहा कि पापों का भार मसीह उठा कर लेगया, भला फिर ईसाई पाप से क्यों बचें। किसी ने समझा कि गंगा स्नान से मुक्ति होगी और सहस्रों जन्म के पाप छूट जावेंगे। अब बताइये, वह क्यों पापसे डरेगा। आज कल तो गंगा जाने के लिये दो तीन रुपयेसे अधिक की आवश्यकता नहीं। बस जब दो तीन रुपये में ही पाप छूटने लगे तो फिर धनी क्यों पाप से डरेंगे। इस प्रकार इन मतमतान्तर वालों ने ईश्वर को एकदेशी मान कर सांसारिक गवर्नमैंट की भांति पापोंके हटाने में अशक्त बना दिया है। बहुधा मनुष्य कहेंगे कि हमतो ईश्वरको एकदेशी नहीं मानते, परन्तु हम उनसे पूछते हैं, कि तुम्हारे पैगम्बर (दूत) किस प्रकार हो सकते हैं जब कि तुम्हारा ईश्वर एक देशी ही नहीं, क्योंकि पैगम्बर का अर्थ पैग़ाम (संदेशा) लाने वाला है, और पैग़ाम सर्वदा दूर से आया करता है, और दूरी सर्वदा एक देशी पदार्थों में होती है। इसलिए पैगम्बर मानना ईश्वर को एकदेशी मानकर उसके भयसे संसार को हटा उसे (संसार को) पापी बनाना है, और जो मनुष्य कुफ्फारा से मोक्ष मानते हैं वह मानो घूंस देकर परमेश्वर के दण्डसे बचना चाहते हैं, इसी भांति जो लोग अवतार मानते हैं वे भी ईश्वर को एकदेशी मानते हैं, नहीं तो वह पहिले किस शरीर में था, जहां से उसने अवतार लिया, इसी प्रकार किसी ने

उसको सातवें आसमान पर जा बैठाया, और किसी ने चौथे आसमान पर उस का स्थान ठहराया। कोई बैकुण्ठ में बताने लगा, और कोई क्षीर सागरमें गोता खिलाने लगा। किसी ने गोलोक को उसका निवास स्थान बनाया, और किसी ने कैलाशवासी ठहराया। सारांश यह कि इन मतामतांतरों के दीपकों ने अपने परिमित ज्ञानके कारण अपने प्रकाशके बाहर उसे न देखकर इतनाही बताया। उस से यह समय आगया कि चारों ओर पापों का वेग से समुद्र बह रहा है। लोग एक आना के लिए झूंठ बोलने को तय्यार हैं। अपनी ईश्वर भक्ति को धन के लिये गंवा देते हैं। कतिपय मनुष्यों ने तो धन को परमेश्वर की मूर्ति भी बना दिया। भला उन को वैराग्य किस प्रकार हो सकता है वे समझते हैं कि यदि और किसी की शिफारश न सुनी जायगी तो उसकी स्त्री जिसके संचय करने में हमारा समस्त जीवन व्यतीत हुआ है, जिसकी भक्ति हमने धर्म कर्म और सत् असत् का विचार छोडकर की है, और जिसके लिए हमने लाखों पाप किये हैं, तथा सहस्रों मनुष्यों को धोखे दिए हैं, उस की शिफारश (करुण कथन) से तो अवश्य ही काम निकल आवेगा। ऐसे विचारों ने मनुष्य जाति के मस्तिष्क को हानि पहुंचाई हैं, नहीं नहीं उनको मनुष्य से पशु बना दिया है क्योंकि पशु आगामी का विचार न करके वर्तमान स्थिति के लिए ही प्रयत्न करता है इसी प्रकार वर्तमान समय के मनुष्य भविष्य के प्रबन्ध को जो धर्म के द्वारा हो सकता है छोड़ कर वर्तमान के प्रबन्ध में जिसे कि वे धन से पूर्ण हो जाने वाला समझते हैं लग गए हैं, उन को यह ध्यान नहीं कि यह धन हमारे मरने पर हमारे संग नहीं जायगा और इस बात का ध्यान हो भी क्यों ! क्योंकि मृत्यु तो आगे होगी और उन्होंने पशुओं से यह पाठ पढ़ लिया है कि आगामी की चिंता ही न करनी चाहिए। केवल वर्तमान के लिए ही प्रबन्ध करना चाहिये। इसी लिये वे सम्पूर्ण देश का धन अपने अधिकार में लाना चाहते हैं:—

यदि कोई ऐसा काम धर्मानुकूल करे तब तो कोई शिकायत का स्थान नहीं, परन्तु यह तो अपने साथियों को हानि पहुंचाकर, उनको अपने अधिकार में लाकर अपना राज्य बनाना चाहते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि प्राकृतिक नियमानुकूल मनुष्य इस बातमें असमर्थ है। यह बिना परोपकार किये अपना भला नहीं कर सकता। क्योंकि परमात्माने मनुष्यके शरीरमें भिन्न २ अवयव रखकर यह बताया है जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का कोईभाग अपनी सहायतासे आप

ही लाभ नहीं उठा सकता जबतक कि वह अन्य अवयवों को उसमें सम्मिलित न कर लेवे। उदाहरणार्थ मनुष्य की आँख देखने से कोई लाभ नहीं उठा सकती जब तक कि हाथ उस वस्तु को न उठाले और पांव उस मार्ग पर न चलें जो कि आँख ने हाथ और पाँव को दिखाये हैं। आँख का कर्तव्य है कि पाँव को मार्ग दिखावे और हाथ को उठाने वाली वस्तु दिखावे। परन्तु हाथ भी उससे लाभ नहीं उठा सकता जब तक कि वह उसे अपने पास रक्खे, या तो देह पर मल ले या मुख में डाल दे और मुख भी उसे अपने पास रख कर अकेला उस से लाभ नहीं उठा सकता जब तक कि वह उसे पेट को न देवे। अब पेट उस के भाग करता है। यदि इन वस्तुओं में से जो कि उसके पास आई हैं कोई वस्तु खाने योग्य नहीं और इन आजाय रईसों को जिन्होंने कि वह पहुंचाई हैं समूल हानिकारिक हैं, तो वह तुरन्त ही वमन कर देता है और इस प्रकार इन अवयवों को बता देता है, जिस पदार्थ को तुमने प्राप्त किया वह तुम्हारे लिये हितकारी नहीं, तुम्हें उसकी प्राप्ति में धोखा हुआ। वह भाग जो कि अवयवों के योग्य नहीं उसे मल स्थान के मार्ग से निकाल देता है, शेष प्रत्येक अवयव के पास आवश्यकतानुसार भेज देता है। यदि अवयव स्वयं उस वस्तु से काम लेना चाहें तो प्रथम तो योग्य और अयोग्य का ही ज्ञान न होगा क्योंकि पहिली पहचान भोजन की नम्र और कठोर है यदि भोजन नम्र है तो पच जायगा कठोर पदार्थ आंख के लिये लाभ कारी नहीं, अब उस पदार्थ को देखती तो सब से प्रथम आंख है परन्तु रस ज्ञान के न होने के कारण कि यह नम्र है अथवा कठोर परीक्षार्थ हाथ को दे देती है। हाथ उसको नम्र अथवा कठोर है यह देख लेता है परन्तु उसे उसके रस का ज्ञान नहीं, भोजन में इसका भी सम्बन्ध है; अतः हाथ इस परीक्षा के निमित्त उसे मुख में रसना इन्द्रिय के पास भेज देता है। रसना यदि उसके रस बुरे देखती है तो उसे तुरन्त ही छोड़ देती है और यदि रस उत्तम हैं तो ग्रहण कर लेती है। नाक से गन्ध संबंधी सहायता लेते हैं जो बताती है कि यह पदार्थ दुर्गंध से पूरित और खाने के योग्य नहीं अथवा खाने योग्य है। जब यह सब अवयव अपनी शक्ति के अनुसार जांच कर लेते हैं तो मुख उस पदार्थ को पेट के पास भेज देता है। इन को वह शुद्ध कर बुरे भागों को निकाल देता है, और उत्तम अंशों को प्रत्येक की आवश्यकतानुसार विभक्त कर देता है। अब पेट के अतिरिक्त अन्य किसी अवयव के पास इतनी अग्नि नहीं कि वह वस्तु को शुद्ध कर के हानिकारक अंशों को निकाल कर शुद्ध शेष सब को

बांट सके, अतः बांटने का कार्य पेट को दिया गया। किसी भी अवयव को विना किसी दूसरे की सहायता के भोजन पचाने की शक्ति नहीं दीगई; क्योंकि शरीर के किसी एक अवयव को भूल से जो कोई विषैला पदार्थ देह में पहुंच कर सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुंचा सकता है। प्रत्येक को अपने ज्ञान के अनुसार उस के प्राप्त करने के प्रयत्न में लगाकर अन्त में जो इकला हो उसे हिस्सा-रसदी (भोजन भाग) बांटने वाले को सौंपा जाना उचित समझागया। इस प्राकृतिक शिक्षा से विदित होता है कि यदि एक अवयव दूसरे अवयव से विरोध करके अपना काम छोड़दे, अथवा उससे भी जो फल प्राप्त हो उसे भी अपने पास रखले तो परिणाम यह होगा कि अवयव अवश्य नष्ट हो जायगा, क्योंकि उस वस्तुसे जो भोजन उसे मिलता था सो न मिलेगा। प्रकृति बतला रही है कि जिस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अवयव एक दूसरे के लिये काम कर रहे हैं इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के लिये काम करना चाहिये जिससे कि स्वयं उसका अस्तित्व बना रहे, अन्यथा अपने लिये काम करने में तो अपने जीवन को बनाये रखना निरा असम्भव होगा। सारांश यह कि स्वार्थ का नाश ही उन्नति का पहला भाग है इस लिये नीति कार ने कहा था:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थ—यह मेरा और यह दूसरों का है ऐसा थोड़ी बुद्धि वालोंका विचार है, बुद्धिमान तो समस्त संसारको ही अपना कुटुम्ब समझते हैं। जब तक सम्पूर्ण जीवों को अपना न समझा जावे तब तक मनुष्यको उत्तम कार्य करने की शक्ति ही नहीं होती। कतिपय मनुष्य यह कहेंगे कि हमें अपनी जातिमें दूसरी जाति से स्वत्वप्राप्त करने की जागृति उत्पन्न करनी चाहिये, तथा उसको सहायता करना उचित है, परन्तु यह विचार प्राकृतिक नियमके नितान्त विरुद्ध है, जैसे एक जाति तो ज्ञानेन्द्रियों की दूसरी कर्मेन्द्रियोंकी और तीसरी नाड़ियों की अब यदि ज्ञानेन्द्रियां यह विचार करलें कि हमें कर्मेन्द्रियोंकी सहायता न करनी चाहिये तो आंख हाथको मार्ग न दिखाकर अपनी सजाति नाक, कान, रसना तथा त्वचा को मार्ग दिखावेगी, और अपनी वस्तुओंकी माहियत (आन्तरिक दशा) बतावेगी, जिसको कि इनमें से एक भी उठाने की शक्ति नहीं रखती। परिणाम यह होगा कि आंख न तो स्वयं भोजन प्राप्त कर सकेगी, और न अपनी

सजाति ज्ञानेन्द्रियोंको भोजन मिलने देगी। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कौमी ख्याल (जाति का भाव) मनुष्य जातिके लिये हानिकारक है। जब तक मनुष्य प्रत्येकको अपना भाई समझ कर उसके स्वत्व छीनने से न हटेंगे और अपने हृदय में शत्रु मित्र का भेद रखेंगे तब तक उन्नति का स्वप्नमें भी दर्शन न होगा। इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य बिना विचार जातिके प्राणिमात्र की सहायतार्थ प्रयत्न करे, जिससे स्वयं उसका अस्तित्व भी बना रहे। यहां से एक और पाठ भी मिलता है कि यदि पेट अपने कामको भली भांति न करे और उस भोजनको दूसरोंको बांटनेकी जगह अपने ही पास इकट्ठा करले, तो पेटमें दर्द आरम्भ होजाता है। तात्पर्य यह कि महान् क्लेश होजाता है। और यह क्यों? उस समय जब कि प्राण वायु जो कि प्रत्येक को उसका भाग पहुंचाता है पेटकी सहायता नहीं करता जिस प्रकार प्राण वायु शरीरके प्रत्येक अवयवमें रहकर उनसे काम करता है तथा पेटकी सहायता करके उनको बलिष्ठ करने के लिये आहार पहुंचाता है। इसी प्रकार संसारमें उस पुरुषका यह धर्म है जो कि प्रत्येक मनुष्य से काम कराना तथा उससे दूसरोंकी सहायता कराना चाहता है। जहाँ समाज में धन इकट्ठा करनेका विचार उत्पन्न होजाता है उसको कब्ज़ होजाता है। तुरन्तही उसके हाथ पांव ढीले होजाते हैं जिस प्रकार पेटमें अधिक समय तक वस्तुके रहनेसे शरीरके अवयवों को हानि पहुंचती है इसी प्रकार समाजके धनी होनेसे प्रत्येक मनुष्य शिथिल होजाता है, और चाहता है कि वह स्वयं काम न करे, क्योंकि जिस सोसाइटी [समाज] को सहायतार्थ वह काम करना चाहता था अब उस समाज ने धन एकत्रित करके अपनी आवश्यकताओं को काम पर निर्भर नहीं रक्खा, वरन् मजमूआ (इकट्ठा करने) पर रक्खा है। अब जिस प्रकार पेटमें (आहारके) इकट्ठा पड़े रहनेसे सिवाय हानि के किसी को लाभ नहीं होता इसी प्रकार समाजके पास अधिक धन रहनेसे उसके अङ्ग मनुष्योंमें शिथिलता होकर अति हानि पहुंचाती है, और आपसमें स्वार्थ फैल जाता है, क्योंकि पहिले मनुष्य-समाज से पाठ लेते थे अब समाज उनको एकत्रित करनेका पाठ पढ़ाती है। जो स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार हो नहीं होसकता। इसलिये परमात्माने बताया कि तुम किसीका धन लेनेकी इच्छा न करो। जब समाजका प्रत्येक अङ्ग नेक तथा अपने में धर्म रखने वाला होगा तो समाज भी इसी प्रकारका होगा, और जब समाज इस प्रकारका होगा तब अवश्य ही संसार में सुख ही सुख दीखेगा। परन्तु जब तक मनुष्य

ईश्वरको सर्वव्यापक न माने तबतक प्राणअर्थात् धर्म रह नहीं सकता, अब जिस प्रकार प्राण वायुकी सहायता अग्निसे होती है उसी प्रकार धर्मकी सहायता परमात्मासे होती है, जहां अग्नि थोड़ी हुई वायु बिगड़ना आरम्भ होता है, इसी प्रकार जहां ईश्वरका विश्वास और उसके सर्वव्यापी होनेका विचार दूर होजावे वहां धर्म भी बिगडने लगता है, और फिर मनुष्य पापसे नहीं डरता है, इसके लिये एक कथा कहता हूं:—

कथा—एक गुरुके दो शिष्य थे एक तो ईश्वरको सर्वव्यापक मानता था और उसे विश्वास था कि वह पहाड़की सर्वोच्च शिखा एवं अतिअगाध समुद्र की सबसे नीची तहों में विद्यमान हैं कोई स्थान उससे शून्य नहीं। परन्तु दूसरा शिष्य इसके विरुद्ध था और ईश्वर को एक देशी समझता था उसको विश्वास नहीं था कि परमेश्वर प्रत्येक स्थान पर रहता है, प्रत्युत वह यह सोचता था कि ईश्वर प्रत्येक घर में नहीं रह सकता ! क्यों कि बहुधा उनमें मैले हैं, भला कहीं उनमें मेरा ईश्वर रह सकता है ? वह नहीं जानता था कि परमात्मा सबको शुद्ध करते हैं उनको कोई अशुद्धि किसी स्थान या वस्तु के कारण नहीं लग सकती। गुरूउसको समझाता पर वह न समझता. साकारोपासना पर अभिमान किया करता। एक दिन गुरु ने कहा कि जब तक ईश्वर को सर्वव्यापक न माना जावे तब तक संसारसे पाप दूर नहीं हो सकते और जब तक संसार में पाप रहेगा उस समय तक मनुष्यों को सुख नहीं प्राप्त हो सकता। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख के लिये ईश्वर को सर्वव्यापक मानना उचित है। यह सुनकर उस एक देशी की उपासना करने वाले शिष्य ने कहा कि मैं कभी पाप नहीं कर सकता, गुरू ने दो चार दिन पीछे दोनों को दो पशु दिये और कहा कि ऐसे स्थान पर मारना जहाँ कि कोई देखता नहीं एक देशी ज्ञान वाला शिष्य यद्यपि सुजन था परन्तु इस अविद्या के कारण उसमें सोचने की शक्ति बहुत ही न्यून थी, उसने एक कोठरी में आकर किवाड़ बन्द करके तुरन्त उसे मार दिया दूसरा शिष्य जहां कहीं गया प्रत्येक स्थान पर उसे ईश्वर दिखाई दिया। उसने विचारा कि गुरू की यह आज्ञा है कि जहां कोई न देखता हो वहां मारना, परन्तु ऐसा स्थान कोई नहीं अतः इसको कहीं भी नहीं मार सकते। सार यह कि इन विचारों से एक शिष्य तो मार लाया और दूसरा जीता ही लौटा लाया। गुरू ने कहा, क्यों भाई तुमने इसे कहां मारा वहां कोई देखता तो न था ? और दूसरे से कहा कि तुमने मेरी

आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया और इसको क्यों नहीं मारा, तो शिष्यने उत्तर दिया कि "महाराज" आपकी आज्ञा थी कि जहां कोई न देखे वहां इसको मारना। परन्तु मुझे संसार में कोई स्थान ऐसा न दीखा कि जहाँ मैं इसे मारता। अर्थात् जहां पर कोई न था वहां भी ईश्वर विद्यमान था।

इति।

भोगवाद।

—o—

संसार में कार्य करने के लिये जब तक मनुष्य चिन्ता रहित नहीं तब तक वह अपना कार्य नहीं कर सकता। चिन्ता उसके कार्य (अप्राप्त इष्ट) तक चलनेमें पग २ पर रुकावट डालती है कभी उसे प्यासका ध्यान कभी क्षुधा का भय कभी मृत्यु का भय पग २ (कदम २) पर संकल्प बदलता है और संसार के संबन्ध अनन्त हैं उनको समाप्त करके अप्राप्त इष्ट की तरफ चलना असम्भव है। निदान नतो कोई मनुष्य इन वर्त्तमान कार्यों को समाप्त कर सकता है, और नहीं उसे मुक्ति के लिये साधन करने का अवकाश मिल सकता है, मनुष्य आगे के लिये निराश होरहा है परन्तु ईश्वर हमारे सामने एक और दृश्य सन्मुख करता है जिसको देखकर मनुष्य की आशायें पुनः हरी भरी होजाती हैं अर्थात एक मनुष्य कृषि आता है जब उस बोने वाले मनुष्य को कोई दृष्टिगोचर करता है तो उसे खयाल आता है कि बड़ा मूर्ख है जो अपने आहार को पृथ्वी के ऊपर बखेर रहा है परन्तु थोड़े ही काल में कृषि पक जाती है तब वह मनुष्य कि जिस ने अपने अन्न को प्रत्यक्षवादी होने के कारण पृथिवी पर नहीं डाला था क्या देखता है कि बोने वालेने जितना बीज बोया था उससे शतगुणा अन्न अपने घर में ला रहा है और जो अपने अन्न को केवल खाने में ही व्यय कर रहा था उसका अन्न कम हो गया निदान खाने का नाम भोगना और बोने का नाम कर्म समझना चाहिये यद्यपि प्रत्यक्ष में खाने वाला अपने अनाज को ठीक ही काम में लाता है और बोने वाला ठीक नहीं काम में लाता क्योंकि अन्न क्षुधा के लिये ही बनाया गया है परन्तु वास्तव में बोने वाला अपनी आयु के आगे का प्रबन्ध करता है क्योंकि वह केवल प्रत्यक्ष वादी नहीं है, परन्तु खाने वाला यद्यपि अन्न को प्रकटतया ठीक प्रकार से सेवन करता है तथापि वास्तवमें अपनी आगे की दशा को खराब कर रहा है क्यों कि वर्त्तमान सामग्री

तो किसी न किसी दिवस समाप्त होने वाला है क्योंकि इसमें खाने से अल्पता होती है और उन्नति का मार्ग जो बोना है उसे प्रत्यक्ष अर्थात् वर्त्तमान दशा में निष्फल जानकर उसने छोड़ दिया है वास्तव में संसार में मनुष्यों दो प्रकार, के हैं एक प्रत्यक्षवादी जो वर्तमान का प्रबन्ध करता है और भविष्यत का कुछ विश्वास नहीं रखता है और परोक्षवादी वर्त्तमान पर ध्यान नहीं देता है क्यों कि वह जानता है कि जो कुछ पूर्व वर्ष में बोया था वही घर में उपस्थित है अथवा यह पका हुवा खेत खड़ा है अतः बोने के ही ध्यान में लगा हुआ है वह जानता है कि जो मैंने बो लिया है वह पक चुका है और अब वह मेरे श्रम से बदल नहीं सकता उसको तो भविष्य में जो बोना है उसकी ही चिन्ता है अतः प्रत्यक्षवादी को सदैव से शास्त्र कार नास्तिक कहते हैं और मूर्ख सर्वदा प्रत्यक्षवादी होते हैं और विद्वान् परोक्ष वादी, जैसे लिखा है:—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः

अर्थ—जितने देवता अर्थात् विद्वान हैं वह परोक्ष से मित्रता और प्रत्यक्ष के शत्रु होते हैं और मूर्ख लोग इस के विरुद्ध होते हैं सम्पूर्ण कर्मफिलास्फी की जड़ परोक्ष के आश्रय है प्रत्यक्ष वादी कर्म कर ही नहीं सकता क्यों कि फल आने वाला क्षण परोक्ष है जिस पर उसे विश्वास नहीं अतः प्रत्यक्षवादी नास्तिक होते हैं नास्तिक में कर्म करने की शक्ति ही नहीं होती परन्तु भोगवादी आस्तिक होने से कर्मों के फल का नाम भोग ख्याल करता है; जैसा कि लिखा है:—

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । योगदर्शन ॥

अर्थ—पूर्व जन्म के कर्म रूप मूल से तीन फल मिलते हैं एक जाति अर्थात् जन्म, पशु या मनुष्यका दूसरा आयु अर्थात् कितने श्वांस तक इसशरीर रूपी जेल म रहना होगा--भोग अर्थात् दुःख सुख--निदान कर्म का पका हुआ फल यह तीन वस्तु हैं, नतो कोई मनुष्य अपना शरीर बदल सकता है और नहीं आयु बदल सकती है और न भोग बदला जासकता है क्योंकि यह तीनों पदार्थ अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त नहीं होसकते किन्तु यह फल कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से ही मिलता है, यदि जीवों की इच्छानुसार शरीर मिलता तो कोई जीव भी नीच योनि में नहीं जाता कोई आदमी बदशकल लूला लंगड़ा और कोढ़ी दृष्टि गोचर नहीं होता--यदि जीव के आधीन। भोग होता तो कोई

भी संसार में दुःखी न होता जीवों का अल्प आयु में मरने वाला दुःखी और कुरूप देख कर अनुमान होता है कि जीव ने इन वस्तुओं को अपनी इच्छा से स्वीकार नहीं किया, किन्तु सम्पूर्ण शास्त्रकारों का सर्वतन्त्र सिद्धांत है कि यह पदार्थ हमको पराधीनता से मिले हैं अर्थात् हमारा यह शरीर जेलखाना है क्यों कि जहां हम अपनी इच्छा से जाते हैं उसे घरादिक से प्रसिद्ध करते हैं परन्तु जहां हम जाना नहीं चाहें और जाना पड़े तो उस विरुद्ध इच्छा वाले मकान को जेल ही कह सकते हैं शास्त्रकारों ने तो सारा संसार ही जेल बताया है, जिसमें जीव ममता अर्थात् मोह रूपी जंजीर में बंधा हुआ कैद है महर्षिपतञ्जलि तो सारे संसार बनाने का फल ही भोग और अपवर्ग अर्थात् मुक्ति बतलाते हैं जैसा कि पतञ्जलि जी लिखते हैं:—

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

अर्थ—इस संसार के अभ्यन्तर तीन प्रकार की योनियां हैं एक भोग योनी जैसे गाय महिषी अश्वादि जीव । जो वेदों की शिक्षा से ईश्वर नियमानुसार अनभिज्ञ रहते हैं-यह सम्पूर्ण पूर्वले कर्मों का फल भोगते आगे के लिये कुछ नहीं कर सकते दूसरे कर्मयोनि जो मुक्ति से लौटकर संसार में बिना माता पिता के जन्म लेते हैं यह केवल भविष्यत के वास्ते ही कर्म करते हैं उनका पूर्वला भोग कुछ नहीं होता तीसरे उभय योनि जो पिछले कर्मों का फल भोगते और भविष्यत के वास्ते करते हैं, वह मनुष्य हैं परन्तु मनुष्य करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र । कर्म योनि वाले नितान्त स्वतन्त्र और भोग योनि वाले नितान्त परतन्त्र हैं, निदान यह संसार पशुओं को अपने पूर्वले कर्मों का फल भोगने के वास्ते और कर्मयोनियों को पुनः मुक्ति प्राप्त कराने के योग्य कर्म कराने के वास्ते और मनुष्यों को पूर्वले कर्म भोगने के वास्ते और आगे के वास्ते कर्म कराने के लिये परमात्मा ने बनाया है । जब यह अच्छे प्रकार ज्ञात हो जावे कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है तो भोग की अपेक्षा मनुष्य का शरीर भी एक जेल है कैदियों को क्या रोटी की चिन्ता करनी योग्य है कदापि नहीं क्योंकि जो गवर्नमेन्ट किसी कैदी को जेलखाने में भेजती है वह भोजन जरूर देती है क्योंकि उसकी आज्ञा बिना खुराक दिये पूरी नहीं हो सकती जैसे एक मनुष्य की दो वर्ष की कैद है यदि गवर्नमेन्ट उसे खुराक नहीं दे तो वह बहुत शीघ्र मर जावेगा जिससे सरकार की वह आज्ञा कि यह दो वर्ष तक जेल में रहे पूरी नहीं हो सकती निदान अपनी आज्ञा को

पूरा करने के वास्ते गवर्नमेन्ट आप ही खाने को देगी। आज तक आर्यावर्त में इतने कहत पड़े परन्तु किसी कहत में कैदियों को क्षुधा पीड़ित नहीं देखा क्या कैदियों का कर्तव्य अपनी बीमारी के वास्ते औषध करना है, कदापि नहीं, क्योंकि यह जिम्मेवारी भी गवर्नमेन्ट ने ले रक्खी है, कैदी का कर्तव्य छूटने का उपाय करना है निदान जो कैदी रोटी तथा औषध के ध्यान में लगा रहता है वह अपना समय व्यर्थ खोता है प्रायः मनुष्य प्रश्न करते हैं कि कैदी को छूटने का फिक्र क्यों करना चाहिये? क्योंकि नियत इयत्ता (मियाद) पर तो स्वयं ही गवर्नमेन्ट छोड़ देगी। परन्तु यह विचार नहीं क्योंकि गवर्नमेन्ट इस समय तो नियत इयत्ता पर छोड़ देगी परन्तु उसका स्वभाव ऐसा हो चुका है कि जिससे पुनः कारागार में आवे छूटने से अभिप्राय जेल में दो बारा न आने का है अतः महर्षि पतञ्जलि ने बतलाया है।

हेयं दुखमनागतम् ।

अर्थ—भविष्यत्त दुःख त्यागने योग्य है जब तक मनुष्यों के हृदय में यह दृढ़ निश्चय न हो जावे कि मैं कर्म करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र हूं तब तक मनुष्य मुक्ति पद को प्राप्त करने योग्य नहीं होता क्योंकि भोग उलटा करने की इच्छा में जितना समय व्यय किया जाता है वह सब व्यर्थ जाता है जैसे एक गृह जो बहुत कठिन धातु का बना हुआ है यदि कोई उस मकान में द्वार के मार्ग से जाना चाहे तो सुगम है परन्तु यदि दीवार से निकलना चाहे तो समय को व्यर्थ खो देता इस कर्त्तव्य और भोग के लिये परमात्मा ने कृषि को दृष्टान्त दिया है बोना कर्म है और काटना भोग है बोने में मनुष्य स्वतन्त्र है चाहे जो बोवे। गेहूं अथवा चना पचास बीघा बोवे या १० बीघे परन्तु काटनेके खेतको गेहूं बनाने के वास्ते यत्न करे तो सौ वर्ष पर्यन्त के श्रम से भी वह चनों का खेत गेहूं नहीं बना सकता परन्तु गेहूं का द्वितीय खेत बो कर दूसरे वर्ष में ही गेहूं उत्पन्न कर सकते हैं निदान जो कर्म का पका हुआ फल है उसके बदलने की शक्ति किसी में नहीं उसके बदलने के वास्ते परिश्रम करना आयु का व्यर्थ खोना है संसार में चाहे कैसा ही विद्वान् राजा अथवा बली रहे परन्तु भोग के बदलने में सब परतन्त्र हैं क्या आपने नहीं देखा कि हमारा चक्रवर्ती एडवर्ड सब से बड़ा राजा है जिसके राज्य में ११४००००० वर्ग मील पृथ्वी है जिसकी प्रजा चालीस करोड़ मनुष्यों से अधिक हैं जो लंदन जैसे बड़े नगर में रहता है जहाँ बड़े डाक्टर और पदार्थ विद्या के विद्वान् रहते हैं परन्त उस नगर में रहते हुवे

भी इतने अधिक बलवान् राजा का लड़का युवावस्था में मृत्यु को प्राप्त होगया परन्तु क्या कोई पदार्थ विद्या का ज्ञाता (साइंटिस्ट) या कोई सेना उसकी रक्षा कर सकी ? जब इतना महान राजा जिसके इतना सामान होते हुए भी अपने पुत्र की रक्षा न कर सका तो क्या वह मनुष्य मूर्ख नहीं जो थोड़ी सी पूंजी के विश्वास पर अथवा मुस्तकिल फंड (निधि) के भरोसे पर यह आशा रखते हैं कि वह भोग बदल लेंगे यह बात भी किसीसे छिपीहुई नहीं कि एडवर्डसप्तम के गद्दी पर बैठने का दिवस२६जून नियत हुआ था लंदनकी पार्लीमेंटके उत्तम प्रबंध से रुपये पैसा की कोई कमी न थी परन्तु भोग ऐसा बलवान दृष्टिगोचर हुआ कि महाराज ऐडवर्ड को २६ जून के स्थान में १६ अगस्त को तख्त पर बैठना पड़ा और उत्सव भी २६ जून की जगह १६ अगस्त को हुआ परन्तु क्या महाराजा की गद्दी का दिवस रुपये की कमी के कारण विकल्प को प्राप्त हुआ कदापि नहीं क्या पार्लिमेंट का प्रबंध ठीक नहीं था ? कदापि नहीं । क्या किसी शत्रु ने कोई झगड़ा डाला जो उत्सव को पीछे हटाया ? नहीं तो स्पष्ट उत्तर देना पड़ता है कि भोग ने रोक दिया । महात्मा रामचन्द्र की दशातो सब को ज्ञात है कि प्रातः काल गद्दी पर सुशोभित होंगे यह आज्ञा हो चुकीथी सारे नगरमें उत्सव मनाये जारहे थे परन्तु वह कौनसी शक्ति है कि जिसने राजा, मंत्री, सभासद, और प्रजा की इच्छा के विरुद्ध रामचन्द्र जी को गद्दी पर बैठने के स्थान में वनवास दिलाया । जिधर विचारो स्पष्ट शब्दोंमें भोगकी प्रबल शक्ति सिद्ध होती है संसार में कोई शक्ति नहीं जो भोग को बदल सके क्योंकि भोग उस प्रबल शक्ति की आज्ञा का नाम है कि जिसकी आज्ञाको महाराज जार रूस जैसे जिसकी चालीस लाख सेना हो डाइनामेटके गोले तोपखाना बन्दूक तयार करनेके प्रबंध जिसके यहां हों वह एक क्षण भर भी नहीं रोक सकते । यद्यपि भोग हमारे ही पुरुषार्थ से बनता है अतः भोग से पुरुषार्थ बड़ा है परन्तु जब भोग उत्पन्न हो चुका तो पुनः पुरुषार्थसे बदला नहीं हो सकता । जिसप्रकार जो हमारेही पुरुषार्थ से बोये गये थे परन्तु जब पकचुकेतो अबहमारा परिश्रम किसभांति उन्हेंबदल सकता है नहीं बदल सकता ? एक दो चार दृष्टान्त ही नहीं किंतु पग २ पर इतिहास भोग की प्रबल शक्ति को सिद्ध कर रहा है ?

प्र०—स्वामी दयानन्द और तमाम ऋषियों ने तो पुरुषार्थ को बड़ा बताया है तुम भोग को प्रबल बताते हो ? ?

उ०—स्वामी जी ने लिखा है कि जीव करने में स्वतंत्र और भोगने में परतंत्र

है निदान जहां स्वतंत्र हो उसी में कर्म करना आवश्यक है क्योंकि स्वतंत्रः कर्ता स्वतंत्र ही करता होता है और जहां परतंत्र है उस में करने से कोई लाभ नहीं हो सकता क्योंकि यदि काम करने से कृत कार्यता हो जावे तो परतंत्रता न रही और जिसमें कृत कार्यता की आशा नहीं उसमें प्रयत्न करना मूर्खता है क्योंकि भोग पुरुषार्थ से बनता है अतः भोग की अपेक्षा पुरुषार्थ को गुरुत्व दिया है परंतु पुरुषार्थ जीव के आधीन हैं चाहे करे चाहे उलटा करे।

और भोग जीव के आधीन नहीं क्योंकि संसार में कोई भी ऐसा नहीं जो दुःख भोगना चाहता हो परंतु न चाहते हुवे भी बड़े बादशाह राजा महाराजा सेठ साहूकार बड़े २ योद्धा बहादुर सब ही भोगते हैं कोई भी अपने पुरुषार्थ से भोग को बदल नहीं सकता। द्वितीय कोई मनुष्य नहीं जो सुख प्राप्तकरने का श्रम नहीं करता हो परंतु सबके यत्न करते हुवेभी सुख प्राप्त नहीं होता प्रायःदुःख ही प्राप्त होता है।

प्र०—क्या मनुष्यों को भोग पर विश्वास करके पुरुषार्थ को नितांत छोड़ देना चाहिये।

उ०—मनुष्योंको एक क्षणके लिये भी पुरुषार्थ से रहित नहीं रहना चाहिये। किंतु पुरुषार्थ अनागत उन्नति के लिये करना चाहिये वर्तमान भोग को बदलने के लिये पुरुषार्थ करना मूर्खता है कारण यह है कि भोग में परतंत्र होने से कृतकार्यता नहीं होती केवल दुःख और आपत्ति ही प्राप्त होती है और जो अनागत के लिये पुरुषार्थ करता है वह यदि ज्ञान के विरुद्ध न हो तो अकृत कार्य नहीं हो सकता और उसे किसी दशा में निराश भी नहीं होना पड़ता।

प्र०—यदि सब ही भोगवादी हो जावें कोई दुकनदारी भी न करें जिसका फल यह होगा कि संसार के सम्पूर्ण प्रबंधों में गड़ बड़ होजावे और लोग आलसी होकर भूखे मरने लगें ?

उ०—यह विचार ठीक नहीं ! कि भोगवादी आलसी होता है कारण यह है कि इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि खाने वालों से बोने वाला अधिक पुरुषार्थी होता है। द्वितीय यह बात है कि यदि सब भोगवादी हो जाव तो संसार के सम्पूर्ण प्रबंधों में गड़ बड़ हो जावे यह और भी मिथ्या हैं कारण यह है कि भोगवाद किसी कार्यको नहीं रोकता किंतु नियत बदलता है। अब जो कार्य स्वार्थी अपने भोग बदलने के लिये करता है वह दूसरों को लाभ पहुंचाने की इच्छा से किये जायेंगे।

प्र०—वर्तमान के लिये तो प्रत्येक ही कार्य कर सकता है अतः पुरुषार्थ भी प्रत्येक ही कर सकता है परन्तु अनागत का सब को निश्चय नहीं होता अतः उसके लिये प्रत्येक पुरुषार्थ नहीं कर सकता ?

उत्तर-विद्वान् और सुशिक्षित मनुष्य तो अनागत के लिये ही पुरुषार्थ करते हैं परन्तु मूर्ख मनुष्य वर्तमान के लिये जैसे यह सब का माना हुआ सिद्धांत है कि देवता बोते हैं खाते नहीं मनुष्य खाते और बोते हैं और पशु केवल खाते हैं बोते नहीं देवता का अर्थ विद्वान् जो पूर्णतया वेदों का ज्ञाता हो और जो भविष्यत के लिये ही प्रबन्ध करता हो जैसा कि महर्षि शंकराचार्य से प्रश्न किया गया कि जब तुम संसार में वैदिक धर्म का प्रचार करना चाहते हो कि जिस से सब ही विरुद्ध हैं रोटी का भी प्रबन्ध किया जिस का उत्तर स्वामी शङ्कराचार्यजी यह देते हैं।

प्रारब्धाय समर्पितं निजवपुः

अर्थात् मैंने यह शरीर तो भोगके ऊपर छोड़ दियाहै अब मैं केवल अपना कार्य करूंगा। जब कि स्वामी शङ्कराचार्यके मानसिक सङ्कल्प ऐसे उत्तमथे कि वह केवल वैदिक धर्म को फैलाते और अपने लिये कुछ भी नहीं करना चाहते वास्तव में भोगवाद कृत कार्यता की ताली है जो इस को समझ लेता है तो दुःखों से मुक्त होजाता है और वह जानता है कि भोग ही ऐसा है तो वह मित्रनाशत्रुता से भी मुक्त होजाता है वह समझलेता है कि भोग अतिरिक्त जो मेरे कर्मों का फल है दूसरा मनुष्य मुझको दुःख सुख देही नहीं सकता जब कि कोई दुःख का देने वाला ही नहीं तो शत्रु किसको समझे और किस को मित्र। सुपुरुष जितने भोगवादी होंगे उतना ही उस धर्म को कृतकार्यता प्राप्त होती है और उन धार्मिकों के मन में ईश्वर का विश्वास और शान्ति होगी और जिन मनुष्यों का भोग पर विश्वास नहीं है वह मुक्ति को किसी दशा में भी प्राप्त नहीं कर सकते कारण यह है कि संसारकी आवश्यकताओं से उनको अवकाश नहीं मिल सकता है जब कि वह मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करें भोग ऐसा अटल है कि उस के विरुद्ध किसी को कृतकार्यता प्राप्त हो नहीं सकती अतः जो पुरुषार्थ भोग के बदलने के लिये किया जाता है वह व्यर्थ जाता है उस में अकृतकार्यता होने के कारण दूसरी ओर काम कर हो नहीं सकता यूरोप की जितनी अशान्ति है उसका कारण भी नास्तिकता अर्थात् भोगवाद का अभाव है। यूरोप निवासियों का अनुकरण [नकल] करने वाले एंगलोवैदिक मनुष्यों में जो

अशान्ति है उस का कारण भी भोगवाद से अरुचि है परन्तु भोगवाद को प्रत्येक मूर्ख पुरुष नहीं समझ सकता इस को समझने के लिये ब्रह्मविद्या आत्म विद्य कर्म फल विद्या [कर्मफ़िलासफी] पर दत्त चित्त होकर विचारने की आवश्यकता है जो मनुष्य इन विद्याओं से रहित है उन के लिये यह सिद्धांत केवल हंसी करने से अधिक लाभदायक नहीं होसकता परन्तु विद्वान् के विचार में यही भोगवाद शान्ति का कारण और कृतकार्यता की कुंजी और ईश्वर विश्वास का लक्षण है ॥ इति

नवीन और प्राचीन शिक्षा प्रणाली की तुलना ।

व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्य माप्यते ॥

अर्थ—'परमात्मा इस वेद मंत्र में जीवों को उपदेश करते हैं कि जब मनुष्य सत्य को जानने के लिये अपने चित्त में दृढ़व्रत धारण करता है कि चाहे मुझे संसार में कितना ही दुःख हो, चाहे मेरे शरीर की कैसी ही दशा हो परन्तु मैं सत्य को प्राप्त किये विना नहीं रहूंगा उस समय ही वह सत्योपदेश सुनने का अधिकारी होता है' ।

हम संसार में देखते हैं कि ऐसा कोई मत अथवा सम्प्रदाय नहीं कि जिस में सत्य की प्रशंसा न हो और जो कि मिथ्या भाषण को बुरा न समझता हो वैदिक धर्म तो ललकार कर कह रहा है किः—

"नहि सत्यात् परोधर्मो नानृतात् पातकं परं" ।

अर्थ—'सत्य से वढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से वढ़कर कोई पाप नहीं।' शेख सादी कहता है किः—

'रास्ती मूजिबे रज़ाये खुदास्त ।
कस न दीदम् कि गुम शुदज़् राहे रास्त' ॥

अर्थ—सत्य परमात्मा की प्रसन्नता का कारण है, मैंने किसी को सीधे (सत्य) मार्ग से भूलते हुए नहीं देखा । ईसाई मत भी सत्य को उत्तम बताते हैं। परन्तु जिस समय हम न्यायालय में देखते हैं तो वहां ईसाई मुसल्मान, हिन्दू, ब्राह्म और आर्य्य, सारांश यह कि प्रत्येक मत के अनुयायी असत्यसाक्षी देते हुए दीख पड़ते हैं, जिससे पता लगता है कि यह लोग

आठ आने से जो उनको साक्षी में मिलते हैं सत्य का उत्तम नहीं समझते। यदि बाज़ार में जाकर देखते हैं तो दो आने की वस्तु के अढ़ाई आने माँगने वाले सैकड़ों दिखाई देते हैं जिससे पता चलता है कि ये लोग आध आध आने से सत्य को तुच्छ समझते हैं जिस सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं, जो सत्य कि परमात्मा की प्रसन्नता का हेतु है वह सत्य ऐसी शोचनीय दशा में क्यों ? इसका उत्तर यह है कि व्रत न होने के कारण मनुष्यों ने सत्योपदेश से लाभ नहीं उठाया। जैसे कि यदि कोई बिना जोते हुए खेत में पोस्त का बीज बो दें तो प्रथम तो हरा ही नहीं होगा और जो कहीं धरती नरम हुई और वह हरा भी हो गया तो फल कभी नहीं आता, इसी प्रकार जो व्रत से रहित आत्मा हैं उन पर प्रथम तो सत्योपदेश का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता और यदि पड़ा भी तो अधिक समय तक नहीं ठहरता। इसी कारण प्राचीन ऋषि वेदों की शिक्षा के लिये जो कि सत् विद्याओं का पुस्तक है ब्रह्मचर्य व्रत को आवश्यक बताते थे, परन्तु जब से ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट हो गया तभी से आलिम वा अमल का उत्पन्न होना बन्द हो गया और इसी लिये मनुष्य सत्य के गुण जानते हुए भी तदनुसार बरत नहीं सकते। व्रत होने के पश्चात् उपदेश होगा तो उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। परन्तु सुन लेने से सुख नहीं मिल सकता, वरन् तदनुकूल आचरण करने से और सुख में श्रद्धा होती है अतः जब मनुष्य सत्याचरण करता है तभी उसे सुख मिलता है जिससे कि सत् पर उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है और अन्य मनुष्यों को भी सत्य पर विश्वास हो जाता है। अतः देशमें भलाई फैलाने के लिये यह आवश्यक है कि आलिम वा अमल उत्पन्न हों। परन्तु इस बात से कोई विरुद्ध नहीं है कि उत्पन्न करना शक्ति के आधीन है और संसार में शक्ति वा अधिकार केवल विचारों का ही है जिन से कि एक मृतक जाति जीवित बन सकती है। जो सदाचारी को दुराचारी और दुराचारी को सदाचारी बना सकते हैं विचार ही हैं। जो शूरों को कायर और कायरों को शूर बना सकते हैं। अब देखना यह है कि विचार काहे से उत्पन्न होते हैं ? उत्तर मिलता है कि शिक्षा और संगत से। जिस प्रकार की शिक्षा मिलेगी वा जैसे मनुष्यों का संग होगा वैसे ही विचार हो जावेंगे। सुतराम देश के विचारों के सुधार के लिये आवश्यक है कि शिक्षा में सुधार किया जावे और स्वार्थ एवं पक्षपात को छोड़ कर निर्णय करना उचित है कि किस प्रकार की शिक्षा की हमें आवश्यकता है जिससे कि हमारे देश का दुर्भिक्ष दूर हो रोग निवृत हो, मल-

स्य का नाश हो कायरता भागकर शूरता आवे स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने की शक्ति हो, सत्यासत्य का विवेचन कर सकें और शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति प्राप्त हो। यद्यपि इस देश में नाना प्रकार की शिक्षा हैं, परन्तु जिस ओर देश की आँखे लग रही हैं वह दो ही प्रकार की है। एक तो प्राचीन शिक्षा जिसको पूर्वीय शिक्षा भी कह सकते हैं और दूसरी नवीन शिक्षा जिस का नाम पाश्चात्य शिक्षा है बहुत से मनुष्य कहते हैं कि दीपक का प्रकाश पूर्व में हो या पश्चिम में उस के मूल में कोई भेद नहीं हो सकता इसी प्रकार शिक्षा [विद्या] एक पदार्थ है वह चाहे पश्चिम में हो चाहे पूर्व में, शब्द भेद तो हो सकता है परन्तु अर्थ भेद कभी नहीं हो सकता और जब कि अर्थ भेद न हुआ तो उसे दो प्रकार की कहना उचित नहीं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकाश एक ही वस्तु है परन्तु चिमनी जिस रङ्ग की लगाई जाय उस रङ्ग का प्रकाश भी दीख पड़ता है तथा भिन्न प्रकार के ग्लोब [चेंग्रन] लगने से भिन्न प्रकार का प्रकाश का प्रभाव नेत्रों पर पड़ता है जिससे पता चलता है कि उपाधि भेद से प्रकाश में भी भेद हो जाता है। अतः पूर्वीय और पाश्चात्य शिक्षण प्रणाली आचार एवं रीति भांति के कारण शिक्षा में बहुत ही अन्तर दीख पड़ता है, नहीं, नहीं, जिस प्रकार कि पूर्व पश्चिम एक दूसरे के विरुद्ध हैं जिनका मिलना असम्भव है इसी प्रकार पूर्वीय और पाश्चात्य शिक्षा भी विरुद्ध ही हैं जो कि कभी मिल नहीं सकती। जो मनुष्य कि प्राचीन तथा पाश्चात्य शिक्षा को मिला कर एक कर देना चाहते हैं वह भारी भ्रम में हैं क्योंकि पूर्वीय शिक्षा परोक्ष को उत्तम समझती और पाश्चात्य प्रत्यक्ष को अतः दोनों के एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण दोनों का एक ही उद्देश्य रहना लाभ के बदले हानि कारक होगा पूर्वीय शिक्षा का मोटो [आदर्श] है।

राइट इज माइट अर्थात् सत्य ही शक्ति है।

परन्तु पाश्चात्य शिक्षा का मोटो [आदर्श] इसके विरुद्ध यह है कि—

माइट इज राइट अर्थात् शक्ति ही स्वत्व है।

अर्थात् जिसकी लाठी उसकी भैंस। पूर्वीय शिक्षा उसको सभ्य बताती है जो अपना जीवन बिना दूसरों को हानि पहुंचाये व्यतीत करते हैं, परन्तु पाश्चात्य शिक्षा इसके नितान्त विरुद्ध हैं, क्योंकि यूरोपियनों की सम्मति में जो शक्ति कि अपने विरुद्ध शक्ति को हानि न पहुंचा सके सभ्य कहाये जाने

के योग्य नहीं। उदाहरणार्थ जापान ही को देख लीजिये कि यद्यपि जापान में शिल्प एवं शिक्षा आदि सर्व उत्तम गुण बहुत दिन पहिले से विद्यमान थे, परन्तु जापान की गणना असभ्य देशों में थी, क्योंकि उस ने इस बात का परिचय नहीं दिया था कि उसमें दूसरी जातियों के लाखों मनुष्य काट देने की शक्ति है परन्तु जहां उसने रूस के तीन चार लक्ष मनुष्य काट डाले न भट उस को गणना सभ्य जातियों में होने लगी। अब जापान को कोई भी असभ्य नहीं कहता। चीन तथा भारतवर्षादि को तो अभी तक लोग असभ्य कहते हैं, परन्तु ईश्वर न करे जब यह लोग भी किसी देश के दश बीस लक्ष मनुष्य काट कर अपनी निर्दयता का परिचय देंगे कि उस समय यह भी सभ्य कहाये जाने लगेंगे। ऊपर के उदाहरण से यह तो निश्चय हो गया कि पूर्व और पश्चिम की शिक्षा में विरोध है और उनका एक संग होना असम्भव है, परन्तु यदि एक शिक्षा दी जावे तो कौनसी हितकारक होगी इस बात का विचार करना है। यह तो प्रत्येक मनुष्य मानता है कि शिक्षा एक प्रकाश है जिसका काम मार्ग बताने का है। अब हम देखते हैं कि पाश्चात्य शिक्षा से मनुष्य को अपना जीवोद्देश्य जान पड़ता है कि नहीं और उसको अपने हानि लाभ का ज्ञान है भी या अन्धकार में ही अपने जीवन काल को काटता है। इसके लिये आप किसी यंग ग्रेजुएट से मिलकर पूछें मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है तो बहुधा तो यही उत्तर देंगे कि खाओ पिओ और चैन करो। परन्तु जब उनसे कहा जाता है कि यह बातें पशुओं को भी प्राप्त हैं जिन पशुओं का मांस मनुष्य खाते हैं, उनको सिंह श्वान और भेड़िये भी तो खाते हैं। तो उसके उत्तर में मौनव्रत धारण करके अपनी सत्य प्रियता का परिचय देते हैं, क्योंकि जिस मनुष्य को अपनी पूंजी का पता न हो उसको हानिलाभ का ज्ञान कैसे हो सकता है इसी प्रकार जो मनुष्य जीवात्मा के रूप से अपरिचित है उन्हें मनुष्य जीवनोद्देश्य का किस भांति ज्ञान हो सकता है।

दूसरी ओर पूर्वीय शिक्षा में जिस दिन बालक उत्पन्न होता था उसी दिन उस को शिक्षा दी जाती थी कि उसके जीवन का उद्देश्य क्या है? बहुत से लोग प्रश्न करेंगे कि हमने तो कभी जन्म के दिन ही शिक्षा देते हुए किसी को देखा ही नहीं? परन्तु यदि किसी ने किसी आर्य पुरुष के घर में जन्म संस्कार होते हुए देखा है तो उसने देखा होगा कि प्रथम पण्डित ने एक कटोरे में मधु और घृत मिलाया फिर एक स्वर्ण की सलाई लेकर बालक की जिह्वा पर ओ३म्, लिख दिया और उसके कान में कह दिया वेदोसीति तेरा नाम वेद है

इस कार्यवाही को बहुत से मनुष्य तो पोपलीला समझते हैं और कतिपय मनुष्य मूर्खता के समय की एक कुरीति समझते हैं परन्तु तत्व ज्ञानी जानते हैं कि आचार्य्य ने बालक को जीवन पर्य्यन्त कर्तव्य कर्मों को बता दिया उसने बताया कि जिस प्रकार तेरे शरीर के लिये यह घृत सब से अधिक बल देने वाला है और जिस प्रकार कि तेरी साँसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यह स्वर्ण लाभ दायक है उसी प्रकार तेरी आत्मा के लिये यह ॥ओ३म॥ है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस में जीवात्मा के रूप का तो वर्णन किया ही नहीं गया परन्तु ऐसा नहीं, आचार्य ने कान में यह शब्द कह कर कि तेरा नाम वेद है इसका भी वर्णन कर दिया क्योंकि वेद शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ है सत्ता अर्थात ऐसी वस्तु जो तीनों काल में रहे। ज्ञान और लाभ है' इससे विदित होता है कि जीवात्मा तीनों काल में रहने वाला द्रव्य है जो कि ज्ञान वाला है और सन्सार में लाभ उठाने के लिये आया है, और यह लाभ क्या है। ईश्वर प्राप्ति ! परन्तु यदि वर्त्तमान समय में आप किसी स्कूल [पाठशाला] में जाकर पूछें तुम पढ़कर क्या करोगे तो सौ पीछे अस्सी विद्यार्थी नौकरी ही बतायगे; भला जिस शिक्षा का उद्देश्य ही सेवकाई हो उससे देश को कहां तक लाभ हो सकता है ?

पेङ्गलो—जो मनुष्य राज्य भाषा पढ़ाने को अच्छा नहीं बताते और प्राचीन शिक्षा को उत्तम बताते हैं वे निरे मूर्ख हैं ?

वैदिक—मनुष्य जिस को ईश्वर ने बुद्धि दी है सब कार्य लाभ को देखकर किया करता है, जिस कार्य से हानि हो उसे बुद्धिमान् करना नहीं चाहता, जिस शिक्षा से कि देश को लाभ न पहुंचे वह चाहे राज्य भाषा हो वा सम्राट भाषा उस के लिये परिश्रम करना निरर्थक है।

ऐ०—आङ्गल भाषा से देश को बहुत से लाभ पहुंचे हैं, पुराने धोती परशादों को तो बुद्धि ही नहीं अतः वह और उन के अनुयायी अपनी मूर्खता से बुरा बताते हैं, अन्यथा इसका लाभ तो सूर्य से भी अधिक प्रकाशित होकर दीख रहा है।

वै०—किस प्रकार का लाभ देश को इससे हुआ है यह बताना उचित है दुर्भिक्ष, प्लेग, मुकदमे बाज़ी, शारीरिक, आत्मिक, आर्थिक वा आचार संबंधी ?

ऐ०—क्या दुर्भिक्ष आंगल (अंग्रेजी) शिक्षा का फल है ? कदापि नहीं वरन देश की जन संख्या बढ़ती जाती है और प्राचीन शिक्षा ने भिखारियों की संख्या

बढ़ारक्खी है, इसी से दुर्भिक्ष फैलरहा है, यदि देश वासी शिल्प करते तो यह अधोगति न होती ।

वै०—कृपा निधान ! यदि विचार करके देखें तो सब बुराइयां इसी भृत्यता (नौकरी) की शिक्षा के कारण उत्पन्न हुई हैं, इस शिक्षा के पदारोपण करनेके पूर्व देश में शिल्पादि सब विद्यमान थे, अब भी देश में इतना अन्न उत्पन्न होता है कि जिसे तीन वर्ष तक भी देश नहीं निमटा सकता, और भीख मांगने वाले निस्संदेह देश के लिये भार हैं, परन्तु उन से देश को इतनी हानि नहीं जितनी अंग्रेजी पढ़े हुओं से, यह सब आपकी ही कृपा है ।

प०—यह सब व्यर्थ की बकवाद है, अंग्रेजी शिक्षा से देश को आर्थिक सहायता पहुंचती है, भीख मांगने वाले को तुम देश के लिये भार समझते ही हो और अंग्रेजी शिक्षा से जो हानि देश को होती है उसके लिये तुमने कोई युक्ति नहीं दी अतः तुम्हारा कथन युक्ति रहित है ।

वै०—यह तो मानी हुई बात है कि हमारे देश के शिक्षित मनुष्य अन्य देशों से कुछ कमाना नहीं जानते और नाहीं आज तक विदेशों से कोई विशेष द्रव्य इनकी कृपा से भारतवर्ष में आया है, परन्तु भारत में इनके तीन समुदाय हैं प्रथम समुदाय अर्थात् वकील और बैरिस्टर, इस समुदाय से देश को कितना आर्थिक लाभ पहुंचता है इसको मोटी समझ वाला मनुष्य भी विचार करने से जान सकता है, क्योंकि वकीलों को विदेशियों से तो कुछ मिलता नहीं किन्तु जिसका मुकदमा वे लड़ाते हैं उससे वे ५) सैकड़ा लेते हैं, परन्तु मुकदमा करने वाले को ७॥) सैकड़ा तलवाना आदि में देना पडता है, जिससे स्पष्ट विदित है कि जब किसी मुकदमे वाले को १५) की हानि हो तब वकील साहेब को ५) मिलें, मानों भारत की हानि में से १-३ उनको मिलता है, इस समय यदि भारतवर्ष में ५००० वकील मान लिये जावें और प्रत्येक की आय लगभग ३०० मानली जावे तो वकीलों को १५ लक्ष मासिक की आय वा यों कहिये कि भारत को ४५ लक्ष मासिक की हानि होती है, इसके अतिरिक्त जितने वकील बढ़ते जायेंगे उतनी ही मुकदमे बाज़ी बढ़ती जायगी, क्योंकि यदि मुकदमे बाज़ी न बढ़े तो वकील खावें कहांसे ? और मुकदमो बाज़ी में जितना समय तथा किराये आदि के कारण द्रव्य का नाश होता है वह तो प्रत्यक्ष है ही, परमात्मा न करे यदि वकीलों की संख्या ५००० से बढकर ४०००० होजावे तो जहां इस समय देशको ४५ लक्ष मासिकका घाटा पड़ता है वहां ४॥ करोड़ मासिक

त्था ५४ करोड वार्षिक तक यह संख्या पहुंच जावे, दूसरा समुदाय अर्थ स्वतंत्र अर्थात् डाक्टरों का है, परन्तु यह भी विदेश से कुछ कमाते तो नहीं जिससे कि देश को लाभ पहुंचे, यह अवश्य है कि जहां वे रोगी से २) फीस लेते हैं वहां उनसे २) विलायती औषधि के लिये भी उठवा देते हैं, जिससे कि थोडी बहुत देश की हानि ही होती है, अब रहा तीसरा समुदाय नौकरोंका सो उनकी यह दशा है कि बी० ए० तक पास करने में कोई ४ सहस्र मुद्रा उठते हैं और बड़े परिश्रम से कहीं ४० मासिक का वेतन मिलता है, जिसका स्पष्ट शब्दों में यह अर्थ है कि १) सैकडा का व्याज तो मिलता है परन्तु वेटा और मूल धन दोनों मारे जाते हैं,इसके अतिरिक्त विदेशी वस्तुओं के प्रचार से जितनी क्षति देश के शिल्पकों पहुंची है उसके कारण भी हमारे पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए भाई ही हैं यदि विदेश से कुछ धन आता है तो उनहीं कृषकों के श्रम से जिनको कि गंवार और अनपढ़ कहते हैं।

पं०—सम्पूर्ण भारतवर्ष मूर्ख और कायर था, यदि इसमें कुछ आत्मिक बल उत्पन्न कर दिया है तो पाश्चात्य शिक्षा ने ही।

व०—आप किसी स्कूल में जाकर पूछें कि विद्यार्थी पढ़कर क्या करेंगे तो प्रति सौ विद्यार्थियों में से ९० का उत्तर होगा कि 'नौकरी' (भृत्यता) भला जिन लोगों का उद्देश्य ही नौकरी वा दासपन हो उनमें तो ज्ञान और आत्मिक बल का नाम भी नहीं होसकता, निस्संदेह वाचालता तो बहुत दीखती है परन्तु कार्य क्षेत्र में इसके विपरीत पाया जाता है, बड़े बड़े लोगों की, जो कि सुधारक होनें का दम भरते हैं, आत्मिक निर्बलता के उदाहरण हैं, यदि आत्मिक बल उत्पन्न होसकता है, तो उस प्राचीन शिक्षा से, क्योंकि प्राचीन समय के ब्रह्मचारी नौकरी की इच्छा से पढ़ने नहीं जाते थे और नाहीं उस समय अब की सी दूषित शिक्षण प्रणाली थी।

पं०—इस समय की शिक्षा प्रणाली में क्या दोष है और प्राचीन में क्या गुण थे तथा किस अभिप्राय से ब्रह्मचारी शिक्षा पाने जाते थे?

वै०—तुम नित्य प्रति देखते हो कि स्कूल में धनी और कङ्गालोंके बालक जब जब पढ़ने जाते हैं तो धनी के बालक अपने माता पिताकी हैसियतके अनुसार भोजन वस्त्र पाते हैं, धनी का बालक निर्धनके मोटे और मैले भोजन और वस्त्र देखकर घृणा करता है कि यह कङ्गाल मेरे पास क्यों बैठता है, इधर कङ्गाल का बालक धनी के बालक के उत्तम भोजन और वस्त्र देखकर ईर्षा करता है कि

मुझे ऐसा क्यों नहीं मिलता, बस, जितनी शिक्षा बढ़ती जाती है उतनी ही घृणा और ईर्षा भी बढ़ती जाती है, हमारे देशी योग्य भाई जब विलायत से पढ़कर आते हैं तो उन्हें दीन भारतियों से मिलने में भी घृणा होती है, परन्तु प्राचीन शिक्षाप्रणाली इसके नितान्त विरुद्ध थी, क्योंकि प्राचीन समयमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को द्विज कहते थे, जिसका अर्थ दो जन्म वाला है, पहिला जन्म (संसारी) माता पिता से होता था और दूसरा जन्म विद्या माता एवं गुरु पिता से होता था, अथवा यों कहिये कि जितने बालक गुरुकुल में शिक्षा पाते थे उन सब के माता पिता एक होजाते थे, जिससे कि उन्हें भोजन और वस्त्र एक सा मिलता था तथा उनका चरित्र एक सा होता था, जिस का फल यह था कि वह एक माता पिता की संतान होकर ईर्षा और घृणासे रहित होते थे, अब लीजिये वह उद्देश्य जिनकी पूर्तिके लिये ब्रह्मचारी शिक्षा पाते थे; उसका चिन्ह प्रत्येक ब्रह्मचारी के गले में यज्ञोपवीत विद्यमान है, यद्यपि यज्ञोपवीत आज कल ताली बाँधने वा शपथ खानेके अतिरिक्त किसी अन्य काम का नहीं ? परन्तु जो लोग कि इस के तत्व को जानते हैं, उन को पता है कि इसका नाम 'व्रत बन्ध' "प्रतिज्ञा सूत्र" अर्थात् जो प्रण करके ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करने जाता है उसका यह बतानेवाला है और गांठ इसलिये दीजाती है कि जिस समय उस गांठको देखेंगे समस्त प्रतिज्ञाओंका स्मरण होजाय। बहुतसे मनुष्य प्रश्न करते हैं कि आज कल वे व्रत क्यों स्मरणमें नहीं आते इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें यज्ञोपवीत तीन तारका होता है परन्तु आज कल आपके गले में दो २ हैं। जब तक प्रत्येक ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के गले में एक ही एक रहा उस समय तक तो उसे पता लगता रहा परन्तु जब से कि पुरुषोंने स्त्रियों को मूर्खा रख कर उन पर शासन करने के अभिप्राय से उनका यज्ञोपवीत भी उतार कर अपने गले में डाल लिया उस समय से ही आशय मारा गया। बहुत से मित्र कहेंगे कि तीन तार के यज्ञोपवीत का क्या आशय था ? उसका उत्तर यह है कि ब्रह्मचारी प्रतिज्ञा करता है कि मैं तीन आश्रमों को पूर्ण करूंगा अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ, चतुर्थाश्रम संन्यास के प्रारम्भ में ही जनेऊ उतार दिया जाता है। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं तीन ऋणों को जो प्रत्येक मनुष्य पर हैं चुकाऊंगा अर्थात् देवऋण, पितृऋण, और ऋषि ऋण।

प्र०—हमने तो देवताओं से कुछ नहीं लिया यह देव ऋण हम पर कैसा है

३०—तुम नित्य प्रति शुद्ध वायु सेवन करते हो और अशुद्ध करके निकालते हो शुद्ध जल पीते हो और अशुद्ध करके निकालते हो तथा शुद्ध अन्न खाते हो और अशुद्ध करके निकालते हो जिससे स्पष्ट है कि तुम्हारे शरीर से वायु, जल, एवं पृथ्वी को प्रति दिन हानि पहुंचती है। जब तुम उनको प्रतिदिन हानि पहुंचाते और उसका बदला नहीं देते तो उनका तुम पर ऋण होता ही है और जब कोई मनुष्य ऋण लेता जावे और चुकावे नहीं तो थोड़े समय उपरान्त कुरकी होने लगती है। और हम लोग देवताओं को क्षति पहुंचाते हैं परन्तु उसका बदला नहीं देते अतः देवताओं के बिगड़ने से प्लेगादि महामारियों के रूप में कुरकियां होने लग गई हैं। तीसरी प्रतिज्ञा ब्रह्मचारी यह करता है कि मैं तीनों काण्ड वेद अर्थात् ज्ञान कर्म और उपासना को पूर्ण करूंगा चौथी प्रतिज्ञा यह करता है कि सत् रज तम् तीन गुण वाली प्रकृति को पार करके परमात्मा को प्राप्त करूंगा। पांचवी प्रतिज्ञा यह करता है कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं को पूर्ण कर मुक्ति को प्राप्त करूंगा और तीन प्रकार का जो बर्ताव है अर्थात् बड़ों का आदर बराबर वालों से प्रेम तथा छोटों पर दया, यह सर्वदा करूंगा और इसी प्रकार की और कई प्रतिज्ञायें हैं जिनको पूरा करने के लिये शिक्षा प्राप्त करते थे। सबसे महानगुण प्राचीन शिक्षा प्रणाली में यह था कि वह मनुष्य के शरीर को सुदृढ़ तथा आत्मा को बलवान् करती थी और आपस में इतना प्रेम उत्पन्न करती थी कि मनुष्य एक माता पिता की संतान हो जाते थे परन्तु वर्तमान शिक्षा प्रणाली से मनुष्य का शरीर निर्बल हो जाता है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है क्योंकि स्कूल और कालिजों में इस बात का कोई बंधन नहीं कि विद्यार्थी विवाहित है या अविवाहित और नाहीं उनकी आवश्यकताओं को थोड़ा करने की ओर ध्यान दिया जाता है किन्तु आवश्यकताओं को बढ़ाकर उनकी आत्मा को इतना निर्बल कर दिया जाता है कि वे नौकरी या बेईमानी से द्रव्योपार्जन के लिये बाध्य हो जाते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली अवश्य ही मनुष्य को बेईमान (अधर्मी) बना देती है। उदाहरणार्थ एक मनुष्य के पांच बालक हैं और २०) मिलता है अब यदि वह अपनी सन्तानें को पढ़ाता नहीं तो निम्न लिखित श्लोकानुसार वह अपनी सन्तान का वैरी और पापी बनता है।

"माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः
न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये बकोयथा"

अर्थ—वे माता पिता वैरी होते हैं जो अपनी सन्तान को नहीं पढ़ाते क्योंकि अनपढ़ सन्तान सभा में मान नहीं पाते, जैसे कि हंसों में बगुले की शोभा नहीं होती और यदि पढ़ाने का यत्न करता है तो कालिज वा स्कूल जहां भी भेजता है वहाँ पर छात्रालय एवं शिक्षालय [स्कूल और बोर्डिंग] का शुल्क मिलाकर न्यून से न्यून १०) मासिक एक बालक के लिये मांगते हैं। इस प्रकार ५ बालकों के लिये ५०) मासिक की आवश्यकता है और वेतन केवल २०) मात्र अब यदि बिचारा घूंसादि से कमाकर बालकों को पढ़ाता है तो इधर बेईमानी होती है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि देश में जो चर्चा निर्धनता और इस बात की फैली हुई है कि देश के शिक्षित जन देश और जाति सम्बन्धी कार्यों में योग नहीं देते इसका कारण भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली ही है क्योंकि वर्तमान शिक्षा प्रणाली बाल विवाह को नहीं रोकती अतः देश में निर्धनता फैलती है जैसे कि एक बालक का ८ वर्ष की अवस्था में विवाह किया जाता है और उसमें १ सहस्र व्यय होता है अब यदि बालक १८ वर्ष की अवस्था में विवाह से लाभ उठाने योग्य हो तो दस वर्ष तक एक सहस्र के व्याज की हानि हुई जो लगभग दो सहस्र के होता है यदि १८ वर्ष की अवस्था में बालक का विवाह किया जाता तो १ सहस्र के तीन सहस्र होते मानो विवाह का व्यय देकर २ सहस्र बच रहता है। इसके अतिरिक्त कन्या मर जावे तो पुनः विवाह करने में न्यारा धन लगाना पड़े और वह मर गया तब तो जीवन पर्यंत दुःख-अर्थात् बाल विधवा घर में पड़ा हुई समय व्यतीत करे इधर जाति से भय न करने का यह कारण है कि जाति का उन पर कोई ऋण नहीं, यदि उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है तो अंग्रेज़ी गवर्नमेंट के प्रबंध तथा अपने माता पिता के धनसे, फिर वे जाति सेवा करें तो क्यों करें? परन्तु प्राचीन शिक्षा इन सब दोषों को दूर करती थी। प्रथम तो वह ब्रह्मचारियों की आवश्यकताओं को थोड़ा करना सिखाती थी, जिस से वे शरीर के दास बनने के बदले देह के स्वामी बनते थे, ब्रह्मचर्य धारण करने से शरीर सुदृढ़ होता था, वेदों की शिक्षा और ईश्वर भक्ति से आत्मा बलवान एवं गुरू को पिता और विद्या को माता मानने से सब भाई बनते थे जिससे कि समाज बलवान होता था। वास्तव में ऋषि दयानन्द के इन शब्दों का अर्थ कि संसार का उपकार करना आर्य-समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना केवल प्राचीन

शिक्षा प्रणाली को प्रचलित करना है, जिसको कि ऋषि ने दूसरे अवसर पर कहा था कि वेद सत् विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है। अब यदि कोई पढ़े पढ़ावे नहीं तो सुनना सुनाना किसप्रकार हो सकता है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में अधर्मी बनाने का दोष था ही नहीं; क्योंकि किसी को भी पढ़ाने के लिये व्यय वा फोस नहीं देनी पड़ती थी। वेद ने २५ वर्ष में अधिक से अधिक दश सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी है, जो कि गणित से २॥ वर्ष में एक बालक होता है जब एक बालक ५॥ वर्ष का हुआ दूसरा पांच वर्ष का, और तीसरा ७॥ वर्ष का परन्तु पांचवें वर्ष की समाप्ति वा आठवें वर्ष के आरम्भ में ब्रह्मचारियों का गुरुकुल जाना आवश्यक है अतः घर में दो ही बालक रह सकते हैं। इन में छोटे की देख भाल माता और बड़े की पिता करता था और शेष सब बालक गुरुकुल में होते थे गुरुकुल में विवाहित नहीं लिये जा सकते थे। अतः उन सबका ब्रह्मचारी रहना आवश्यक था, जिससे न तो बालविधवाओं की संख्या बढ़ती थी, न व्याज से घाटा होकर निर्धनता बढ़ती थी, और नाहीं शरीर दुर्बल होता था और सब ब्रह्मचारी सात वर्ष तक तो माता पिता के द्रव्य से पलते थे और और १८ वर्ष तक जो वह गुरुकुल में शिक्षा पाते थे वहां उन को देश वा जाति की ओर से व्यय मिलता था अतःयदि वह सात भाग माता पिता के कृतघ्न होते थे तो १८ भाग उनपर जाति का ऋण होता था, जिसको उतारना कि वे अपने जीवन का उद्देश्य समझते थे यदि हम ध्यान पूर्वक विचार करें तो प्राचीन शिक्षा प्रणाली के समय शरीर और मस्तिष्क बलिष्ठ होने के कारण हम जगत गुरु कहलाते थे और चक्रवर्ती राजा पर्यंत सुख भोगते थे तथा नौकरी के इच्छुक न थे। परन्तु वर्तमान शिक्षा ने हमारे मस्तिष्क बिगाड़ कर विलायती बना दिया। जिससे कि देशी वस्तुएं हमें रुचिकर हो नहीं होतीं; इसीलिये हमारे देश के शिल्प का अन्त हो गया और शिक्षित समुदाय जो नये नये आविष्कारों के द्वारा विदेश से धन कमाता था दासत्व का अभिलाषी एवं देश के धन को दूसरे देश में भेजकर दुर्भिक्ष फैलाने का कारण हो गया प्राचीन शिक्षा से देश में कैसे कैसे मनुष्य उत्पन्न होते थे और नवीन से कैसे कैसे मनुष्य उत्पन्न होते हैं इसका विचार करना है; नवीन शिक्षा के मनुष्य तो आपके सामने हैं ही केवल दो चार प्राचीन शिक्षा के मनुष्यों का नाम लेने से आप स्वयं तुलना करके देख सकते हैं, महात्मा रामचन्द्र जी की कथा आप

रामायण में पढ़ते हैं दूसरे रामलीला में देखते हैं कि महाराजा रामचन्द्र जी के पिता आज्ञा देते हैं कि राज्य छोड़कर बनको चले जाओ, पिता अपने मुख से नहीं कहते किन्तु माता कहती है और माता भी सगी नहीं किन्तु सौतेली माता, धर्मात्मा रामचन्द्र यह शब्द सुनकर एक साथ राज्य को त्याग बन को चल देता है, यदि आजकल की शिक्षा पाया हुआ होता तो तुरन्त कह देता कि राज्य तो वंश परम्परा से चला आता है, पिता को इस के मेरे से छीन-कर दूसरे को देने का क्या अधिकार है? अब जब धर्मात्मा रामचन्द्र पिता की आज्ञा से बन को जाने लगे तो महात्मा लक्ष्मण सोचते हैं कि रामचन्द्र धर्म भाव से बन को जाते हैं, भाई का धर्म है विपत्ति में साथ देना तो क्या ऐसी दशा में मैं अपने धर्म को छोड़दूं? भीतर से उत्तर मिलता है कदापि नहीं! बस, वह भी रामचन्द्र जी के साथ बन को तय्यार होते हैं, अब महारानी सीता भी अपने पतिव्रत धर्म का विचार करते हुये साथ जाने को प्रस्तुत होती हैं महात्मा राम, लक्ष्मण तो गुरुकुल में पढ़ते हुये बन को देख चुके थे, उन्हें वहाँ के भयंकर दृश्य भली प्रकार स्मरण थे, वह सीता को समझाने लगे कि बन में सिंह, बाघ और भेड़ियों के भयंकर शब्द होंगे, पृथ्वी कंटकों से पूरित होगी और पैरों चलने से सहस्रों कष्ट होंगे, परन्तु सीता इन बातों का उत्तर एक वाक्य में दे देती है कि यदि ऐसा ही भयंकर बन है तो आप क्यों जाते हैं। धर्मात्मा रामचन्द्र कहते हैं कि मैं तो पिता की आज्ञा पूर्ण करने के लिये जाता हूं सीता उत्तर देती है कि जब आप अपने पिता की आज्ञा से ऐसे बन में जाना स्वीकार करते हैं तो क्या मैं अपने पिता की आज्ञा न पालूं? मेरे पिता ने भी तो यही आज्ञा दी थी कि यह तेरा पति है, इनका संग न छोड़ना अब जब आप अपने पिता की आज्ञा के सामने दुःखों का ध्यान नहीं करते तो मैं भी अपने पिता की आज्ञा के सामने किसी दुःख का ध्यान न करूंगी। यह तीनों तो जाते हैं परन्तु इस के आगे का जो दृश्य है संसार का इतिहास उसका एक भी उदाहरण नहीं दे सकता:—

महात्मा भरतजी को राज्य मिलताहै, परन्तु राज्य को अंगीकार ही नहीं करते।

माता कहती है राज्य तेरे लिये मैंने मांग लियाहै। मंत्री आदि सब कहते हैं कि राज्य तुम्हारे लिये राजा ने दिया है परन्तु भरत कहते हैं कि मैं नहीं लूंगा मेरा स्वत्व नहीं। मैंने वेदों में पढ़ा है।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ ईशोप ॥

अर्थ—यह जगत समष्टि और व्यष्टि रूप से ईश्वर से ढका हुआ और ईश्वर का निवास स्थान है, कोई स्थान वा परमाणु संसार में ऐसा नहीं कि जहां परमात्मा न हो, पर्वतों की ऊंची शिखर तथा समुद्र के गहरे से गहरे तल पर एवं पर्वतों की अंधेरी से अंधेरी गुफाओं में ईश्वर व्यापक है, उस परमात्मा के दिये हुए को तुम भोगो और किसी दूसरे का स्वत्व मत छीनो, लोग कहते हैं कि जब पिता तुम्हारे लिये दे गये, रामचन्द्र तुम्हारे लिये छोड़ गये, हम सब तुम्हें देते हैं तो यह अब तुम्हारा ही होगया, परन्तु भरत उत्तर देते हैं कि निस्संदेह तुम देते हो परन्तु वेद में यह नहीं लिखा कि पिता के दिये माता और भ्राता के दिये अथवा मंत्री के दिये हुए को भोगो, किन्तु वहाँ तो लिखा है कि ईश्वर के दिये हुए को भोगो, लोग कहते हैं कि यह ईश्वर ही ने दिया है जब कि पिता दे गये, भ्राता ने दिया और सर्व सम्मतिसे (हमलव) दे रहे हैं, परन्तु भरत कहते हैं कि कदापि नहीं, ईश्वरीय नियम यह है कि राज्य बड़े भाई का होता है, यदि ईश्वर मुझे राज्य देते तो क्या मुझे रामजी से पहिलेनहीं उत्पन्नकर सकते थे ? बस जब मुझे ईश्वर ने बड़ा नहीं बनाया तो राज्य पर मेरा स्वत्व नहीं अतः मैं राज्य नहीं लूंगा; अब उपर्युक्त उदाहरणों से यह तो निश्चय होगया कि प्राचीन शिक्षा आत्मा को इतना बलवान बना देती थी कि उसके सामने राज्य कोई वस्तु नहीं ठहरता था प्राचीन मनुष्य धर्म के लिये राज्य को तुच्छ समझ कर छोड़ने में समर्थ थे, उन्हें राज्य त्याग देने में कोई कष्ट नहीं होता था, आगे पता चलता है कि इन्हें राज्य प्राप्त करना भी कोई दुर्लभ बात न थी, जब रामचन्द्रजी को लङ्का पर चढ़ाई करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उन्हों ने भाई भरत को समाचार भी नहीं भेजा यह भी नहीं लिखा कि थोड़ी सी सेना भेज दो अथवा थोड़े से अस्त्र शस्त्र तथा धन आदिक कुछ भेज दो किन्तु वहीं वन से ही मनुष्य तत्पर किये और लङ्का जीत लाये, अतः प्राचीन शिक्षा मनुष्यों को त्यागने तथा प्राप्त करने को एक तुच्छ कार्य समझने वाला बनाती थी, परन्तु नवीन शिक्षा उसे दो तीन सौ वा सहस्र दो सहस्र की नौकरी पर अभिमान करने वाला बनाती है अतः यह कहना पड़ता है कि इस और उसकी क्या तुल्यता, प्राचीन इतिहास

में इस प्रकार के लाखों उदाहरण भरे पड़े हैं, सब से पीछे के समय का उदा० हरण जिस के पश्चात् की प्राचीन शिक्षा का ढंग बिगड़ना प्रारम्भ हुआ महात्मा भीष्म का है, जब कि महात्मा बाल ब्रह्मचारी भीष्म गुरुकुल से शिक्षा प्राप्तकर के घर आते हैं तो एक दिन पिता के मुख पर दुःख के लक्षण देख कर चकित होते हैं कि इस दुःख का क्या कारण है ? पिता का राज्य स्थिर है प्रकट में कोई शत्रु भी आक्रमण करता नहीं दीख पड़ता, सन्तान भी है, धन सम्पत्ति का भी कोई घाटा नहीं और नाही कोई संबंधी भी मरा है, परन्तु पता लगाने से जान पड़ा कि पिता के दुःख के कारण भी स्वयं भीष्म ही थे, यद्यपि भीष्म ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था जिससे कि पिता को दुःख हो, परन्तु काल का ऐसा चक्र आपड़ा कि भीष्मही दुःखका हेतु होगये, कारण यह कि राजा शन्तनु एक क्षत्रिय की कन्या पर मोहित होगये और उनसे विवाह की प्रार्थना की, क्षत्रियने उत्तर दिया कि मैं अपनी कन्या का विवाह राजा से नहीं करूंगा क्योंकि मेरी कन्या का पुत्र राजा नहीं होगा किन्तु भीष्म राजा होगा, अहा ! कैसा उत्तम समय था कि मनुष्य आजकल की भांति धनवान देख कर अथवा धन लेकर दश वर्ष की कन्याको साठ वर्षके बूढ़े से विवाह कर इस प्रकार दादा और पौत्री का विवाह नहीं करते थे किन्तु अपनी संतान को संतान समझते थे और एक साधारण क्षत्रिय अपनी कन्याका विवाह, केवल इसकारण कि उस की कन्याका पुत्र राजा नहीं होगा, एक महान राजा से विवाह करने को उद्यत नहीं, इस प्रकार भीष्म विवाह में रुकावट होने का कारण पिता के दुःख का हेतु होगये, क्यों ? इसलिये कि पिता यह नहीं चाहता था कि अपने लिये भीष्मका स्वत्व छीन लेवे, क्योंकि भीष्म योग्य था जिसके राजा होने पर प्रजा को दुःख के बदले सुख मिलता, बस यही राजा को दुःख था, जब यह भेद भीष्म को ज्ञात हुआ तो वे चित्त में बड़े खिन्न हुए और कहने लगे कि मैं कैसा पुत्र हूं जिसका होना पिता के दुःख का हो, पुत्र का अर्थ तो है कि जो अपने माता पिता को दुखों से छुड़ावे, अन्त में भीष्म का महान हृदय पिता के इस दुःख को सहन न करसका, वह उस क्षत्रिय के पास पहुंचे और कहा कि क्यों नहीं तुम अपनी कन्या का विवाह राजा के संग करदेते ? उस क्षत्रियने कहा कि क्यों करूँ जब कि मेरी कन्या का पुत्र राजा नहीं होगा किन्तु राजा तुम होगे, तो क्या मैं अपनी कन्या को दासी बनाने के लिये देदूं ? नहीं, मुझ से ऐसा कदापि नहीं होसकता। भीष्मने कहा कि अच्छा, मैं प्रसन्नता से राज्य छोड़ता हूं अब अपनी कन्या का विवाह राजा से करदो

तुम्हारी कन्या का पुत्र ही राजा होगा, उस क्षत्रिय ने फिर भी विवाह करने को मने किया, भीष्म ने कारण पूछा और कहा कि क्या तुम्हें मेरी बातका विश्वास नहीं ? उस क्षत्रियने उत्तर दिया कि तुम ब्रह्मचारीहो अतः मुझेतुम्हारी बात पर विश्वास है परन्तु तुम राज्य न भी लोगे तो तुम्हारी संतान जो पराक्रमी होगी अपना स्वत्व जान मेरी कन्या के पुत्रों को मारकर राज्य छीन लेगी। अब भीष्म-चकित थे कि इसका क्या उत्तर दें अन्त में कहा कि जाओ। मैं विवाह ही नहीं करूंगा, जब मैं विवाह नहीं करूंगा तो मेरे संतान किस प्रकार से हो सकेगी, अब उस क्षत्रिय ने अपनी कन्या का विवाह शन्तनु से कर दिया और उससे चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्नहुए और उनका अम्बा और अम्बालिका नामकी दो स्त्रियों से विवाह होगया, परंतु वे अभी बालक ही थे कि महाराज शांतनु का देहांत होगया। अब कोई पुत्र राजा बनाने योग्य ही नहीं, लोगों ने भीष्म से राज्य करने को कहा, उसने उत्तर में पूछा कि क्षत्रिय वमन करके खासकता है, उत्तर मिला कि नहीं यह सुन भीष्म ने कहा कि तो मैं किस प्रकार राज्य कर सकता हूं, अतः भीष्म ने उनको गद्दी पर बैठाया और आपने उनकी सहायता प्रारम्भ की, परंतु वे बालक भी पुत्र हीन मर गये, अब तो फिर लोगों ने भीष्म से कहा कि जिनके लिये आपने राज्य छोड़ा था वह अब नहीं रहे आप गद्दी पर बैठे, परंतु भीष्म ने उत्तर दिया कि उस समय कोई ऐसी बात नहीं निश्चित हुई थी इसलिये मैं किसी अवस्था में भी अपनी प्रतिज्ञा तोड़ राजा नहीं बनसकता, हां निर्बल से निर्बल जो राजा इस कुल में होगा उसकी सेना बनने और रक्षा करने के लिये उद्यत हूं। अन्त में अम्बा और अम्बालिका ने व्यास जी से नियोग करके धृतराष्ट्र और पाण्डु को जन्म दिया जिस से कुल चला। परन्तु भीष्म जी ने इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया जिस का उदाहरण मिलना दुर्लभ है। क्या संसार के इतिहास में कोई ऐसा दृढ़मत मनुष्य जिसे कि बारम्बार राज्य मिलने का अवसर मिले और वह अपनी प्रतिज्ञा को न तोड़े मिल सकता है ? कदापि नहीं ! प्राचीन शिक्षा प्रणाली ही इस प्रकार के मनुष्य बना सकती थी। इस के पश्चात् प्राचीन शिक्षा प्रणाली देश के दुर्भाग्य वश अधोगति को प्राप्त होगई और देश में बाममार्ग का प्रचार चारवाकादि नास्तिकोंकी प्रबलता तथा बौद्ध और जैनमतका प्रचार और शङ्कराचार्य्य के उपदेश ने देशकी अवस्था को नाना प्रकार के पलटे दिये, जिससे शिक्षा की अवस्था डांवाडोल होगई। तो भी प्राचीन शिक्षा प्रणाली थोड़ी बहुत बनी हुई थी। बौद्धों में उसी रीति से शिक्षा होती रही। यद्यपि थोड़ा बना

अन्तर अवश्य पड़ गया परन्तु अस्तित्व बना रहा और मुसलमानों के आक्रमण तक कोई २ चिन्ह विद्यमान थे।

जब मुहम्मद कासिम ने सिंध पर चढ़ाई की तो सिंधपति राजा दाहिर रण में मारे गये। उनकी रानी ने भी यवनों का मुक़ाबला किया परन्तु जब राजपूतों की सेना कटगई तो रानियाँ ने चिता में जलने का प्रबंध किया, क्यों कि उस समय में धर्म्म के लिये प्राण देने में बूढ़े बालक और स्त्री पुरुष किसी को हिचकिचाट नथी। दाहिरकी रानीकी राजधानीके समीपही एक गुरुकुल था जिसमें कि क्षत्रियों के बालक भी शिक्षा पाते थे। जब उन्हें पता लगा कि राज नाश होगया, मातायें जलने के निमित्त चिता रचरही हैं तो अंतिम दर्शन के लिये ब्रह्मचारी गुरुसे आज्ञा लेकर आये। जिस समय मातायें उन ब्रह्मचारियों को देखती हैं तो मारे शोक के अपने दुख को भूल जाती हैं और उन बालकों के बचाने के उपाय सोचती हैं, जब कोई उपाय नहीं सूझता तो कहती हैं कि बेटा! जाओ भाग कर प्राण रक्षा करो। यह सुनकर बालक कहते हैं कि माता क्या क्षत्रियों के धर्म्म में भागकर प्राण रक्षा करना लिखा है? मातायें उत्तर देती हैं कि ऐसा तो नहीं लिखा। तब बालक कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं लिखा तो हमें धर्म्म के विरुद्ध क्यों आज्ञा दी जाती है? माता कहती हैं कि अच्छा आओ तुम हमारे साथ चिता में बैठ जाओ, परन्तु इसके उत्तर में बालक पूछते हैं कि तो क्षत्रियों के धर्म्म में आत्मघात करना लिखा है जिस के उत्तर में मातायें कहती हैं कि कहीं नहीं लिखा। बालक पूछते हैं कि फिर हमें धर्म विरुद्ध कार्य करने की क्यों आज्ञा दी जाती है यह सुनकर मातायें पूछती हैं कि यदि ऐसा नहीं तो बताओ फिर तुम क्या करोगे? बालक उत्तर देते हैं कि जो हमारा धर्म है सो ही करेंगे माता बताती हैं कि तुम्हारा धर्म तो युद्ध में मरना है। बालक कहते हैं कि बस हम ऐसा ही करेंगे। १०-११ वर्ष के बालक छोटा २ खड्ग और धनुष बाण लेकर यवन-सेना से युद्ध के लिये जाते हैं जिन यवनों ने कि बड़े २ राजपूतों को मार दिया हो उनके सामने एक छोटी २ आयु में छोटे २ बालकों का जाना एक अनोखा दृश्य था। मातायें सोचती थीं कि क्या करें? यदि ये बालक रण से भाग आये तो राजपूत कुल को कलंक लगेगा और जो डर कर रण भूमि में शस्त्र रख दिये तो राजपती रुधिर पर धब्बा लगेगा। अन्त में कहती हैं बेटा! जाते हो तो जाओ परन्तु कहीं रणसे भाग न आना जिससे राजपूत कुल को कलङ्क न लग जाये या कहीं शत्रु को

शस्त्र अर्पण न कर देना नहीं तो राजपूती रक्त पर कायरता का धब्बा लग जावेगा। यह सुन बालक कहते हैं।

यदपि हिमाचल शृङ्ग होय भूतल पर आड़े।
यदपि सूर शशि खसे धसें जो नभ पर ठाड़े॥
यदपि सिन्धु इक बिन्दु होय सूखे क्षण माहीं।
तदपि क्षत्रि के पुत्र तजें रण में असि नाहीं॥

अर्थ—चाहे हिमालय की शिखर टेढ़ी होकर पृथिवी पर आ जावे सूर्य चन्द्र जो आकाश में हैं टूट कर पृथिवी में धंस जांय और चाहे समुद्र एक बूंद होकर सूख जावे, क्षत्रिय के पुत्र भूमि में शस्त्र नहीं डाल सकते।

काढ़ि धरें असि हाथ करें भुज ठोक यही प्रन।
कै नाशें रण माहिं शत्रु कै नाशे निज जीवन॥

अर्थ—दृढ़ हाथों से खड्ग पकड़ कर और भुजा ठोक कर हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि या तो रण में वैरी का नाश करेंगे या अपने जीवन का। फिर कहते हैं—

जौन मंत्र हम लियो जौन हम पाई शिक्षा।
आज युद्ध कर गौन तौन हम करें परीक्षा॥

अर्थात् जैसा हमने गुरू से मंत्र लिया है और शिक्षा पाई है आज उस की समर भूमि में जाकर परीक्षा लेंगे।

जो पुर रक्षा हेतु सेतु जीवन को टूटे।
तो कछु चिन्ता नाहिं धर्म को पन्थ न छूटे॥

अर्थात् यदि देश की रक्षा में हम मारे जावें तो कोई चिन्ता नहीं धर्म मार्ग नहीं छूटना चाहिये फिर कहते हैं—

विदित सकल संसार वीर माता के जाये।
राखे देश का मान आपने प्राण गंवाये॥

अर्थात् समस्त संसार जानता है कि वीर माताओं से जन्म पाये हुए अपने प्राण देकर भी देश की रक्षा करेंगे।

पाठक ! इन छोटे २ बालकों की बातों पर ध्यान दीजिये, उन की देश भक्ति और उनका धर्म से प्रेम देखिये और साथ ही साथ इधर इस समय के नेताओं की ओर निहारिये कि जीभ से तो चिल्लावेंगे परन्तु परीक्षा के समय कोरे ही दिखाई देंगे यदि प्राचीन शिक्षा प्रणाली को राम बाण के समान रोगी की औषधि कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। मृतक देश में जो दोष आगये हैं वह सब इससे निवृत हो सकते हैं। क्योंकि ब्रह्मचारी होने से शारीरिक और आत्मिक निर्बलतायें तो दूर हो जावेंगी, बालविवाह के न रहने से विधवाओं का दुखड़ा दूर हो जायगा, गुरुकुलों में गौओं का पालन होने से गोरक्षा आपसे आप हो जायगी, परोपकार की शिक्षा होने से स्वार्थ का नाम मिट जायगा सब की विद्या माता और गुरु पिता होने से फूट का मुंह काला हो जायगा और वेद वेदांग की पूर्ण शिक्षा से अविद्या का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जायगा ब्रह्मचारियों के तपस्वी होने से विषयासक्ति भी भाग जायगी, सबको शिक्षा स्वदेशी रीति पर होने से उनके मस्तिष्क और विचार स्वदेशी हो जांयगे जिस से कि स्वदेशी वस्तुएं अच्छी लगने लगेंगी और देशी कला कौशल के प्रचार से देश का शिल्प और वाणिज्य उन्नति को प्राप्त होगा जिसके कारण मुंह काला करके देश से दुर्भिक्ष दूर होजायगा। स्थान २ पर हवन होने से वायु सुधर जायगी जिससे कि महामारी आदि रोग जो जल वायु की अशुद्धता के कारण वा शरीर के निर्बल होने से दबा लेते हैं, चलते हुए दीखेंगे। सारांश यह कि कहां तक कहें कोई भी शारीरिक आत्मिक और सामाजिक निर्बलता देश में नहीं रहेगी ऋषि दयानन्द ने अपनी विद्या विचार, योग और समाधि के बल से यही औषध इस देश के पुनर्जीवन करने को, नहीं नहीं समस्त संसार के उपकार की निकाली थी। और भारत वासी अनुगामी हैं विचारने वाले नहीं इसी लिये ऋषि दयानन्द ने प्रथम स्वयं उन उपायों का अवलम्बन किया जिससे कि इस निर्बल देशमें जन्म लेने पर भी इस योग्य होगये। सारा संसार उनका सामना न कर सका क्या। ऋषि दयानन्द कोई वस्तु भारत में लाया था ? कदापि नहीं। ऋषि से पूर्व वेद विद्यमान थे शास्त्र विद्यमान थे और उपनिषद् भी थे।

सारांश यह कि जिन वस्तुओं से भारत के मृतक शरीर में जीव आने की

आशा है वह सब पूर्व ही से उपस्थित थे परन्तु मनुष्य उनकी शक्ति और गुणों से अनभिज्ञ थे। भारत की ठीक यही दशा थी किसी सेठ के घर में बीस करोड़ रुपये रक्खे हुए हों परन्तु लोहे के संदूकों में बंद हों और उसकी ताली खोजाय। यद्यपि वह सेठ ताली न होने के कारण भूख से दुःख पाता है परन्तु है वास्तव में करोड़ों रुपयों का स्वामी। जब कोई ताली लावे तब वह करोड़ पति उन से काम ले सकता है ऐसे ही भारत में सारी विद्यायें विद्यमान हैं परन्तु संस्कृत भाषा के दृढ़ संदूकों में बंद हैं और ब्रह्मचर्य्याश्रम की ताली, जिससे संदूक खुले। खोगई थी। ऋषि ने बड़े परिश्रम से इस ताली को खोल कर धार्मिक जीवन आप के सामने रख दिया और बतला दिया कि भारत के समस्त रोग इससे दूर होजायेंगे। जहाँ अधीन शिक्षा के मनुष्य अपने सत् चाल ढाल और स्त्री तक को अधिकार में रखने के योग्य नहीं होते और स्वार्थ के कारण पग २ पर ठोकर खाते हैं वहाँ ऋषि ने उन को दबाया फैशन को पछाड़ा, नहीं नहीं सम्पूर्ण संसार का सामना कर के बताया कि एक ओर ४२ करोड़ ईसाई ५२ करोड़ बौद्ध २२ करोड़ मुसलमान और अन्य जातियां सब मिलाकर एक अर्ब ५० करोड़ मनुष्य और दूसरी ओर उन के सामने एक बाल ब्रह्मचारी लंगोटी बंद संन्यासी अकेला स्वामी दयानन्द था, क्यासमस्त संसारने मिलकर एक ब्रह्मचारीको उसके वैदिक सिद्धान्तों से हिलादिया? कदापि नहीं। उस ने सारे मत मतान्तरों के मनुष्यों को जो धर्म संबंधी बातों में बुद्धि से काम लेना पाप समझते थे एकसाथ ऐसा झटका दिया कि यह सब अपने २ मत के सिद्धान्तों को बुद्धि से सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत होगये। जिस ब्रह्मचर्य्याश्रमको चलाने के लिये ऋषि दयानन्द बीज रूप होकर गला है वह अब वृक्ष के रूप में होगया है। ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म का वृक्ष अपने अस्तित्व को गला कर लगाया, जिसमें भी किं जितने आर्य्य हैं सब पत्ते रूप हैं, कतिपय मनुष्य कहते हैं कि अब आर्य्य समाज की उन्नति रुकगई, क्योंकि पण्डित भीमसेन निकलगया, पण्डित देवदत्त बरेली वाला निकल गया, पण्डित कृपा राम निकल गया और जगदम्बा प्रसाद शेख अबदुल अजीज बनगया, परन्तु ऐसे मनुष्यों को विचारना उचित है कि क्या किसी वृक्ष के पत्ते गिर जाने से उसकी उन्नति रुक सकती है उत्तर मिलता है कभी नहीं। फिर आर्यसमाज के कुछ पत्ते गिरजाने से आर्यसमाज की उन्नति कैसे रुक सकती है? अथवा किसी पत्ते के बिगड़ कर मुसलमान या ईसाई

होजाने से आर्यसमाज को क्या हानि पहुंच सकती है आर्यसमाज को यदि हानि पहुंची है तो सिद्धान्तों के छोड़ने से लक्ष्मी पूजा और कायर की शिक्षा से आपस के द्वेष से सिद्धान्तानुकूल कार्य न करने से र सब से बढ़ कर वैदिक शिक्षा रूपी जल न मिलने से सब पत्ते सूखे वे दीख पड़ते हैं। परन्तु जड़ वैसी हीं हरी भरी है छोटे २ फल भी लगने लग गये हैं, काँगड़ी में आओ लगभग डेढ़ सौ ब्रह्मचारी दीख पड़ेंगे, बदायूं में कोई सत्तर, सिकन्दराबाद में ३४ और बरालसी में ३२ ऐसे ब्रह्मचारी मिलें जो प्रत्यक्ष में कह रहे हैं कि हम ऋषि दयानन्द के बीज से प्रकट हुए हैं ब्रह्मचारी बनकर ऋषि के उद्देश्य की पूर्ति करेंगे, अब जिस प्रकार एक वृक्ष के फलों में भी भेद होता है किसी शाखा के फलों में कीड़ा लगजाना और किसी (शाखा) में पानी थोड़ा पहुंचता है और किसी में पक्षी लग कर सुखा देता है ऐसाही इन फलों में होना सम्भव है, कतिपय मनुष्य आक्षेप करते हैं कि बहुधा ब्रह्मचारी गुरुकुलों को बीच में ही छोड़कर चले जाते हैं और पूर्ण शिक्षा नहीं प्राप्त करते, ऐसे मनुष्यों को विचारना चाहिये कि वह कौनसा वृक्ष है कि जिसमें जितने फल लगें सब पक गये, सैकड़ों फल गिरते हैं, कुछ पक भी जाते हैं जिससे कि श्रमका फल मिल जाता है। ऐसा कौनसा स्कूल और कॉलिज है कि जिस में जितने बालक भरती हुए हों सबके सब ही एम० ए० और बी०ए० हो गये हों। अब अन्तिम आक्षेप होता है कि गवर्नमेन्ट तो इन ब्रह्मचारियों को नौकर रखेगी नहीं फिर वह पढ़कर क्या करेंगे तथा रोटी कैसे कमायेंगे। ऐसे मनुष्यों को स्मरण रखना उचित है कि गवर्नमेन्ट सबों को नौकर रख भी नहीं सकती, अधिक से अधिक ५० लक्ष मनुष्यों को नौकरियां दे सकती है अब कहिये कि शेष २८ करोड़ ५० लक्ष मनुष्य जो देश में हैं वे क्या करते और कहां से खाते हैं? उत्तर मिलता है कि खेती बाड़ी और शिल्प तथा वाणिज्य से, बस, ब्रह्मचारी दासत्व के लिये तो पढ़ते ही नहीं अतः गवर्नमेंट के नौकरी देनेका विचार ही व्यर्थ है परन्तु यदि ब्रह्मचारी चाहें भी तो गवर्नमेंट उनको नौकरियां भी देगी कैसी नौकरियां सैनिक, क्योंकि शारीरिक एवं आत्मिक दोनों प्रकारके बल होने के कारण वे सब से अधिक बलवान होंगे। परन्तु ब्रह्मचारियों को नौकरी की इच्छा करना दुष्कर है अतः वह ऐसा कार्य करेंगे जिस से वह अपनी जीवन यात्रा भी भली प्रकार पूर्ण कर सकें और इन नवीन सभ्यता के दासों के पोष-

र्णार्थ गवर्नमैंट को भी सहायता दें। तात्पर्य यह कि वे कृषि करेंगे, शिल्प सम्बन्धी नये २ आविष्कार करेंगे, धर्म पूर्वक मिलकर वाणिज्य करेंगे, साहित्य एवं सदाचार सम्बन्धी ग्रंथोंका अनुवाद करेंगे जिससे कि अन्य देश भी वैदिक धर्म के आनन्द लाभ से वंचित न रहें तथा पत्रों का सम्पादन करेंगे। हमें तो ऐसे प्रश्नकर्ताओं की समझ कर शोक आता है कि जो इतना भी नहीं जानते कि जिसके शरीर में बल है जो इन्द्रियोंका दास न हो और जिसके आत्मा में ज्ञान का प्रकाश हो कहीं वह भूखा भी रह सकता है। ब्रह्मचारी स्वयं जीते जागते होंगे और संग में मृतक देश को भी जीवित करेंगे। गुरुकुल वदायूं किसी समय में प्राचीन शिक्षा प्रणाली का (आदर्श) होगा, क्योंकि यह ऋषि दयानन्द की उद्देश्य पूर्त्ति के लिये ऋषि सिद्धांत के अनुकूल ही चलाया जाता है। यद्यपि बड़े २ गुरुकुलों के अधिष्ठाता (जिन्होंने) गुरुकुल में फीस लगा कर गुरुकुल के इस गौरव को कि वह धनी और निर्धन को एकसी ही शिक्षा देता है और माता पिता ही के धन से नवीन शिक्षा प्रणाली के अनुकुल पढ़ाकर देश और जाति के वालक बनाने के गुण को नष्ट कर दिया है। इस गुरुकुल को जिस के पास कोई वाहरी टीप टाप का साधन नहीं, नाम, मात्र का ही गुरुकुल बताते हैं, परन्तु यदि ईश्वरीय नियम कोई वस्तु है सच्चाई और वाहरी टीपटाप में भेद है तो परमात्मा की दयासे वह समय निकट ही आने वाला है जब कि सर्व आर्य एक स्वरसे कह उठेंगे कि गुरुकुल वदायूं ही वैदिक धर्म का प्रचारक तथा ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों का सहायक और रक्षक है। न तो यह ऐंग्लो वैदिक बनाना चाहता है और नहीं पौराणिक वैदिक किन्तु ऋषि दयानन्द ही के पथ पर चलने वाले ब्रह्मचारी बना कर वैदिक ही संसार में फैलाने का यत्न करता है।

आर्य्य गण! नवीन और प्राचीन शिक्षा के मुकाबले का प्रथम भाग तो समाप्त हुआ, दूसरा भी कभी भेट किया जायगा।

ओ३म्

"हम मृत्यु से क्यों डरते हैं"।

संसार में ऐसा कौनसा प्राणी है जिसे मृत्यु से भय न लगता हो। यद्यपि प्रकट में मनुष्य मृत्यु के लक्षणों से अनभिज्ञ हैं और नहीं जानते कि मृत्यु क्या वस्तु है परन्तु क्या यह आश्चर्य की वात नहीं है कि जिस पदार्थ के गुणों को हम न जानें उससे हमें भय लगे क्योंकि भय सर्वदा जानी हुई वस्तु से होता है

चाहे उसका ज्ञान अनुमान से हो वा प्रत्यक्ष से परन्तु भय प्रत्येक दशा में भयङ्कर वस्तु के ज्ञान से ही होता है मृत्यु का भय ऐसा नहीं जो केवल दीन और निर्बलों ही को दुःख देता हो किन्तु बड़े २ शूरवीर राजा महाराजा मृत्यु के नाम से कांपते हैं अब प्रश्न यह है कि मृत्यु है क्या ? इसके उत्तर में छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है:—

तस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥ छा० खं० ११।२

अर्थ—जब इस शरीर के एक भाग को जीव छोड़ देता है तो वह भाग सूख जाता है जब दूसरे को छोड़ देता है तो वह सूख जाता है जब तीसरे को छोड़ देता है तो वह भी छूट जाता है और जब सम्पूर्ण को छोड़ देता है तो समस्त ही सूख जाता है (तथा)

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते नजीवो म्रियत इति ॥

छा० ६। ७

अर्थ—जीव के देह से पृथक् होजाने पर यह देह मर जाता है, जीव नहीं मरता है। उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यसे विदित होताहै किजीव औरदेहके वियोग का नाम मृत्यु है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कारण कि जीव और देहके वियोग से मनुष्य को दुःख प्रतीत होता है क्या जीव और देह का स्वाभाविक संयोग है जिसके टूटनेसे कि जीव को हानि पहुँचती है वा देहकी जीव को किसी कार्य के लिये आवश्यकता है कि जिस के न होने से जीव को कष्ट होता है उपनिषदों में जो जीव और देहका सम्बन्ध बताया है उससे यह प्रश्न भी हल हो जाता है देखो कठोपनिषद्।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

अर्थ—आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी और देह को रथ समझना चाहिये। इन्द्रियां इस रथ के घोड़े और मन घोड़ों की बाग है बुद्धि सारथी है और जितने विषय हैं ये इस गाड़ी और घोड़ों के चलने के मार्ग हैं।

उपनिषद्‌कार के अलङ्कार से यह बात सिद्ध हो गई कि यह इन्द्रियां इस आत्मा को ज्ञान की मंजिल (उद्देश्य) पर पहुंचाने वाले घोड़े और शरीर गाड़ी है अब यह प्रश्न उठता है कि यदि देहको सचमुच गाड़ी मानलें और आत्मा को यात्री तो यात्री को किस दशा में गाड़ी के त्यागने पर कष्ट होता है जब विचार करता है तो पता चलता हैं कि यात्री को जो प्रेम गाड़ी से होता है सो स्वाभाविक नहीं होता वरन् प्रयोजन सिद्धि के कारण होता है यात्री यह समझ कर कि गाड़ी द्वारा आनन्द पूर्वक अपने नियत स्थान की ओर जा सकता हैं और बिना गाड़ी के नहीं, गाड़ी की मरम्मत आदि का ध्यान रखता है उस की सफाई आदि का यत्न करता है और उस समय तक ही उस में चढ़ा रहना चाहता हैं जिस समय तक कि अपनी यात्रा को पूर्ण नहीं करलेता जहां अपने नियतस्थान पर पहुंच जाता है वहीं गाड़ी को स्वयं त्याग देता है प्रत्येक गाड़ी का स्वामी अपनी गाड़ीसे इसी प्रयोजन की सिद्धिके लिये प्रेम रखता है। कतिपय मनुष्यों को यह शंका होगी कि बहुधा मनुष्य गाड़ी को बुरा समझ कर मार्ग में हीं छोड़देते हैं इसका यह समाधान है कि जिस समय यात्री को उस गाड़ी से उत्तम गाड़ी मिलने की आशा हो तो वह यह सोचकर इस गाड़ी के बदले दूसरी गाड़ी में चढ़ कर अपने मंजिल [उद्देश्य] पर शीघ्र पहुंच जाऊंगा पहिली गाड़ी को त्यागने के लिये उद्यत हो जाता है परन्तु यदि उसे दूसरी गाड़ी मिलने की आशा न हो तो उसे गाड़ी का त्यागना कष्ट दायक होता है इस बात का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं क्योंकि जिस समय हम रेल में बैठकर कहीं जाते हैं तो [उद्देश्य] के आने के पूर्व ही गाड़ी को छोड़ने का प्रबन्ध करते हैं अपना सामानबटोरते हैं और जहां स्टेशन आया झट उतरने को ठहरा देते हैं यदि कुंजी आदिक लगी होने के कारण गाड़ी छोड़ने में कुछ देर हो तो चित्त बहुत ही बिगड़ जाता है कभी बाबू को पुकारते हैं और कभी कुली से कहते हैं कुञ्जी लाना। यदि १०-५ मिनट भी देर हो जाय तो बस पिछले द्वार से ही दौड़ पड़ते हैं परन्तु यदि कोई मनुष्य उद्देश्य के बीच ही हमें उतार दे तो उससे लड़ने लगते हैं इससे प्रकट होता है कि जिस स्थान पर पहुंचने के लिये यह शरीर दिया गया है यदि उस स्थान की प्राप्ति हो जावे तो शरीर के नष्ट होने से कष्ट नहीं होता इस बात का प्रमाण उन लोगों की मृत्यु से भी मिलता है जिन्होंने ईश्वर भक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य बना रक्खा है।

जिन्होंने गंगा किनारे घूमने वाले पूर्णाश्रम जी के जीवन और मृत्युको देखा है उन्हें पूर्ण विश्वास होगा कि इस प्रकारके जीवन मुक्त और ईश्वर के भक्त मृत्यु

का तनिक भी भय नहीं रखते किन्तु वह तो मृत्यु से प्रसन्न होते हैं और उन को मृत्यु से भय ही क्या। कतिपय मनुष्य यह आक्षेप करते हैं कि जब कि मृत्यु की इच्छा कोई नहीं करता तो जीवन मुक्त जो सब से अधिक ज्ञानी हैं मृत्यु की क्यों इच्छा करते हैं? इसका उत्तर यह है कि वे इस मनुष्य शरीर को कर्तव्य और भोगतव्य यानि अर्थात् करने में स्वतन्त्र तथा भोगने में परतन्त्र देह समझते हैं कर्तव्य के विषय में इस शरीर को संसार सागर से पार होने के लिये एक जलयान समझते हैं जिस प्रकार कि मनुष्य नौका में बैठकर नदी से पार चला जाता है और यावत् कि नदी से पार नहीं होता तावत् नाव के छूटने में दुःख मानता है परन्तु ज्यों नदी से पार हुआ नौका पर से उतर जाता है उस समय उसे नाव में बैठना व्यर्थ प्रतीत होता है कारण यह कि यावत् वह नौका में बैठा है तावत् नदी पार नहीं हुआ वरन् नदी के भीतर है और ऐसी अवस्था में थोड़ा बहुत भय लगा रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उलटी हवा (विपरीत वायु) या भौंरो आदि के आने से नौका नदी की तह में पहुंच जावे अतः प्रत्येक बुद्धिमान उस समय तक ही नाव में बैठना अच्छा जानता है जब तक कि नदी का पार न किया। हां इस से स्पष्ट यह परिणाम निकलता है कि जो मनुष्य मृत्यु से भय भीत हैं वे खुले शब्दों में अपनी असफलता पुकारते हैं जो सफलता प्राप्त कर चुके हैं उन को तनिक भी भय मृत्यु का नहीं होता दूसरे वह मनुष्य जिनको इस गाड़ी के छूट जाने पर दूसरी इस से उत्तम मिलने की आशा होती है वह कभी इस गाड़ी के छूटने पर सोच नहीं करते परन्तु जिन को इस गाड़ी छूटने पर बुरी गाड़ी मिलने का भय होता है वह मृत्यु से डरते हैं इसका आशय यह है कि जिन मनुष्यों ने जीवात्मा और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने को मुक्ति का अधिकारी बना लिया है वह मृत्यु से तनिक भी भय नहीं लाते तथा जो मनुष्य कि दिन रात धर्म कार्य करके अपनी उन्नति का बढ़ा रहे हैं उन को भी मृत्यु का भय नहीं होता परन्तु जिन मनुष्यों ने अपने जीवन को पापों की नदी में डालकर बिगाड़ लिया है उन्हें मृत्यु का भय लगा रहता है दूसरी बात यह है कि एक मनुष्य किसी सराय में किराये पर रहता है और दूसरा उसी सराय का स्वामी रहता है अब यदि दोनों को गवर्नमेन्ट की ओर से यह आज्ञा दी जाय कि तुम इस स्थान को दो घन्टे में छोड़ दो तो कष्ट किसको होगा? स्वामी को न कि किरायेदार को क्योंकि किरायेदार तो जानता है कि मेरा इस सराय में क्या है मुझे तो किराया

देना है यह सराय न सही दूसरी सही परन्तु जिसने इस स्थान को अपना समझा हुआ है उसे कष्ट अवश्य होगा क्योंकि वह समझ रहा है कि मैंने वर्षों परिश्रम करके इस घर को बनाया है, ऐसा घर मिलना अति दुर्लभ है अतः उसको छोड़ने में कष्ट होना आवश्यक है तीसरे दो मनुष्य सरायमें ठहरे हुए हैं एक के पास तो बहुत सा सामान है परन्तु एक के पास केवल एक ही लंगोटी अब यदि दोनों को आज्ञा मिले कि तुम तुरन्त इस सराय को छोड़दो तो दुःख किस को होगा। उसको कि जिसने बहुत सा सामान एकत्रित किया है दुःख होगा और जिसने कुछ भी नहीं रखा उसे कुछ भी दुःख न होगा क्योंकि सामान वाले को उठाने के लिये बहुतसी वस्तुओं की आवश्यकता होगी इन सब बातों से पता चलता है कि मृत्यु से निम्न लिखित मनुष्य तो डरते हैं:—

(१) वह मनुष्य जिसने अपनी समस्त उमर जीवनोद्देश्य की प्राप्तिके बदले धन एकत्रित करने में गवाँदी है,

(२) वह मनुष्य जिसने कि विषयों के भोग के लिये सहस्रों प्रकार के पापों से अपने आपको ऐसा बना लिया है कि उसको मरकर इससे उत्तम देह मिलने की आशा ही नहीं,

[३] वह मनुष्य जो इस शरीरको प्रकृति का विकार एवंम् रहने के लिये चंद रोजा सराय न समझता हो और जिसे यह पता न हो कि इस शरीर का किराया नित्य प्रति देना पड़ता है, जिसे यदि कुछ न दो तो इस सराय में रहना कठिन हो जाता है, किन्तु शरीर को अपना मानने लगता है नहीं, नहीं, अपने का देह ही समझता है तथा—

[४] वह मनुष्य जिसने कि संहारी पदार्थ अगणित एकत्र किये हों, क्यों कि मृत्यु के समय उन्हें साथ लेजा नहीं सकता और छोडने में कष्ट होता है,

और निम्न लिखित मनुष्य मृत्यु से तनिक भी नहीं डरते:—

[१] वह ज्ञानी महात्मा जिसने वेदों की नियमानुकूल शिक्षा से जीवात्मा वा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने को मुक्ति का अधिकारी बना लिया हो।

(२) वह मनुष्य जो दिन रात धर्म और परोपकार के कामों में लगा हो।

(३) वह मनुष्य जो शरीर को प्रकृति का विकार समझ कर [उद्देश्य] पर पहुंचने के लिये किराये की गाड़ी समझता हो।

(४) वह मनुष्य जो वैराग्य को हृदय में धारण करके एक लंगोटी के सिवाय दूसरी वस्तु न रखता हो।

इसका प्रमाण हमें संसार के बहुत से उदाहरणों से मिल सकता है जिन मनुष्योंने स्वामी दयानन्दकी मृत्यु को देखा है वह भली प्रकार जान सकते हैं कि ईश्वर भक्त मृत्यु से तनिक भी नहीं डरते उन्हें मृत्यु भयङ्कर के बदले कल्याणकारी जान पड़ती है। अब दूसरी ओर ईसा की मृत्यु को देखिये वह मरते समय कहता है कि:—

अर्थात् हे ईश्वर तैने क्यों मुझे छोड़दिया, मानो वह अपने शब्दों से यह बताता था कि वह मृत्यु को नहीं चाहता, जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि उसने उद्देश्य का ध्यान भी नहीं किया था वह अपने सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहा था परन्तु उसे पता भी न था कि सत्य कहां से प्राप्त होसकता है। क्योंकि वह यौद्धों का शिष्य है अतः वेदोंसे अनभिज्ञ होने के कारण उत्तम मनुष्य होते हुए भी मनुष्य जीवन के उद्देश्य को न जान सका। इसी प्रकार बहुत से मनुष्यों की मृत्यु को देखने से उनकी आन्तरिक अवस्था का भेद खुल जाताहै। स्वामीकी मृत्युने गुरुदत्त जैसे योग्य मनुष्यको जो कि साइन्स आदि की निर्बल शिक्षा के कारण कुछ थोड़े से नास्तिक थे इस प्रकार का आस्तिक बनाया कि उन पर मृत्यु का भय कभी प्रभाव न डाल सका। समस्त संसारी इच्छाओं से पृथक् रहकर गृहस्थ में ही योग के लिये प्रयत्न करते करते इस संसार का त्याग दिया। पण्डित लेखरामकी की मृत्यु तो आपके सन्मुख ही हुई है उसका वृतान्त किसी समाचार पत्र के पढ़ने वाले से छिपा नहीं है। क्या कारण कि पण्डित लेखराम को मृत्यु का तनिक भी भय नहीं था और वह किसी संसारी शक्ति के भय से अपने उद्देश्य से नहीं टलता था? ईश्वर का सत्य विश्वास ही इसका कारण हो सकता है। इस सम्बन्ध में बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि जो मनुष्य ईश्वर भक्ति का अपने जीवन का उद्देश्य समझ कर अपने कर्त्तव्य को पालन करते हैं उन्हें कभी भी मृत्यु का भय नहीं होता और वह शरीर का त्याग देना वस्त्रों के बदलने से अधिक नहीं समझते।

आर्य्य पुरुषों! यदि चाहते हो कि मृत्यु से निर्भय हो जाओ संसार की कोई बुराई तुम्हारी आत्मा पर अधिकार न जमा सके और संसार का कोई शक्ति शाली तुम्हें न दबा सके तो सीधे सब झगड़ों को छोड़ कर परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल वेदोक्त कर्म उपासना और ज्ञान के द्वारा मल विक्षेप और आवरण दोष को दूर कर के आत्मा के स्वरूप को जानो और उस से आनन्द प्राप्त करो।

अधिक रोगमें कौन ग्रस्त है !

आजकल संसार में आवश्यकता का रोग ऐसा फैल रहा है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी आवश्यकता में दीख ही पड़ता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जिसे कोई भी आवश्यकता नहो और यदि कोई ऐसा हो भी तो वह मनुष्योंमें गणना किये जाने योग्य नहीं है उसकी गणना तों देवताओं में होनी चाहिये। जब कि प्रत्येक मनुष्य आवश्यकता रूपी रोगमें ग्रसित है तो फिर किसी ऐसे मनुष्यको जो कि इसी रोगमें ग्रसितहै तुच्छ जानना पूर्ण भूलता है। संसारमें मुहताजों (आवश्यकताके रोगियों) की सहायता करना मनुष्यके धर्म का एक अङ्ग समझा जाता है। जब कि ऐसा मनुष्य सहायताका पात्र है तो फिर जितनी अधिक कोई आवश्यकता रखता होगा उतना ही वह अधिक दया का पात्र होगा। यदि आवश्यकता को एक रोग माना जाय तो न्यूनाधिकता के कारण थोड़ी आवश्यकता वाला छोटा रोगी तथा विशेष आवश्यकता वाला बड़ा रोगी समझा जाना उचित है। अब प्रश्न यह उपस्थित होताहै कि अधिक कौन रोगमें ग्रसित है। इसका यह उत्तर होगा कि जिसका रोग अर्थात् आवश्यकता बढ रही हैं वही अधिक रोगसे पीड़ित है। यद्यपि संसारी मनुष्य पूर्णतया इसके विपरीत समझ रहे हैं परन्तु बुद्धिमान् उनसे सहमत नहीं। अब आवश्यकता रूपी रोग भी दो प्रकारका है (१) प्राकृतिक अर्थात् जो शरीर के साथर ही जन्म लेता है और (२) नैमित्तिक जो मनुष्य की भूलसे उत्पन्न होता हैं। अब जो रोग कि स्वाभाविक है सो तो असाध्य है उसे निवृत्त करनेकी शक्ति किसी मनुष्य में नहीं परन्तु नैमितिक रोग, जिन निमित्तों से कि उत्पन्न हुआ है, यदि उन कारणों को दूर किया जावे तो दूर होसकता हैं। स्वाभाविक रोग प्रत्येक मनुष्य के देह और प्राणों का स्वाभाविक गुण होने के कारण रोग संज्ञासे पृथक ही करना पड़ता है। अतः जो मनुष्य कि नैमित्तिक रोगों से पीड़ित हैं वा कि जिन्होंने अनावश्यक वस्तुओंकी आवश्यकता उत्पन्न करली है वही अधिक दीन तथा बड़े रोगी हैं। अब इन नैमित्तिक रोग वालों की भी दो श्रेणी हैं। प्रथम श्रेणीमें वह हैं जिनको कि रोगको औषध सहज में मिल सकती है और दूसरी में वे जिनकी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये लाखोंका रक्त बहाना पड़े। तो इनमें से जिसकी औषध प्रत्येक स्थान पर सहजमें मिल सकती है वह छोटा रोगी है और जिसकी औषध मिलनेमें कठिनाई हो वह बड़ा रोगी है, जैसा कि एक जीव केवल वायु सेवन से ही जीवित रहता है और वायु प्रत्येक स्थान

पर होनेसे उसे सर्वदा मिल सकती है और कभी उसे उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता अतः उसे रोगी नहीं कहेंगे।

क्योंकि उसे अपनी आवश्यकता की पूर्तिके लिये दीन नहीं होना पड़ता वरन वह उस पर अधिकार रखता है, दूसरा जीव जल पर निर्भर रखता है और जल भी यद्यपि बहुतायत से मिलता है परन्तु वायु की भांति प्रत्येक स्थल पर नहीं मिलता, उसके प्राप्त करने में कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है अतः यह जीव वायु पर निर्भर रहने वाले की अपेक्षा दीन कहायेगा, और यदि कोई मनुष्य घास, पात पर अवलम्बित रहे तो घास पात, पानी की अपेक्षा थोडे मिलते हैं अतः वह उन दोनों से अर्थात् वायु और जल पर अवलम्बन रखने वालों से अधिक [आवश्यकता ग्रसित] दीन है। इसी प्रकार जितनी बढ़ी हुई मनुष्य की आवश्यकतायें होती हैं उतना ही वह दीन कहावेगा। अब यदि हम मनुष्य की दशा पर विचार करें तो प्रत्येक मनुष्य वायु जल एवं अन्न पर निर्भर रखता दीखता है, जिससे पता मिलता है कि इन वस्तुओं की आवश्यकता मनुष्य के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक जीव में प्राण वायु अपना काम करता है जिसके कारण कि मनुष्यकी गतिमें सहायता मिलती है वह प्राण वायु जो कि वायु एवं अग्निसे मिलकर बना हुआ है सर्वदा परमाणुओं को पृथक् किया करता है उससे जल और अन्नके परमाणु सर्वदा बाहर निकलते रहते हैं तो यावत् बाह्य अन्न जलके परमाणु रहते हैं तावत् प्राण वायुका प्रभाव उन्हीं पर पड़ता है परन्तु जिस समय कि वह परमाणु गलकर निकल जाते हैं उस समय प्राणवायुका कार्य शरीर के परमाणुओं पर आरम्भ होजाता है। जिसे क्षुधा वा तृषा का लगना कहते हैं। यदि जलके परमाणु थोड़े रहगये और प्राण वायु शरीरसे जल के परमाणुओंको खेंचता है तो उसे तृषा लगना कहते हैं यदि जलके परमाणु थोडे रह गये और प्राण वायु शरीरसे अन्नके परमाणुओंको पृथक् करता है तो उसे क्षुधा लगना कहते हैं। अब यदि वायु न लगे तो शरीरमें गति का काम नितान्त बन्द हो जावे क्योंकि बाहर से अग्नि सम्मिलित वायु भीतर जाती है और उस से गलने तथा चलने का काम चलता रहता है। वायु अन्न और जलके परमाणुओं को लेकर बाहर निकलता है भीतरसे जो वायु निकलता है उसमें तो गलाने और चलने की शक्ति शेष नहीं रहती क्योंकि वह उन पानी और अन्न के परमाणुओंको जो कि उसने शरीर से पृथक् किये हैं, उठाये हुए हैं अतःउसकी सम्पूर्ण शक्ति उसी काम में बीत जातीहै। यदि वायु में केवल अग्नि

केपरमाणु मिले हों तो उसमें गलाने की शक्ति रहती है परन्तु उसमें अधिक जल के परमाणु मिलने से उस की शक्ति घट जाती है इसी लिये मनुष्य के शरीर में गलाने का कार्य का बनाये रखने के लिये स्वच्छ वायु का मिलना अत्यावश्यक है। परन्तु वायु के लिये गलाने एवं चलाने का कार्य करने में जल की आवश्यकता होती है। यदि जल न मिले तो वायु शरीर से जल के परमाणुओं को जो उसके संगठन का हेतु है पूर्णतया अलग २ करदें, जिससे कि शरीर परमाणुओं में विभाजित हो जाय।

बहुधा मनुष्य यह प्रश्न करेंगे कि हमने बहुत से मनुष्यों को तृषित देखा है, परन्तु उनके शरीर के परमाणु तनिक पृथक् नहीं हुए किन्तु उनके शरीरकी गति बन्द होगई। इसका उत्तर यह है कि जिस समय जल न मिलने के कारण जीवात्मा शरीर को भयङ्कर अवस्था देखता है तथा वाष्प बनने से शरीरमें गति को न्यून होता देखता है तो उसे देह को त्यागना ही उत्तम प्रतीत होता है। यदि आप किसी शरीरको छोड़दें तो अवश्य ही वह किन्हीं परमाणुओं में विभाजित होजायगा। जब तक देह में जीव है उस समय तक ही उस की रक्षा करते हैं, तत्पश्चात् जला वा गाड़ देते हैं। परन्तु जीव शरीर के परमाणुओं के पृथक होने तक उस के भीतर नहीं रहता; जिस प्रकार कि यदि कोई घर गिरने वाला हो तो हम उसमें उस समय तक जब कि ईंट से ईंट अलग न हो जाय रहते, हैं किन्तु जिस समय वह हमारे कार्य में सहायक होने के पलटे बाधक होने लगता है हम उसे तुरन्त छोड़ देते हैं यदि आहार न मिले तो प्राणों के कारण जो प्रभाव शरीर पर होगा उससे दो बातें प्रकट होंगी एक तो यह कि गति मंद होजायगी, दूसरे शरीर सूखना आरम्भ होगा और अन्त में वह इस अग्नि तथा भाप को संभालने में असमर्थ होजायगा जहाँ तक विचार किया जाये इन तीन पदार्थों की आवश्यकता तो मनुष्य को स्वाभाविक है वह प्रत्येक मनुष्य के लिये होने के कारण आवश्यकता में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं करती। परन्तु इन प्राकृतिक आवश्यकताओंके अतिरिक्त जो आवश्यकतायें मनुष्य उत्पन्न करलेता है वही मनुष्यको मुहताज (आधीन) बनाने का कारण होती है अब जिस मनुष्य की आवश्यकतायें अधिक होंगी वही अधिक मुहताज होगाः—

उदाहरणार्थ एक मनुष्य इन तीन पदार्थों के अतिरिक्त शरीर के रक्षार्थ वस्त्रों की आवश्यकता रखताहै, दूसरा वस्त्रों के अतिरिक्त किसी के प्रकार मादक पदार्थ

की भी आवश्यता में है और तीसरा कामासक्त पंत्र आलसी भी है। तो इसी प्रकार जिसे, जितनी आवश्यकतायें होंगी वह उतनाही अधिक मुहताज (वशीभूत) कहलावेगा। अब आवश्यकता का होना इच्छा वा विचारों पर निर्भर है। एक मनुष्य अपनी इच्छाओंको इतना दबा देता है कि उसे कोई आवश्यकता नहीं होती और दूसरा अपनी वासनाओं को इतना बढ़ा देता है कि समस्त संसार का सम्राज्य मिलने पर भी उसकी इच्छायें पूर्ण नहीं होतीं, यदि इन दोनों के जीवन का मिलान किया जाय तो सर्वसाधारण और मूर्खजन उसको जिस के पास कि न तो कोई सामग्री है और नाहीं किसी प्रकार की जिसे इच्छा है कङ्गाल कहेंगे। और उसको जिसके पास करोड़ों मुद्रा हैं परन्तु उसकी इच्छायें अर्बों के होने से भी पूर्ण नहीं होसकती धनिक या सम्राट कहेंगे। परन्तु यह विचार बुद्धिमानों के विचार में नितांत भ्रांति पूर्ण है क्यों कि मुहताज (कङ्गाल) वही है जिसे आवश्यकता हो परन्तु उस की पूर्ति की सामग्री न हो जिसे आवश्यकता नहीं उसे पूर्ति की सामग्री से क्या प्रयोजन और वह कङ्गाल क्यों कर कहला सकता है इसी लिये शंकराचार्य ने जो कंगाल की प्रशंसा की है निरन्तर सत्य हैः—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।

अर्थ—दरिद्री कौन है? जिसकी इच्छायें अधिक हैं जिसको इच्छा ही न हो वह दरिद्री किस प्रकार कहला सकता है इस के विषय में एक कथा है कि एक राजा आखेट को जारहा था मार्ग में उसे एक नङ्गा महात्मा मिल गया जिस के पास देखने में तो धन का लेश भी न था परन्तु उस का हृदय सन्तोष से ऐसा भरा हुआ था कि वह अपने को लाखों राजाओं से बढ़ कर सुखी समझता था राजा को उस की (बाह्य) दशा देख कर दया आई और उसे कुछ देना चाहा महात्मा ने कुछ न लिया और कहा कि किसी कङ्गाल को देदो राजा चकित होकर बोला कि क्या तुम से भी अधिक कोई कङ्गाल होगा कि जिस के पास शरीर के अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं महात्मा ने कहा कि ऐसा जान पडता है कि तुम्हें कंगाल शब्द का अर्थ मालूम नहीं कंगाल (मुहताज) वह है जिसे आवश्यकता हो और उस की पूर्ति का साधन नहीं मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मेरे पास हैं अतः मैं राजाओं से बढ़कर सम्राट् हूं तू मुझे मुहताज किस प्रकार कहता है अब उनके प्रश्नोत्तर लिखते हैं:—

राजा—यदि तुम सम्राट् हो तुम्हारी सेना कहा है? और विना सेना के तुम

सम्राट् किस प्रकार हो सकतेहो अजी तुम्हारे पास तो एक अर्दली (अनुचर) भी दिखाई नहीं पडता।

महात्मा-सेना के रखने से दो अभिप्राय हो सकते हैं एक तो शत्रु का भय और दूसरे किसी देश के विजय का विचार हमें संसार में शत्रु का भय नहीं और नहीं किसी देश के विजय करनेका विचार है क्योंकि संसार का कोई देश भी हमारे शासन से वाहर नहीं जब कि विजय की आकांक्षा वा शत्रु का भय कुछ भी नहीं तो सेना हम किस लिये रखें।

राजा—राजाओंके पास कोष होता है तुम्हारे पास कोष कहां है? और जिस के पास कोष भी नहीं वह किस प्रकार राजा कहा सकता है।

महात्मा-जो मनुष्य कोष रखते हैं उनके भी दोही अभिप्राय होते हैं एक तो नित्यके व्यय एवं कर्मचारियों के वेतन के लिये और दूसरे किसी भारी संकट के समय काम आने के लिये जब कि न तो हमारा कोई व्यय है न किसीको वेतन देना है और नाहीं किसी संकट का भय है फिर हम किस काम के लिये धन एकत्रित करें।

राजा—जब कि तुम्हारे पास सेना और धन दोनों नहीं हैं तो तुम्हारे शासन को लोग किस प्रकार मानते होंगे यह कथन तुम्हारा किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य विना सेना और धन के राज्य कर सके जिस राजा के पास सेना और कोष दोनों न हों उस की प्रजा सब बिगड जाती है।

महात्मा-हमारी प्रजा ऐसी नहीं जो कभी बिगड जाय क्योंकि विजय करके बलात् तो उसे हम ने प्रजा बनाया ही नहीं है किन्तु सर्वेश्वर ने उसे हमारी आज्ञाकारी बनाया है प्रेम की दृष्टि से बंधी हुई हमारी आज्ञा का पालन करती है यदि वह फिर जाय तो उसी की हानि है हमारी तो कोई हानि ही नहीं है क्यों कि हम उससे कोई कर नहीं लेते किंतु कुछ न कुछ शिक्षा ही देते हैं।

राजा-यदि तुम प्रजा से कर ही नहीं लेते तो तुम्हारा अधिकार ही क्या है?

महात्मा-कर तो हम तब लें जब हमें कोई आवश्यकता हो और हमारे पास उस की पूर्ति का साधन न हो जितनी आवश्यकता है उस की पूर्ति के साधन हमारे पास विद्यमान् हैं हमारा यही अधिकार है कि छोटे बड़े सब हमारे मार्ग पर चलते हैं (अनुगामी रहते हैं) और हमारे चरणों में गिरना सौभाग्य समझते हैं।

राजा—इस प्रकार के राज्य से क्या लाभ जिसमें न अधिकार, न विषय भोग के साधन और नाहीं सेना तथा कोष है ?

महात्मा-विषय भोग के दास तो साधनों की आवश्यकता में हैं उनको राजा कैसे कह सकते हैं राजा वह है जो स्वामी है अपनी इन्द्रियों का सेवक किस प्रकार स्वामी कहा सकता है जब से संसार में यह विचार फैला कि राजा वह है जिसके पास विषय भोग के साधन हों उसी समय से बड़े २ उत्साही मनुष्य उत्पन्न होने बंद हो गये ।

जब अधिक विचार किया जायगा तो स्पष्ट विदित होगा कि जिस को धनी वा राजा कहते हैं वही अधिक कंगाल और दुखी है और जिन्हें लोग दीन जानते हैं वह आनन्द में हैं क्योंकि दीन को केवल भोजन की चिंता रहती है जहां उसे रोटी मिलगई वह लंबी चादर तानकर निश्चिन्त हो सोताहै बहुधा मजदूर रात्रि के ८-६ बजे भोजन करके निश्चिन्त हो सोते हैं और धनवानों को रात्रि दिन चिंता में निद्रा नहीं आती जो लोग खूब परिश्रम करते हैं उन के शारीरिक अवयव और उत्साह सर्वदा सुदृढ़ होते हैं और जो लोग दूसरे की गांठ काट कर आनन्द करते हैं उन की अवस्था अति शोचनीय रहती है रात दिन भय और चिन्तालगे रहते हैं सुखी वहीहै जिसकी, आवश्यकतायें थोड़ी हैं जिसे आवश्यकतायें अधिक हों वह कभी सुखी और स्वतन्त्र नहीं हो सकता और नहीं मनुष्य जीवन के उद्देश्य की ओर चल सकता है अतः शांति प्रिय मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वह आवश्यकताओं को घटाकर अपने उद्देश्य की प्राप्तिका यत्न करें ।

इति

पुनर्जन्मवाद

आज कल सर्व साधारण में आर्य समाज के कारण धर्म की चर्चा फिर होने लगी है । धर्म सम्बंधी सिद्धान्तों के विवेचन की उत्कण्ठा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है । परन्तु वर्तमान समय में पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर बहुत से मनुष्यों को वाद विवाद करते पाकर तथा ईसाई एवं मुसलमानों को बहुत ही तुच्छ युक्तियों से इस सिद्धान्त का खंडन करते देखकर मुझे आवश्यकता प्रतीत हुई कि मैं भी इस विषय पर एक छोटा सा लेख लिखूं यद्यपि पण्डित लेखराम जी ने इस विषय पर एक भारी पुस्तक लिखी है, परन्तु अधिक मूल्य होने के कारण सर्व साधारण में उसका प्रचार बहुत ही थोड़ा होसकता है इसी विचार को अपने सन्मुख रखते हुएमैंने इस विषय पर लिखना उचित समझा । आशा

है कि मेरा श्रम व्यर्थ नहीं जायगा, क्योंकि जनता ने मेरे पिछले लेखों का अति ही आदर किया ।

जितने मत कर्मों का फल मानते हैं, उनमें से कोई तो सजाय आमाल (कर्म फल भोग) के लिये कयामतका दिन नियत करते हैं और कोई पुनर्जन्म द्वारा अर्थात् एक शरीर के त्यागने पर दूसरे शरीर के द्वारा कर्म फल भोग की रीति मानते हैं अब दोनों में कौनसा सिद्धान्त तर्क से सिद्ध होसकता है, इसपर आज विचार करना है परन्तु इसके पूर्व कि हम इस विषय पर विचार करना आरम्भ करें प्रत्येक मनुष्य के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि दंड का क्या अभिप्राय होता है । जहां तक खोज से पता चला है यही सिद्ध होता है कि (दंड) का अभिप्राय बदला लेना नहीं किन्तु सुधार करना है क्योंकि हम देखते हैं कि यदि एक मनुष्य चोरी करता वा किसी को मारता है तो इस के पलटे उसे कारागार में भेज देते हैं, क्या वह कारागार में जाकर उसका बदला पाता है ? नहीं ! नहीं ? यदि बदला मिलता तो कारागार में जाकर उससे रुपये मांगे जाते जो कि उसने चोरीसे उठायेथे वा उसको भी मारा जाता । परन्तु वहां यह दोनों बातें नहीं होतीं, किन्तु हम देखते हैं कि उसको मारने के स्थान पर उसके हाथों में हथकड़ी लगादी जाती हैं क्योंकि वह हाथों से उठाता था और पांवो में बेड़ी डालदी जाती है, क्योंकि उनकी सहायता से लेकर भागा था । सुनराम जिन दो इन्द्रियोंसे चोरी की टेव डाली थी उनके अभ्यास के मिटाने के लिये उनकी शक्तियों को कुछ दिन के लिये निकम्मा करदिया, जिससे कि वे उस बात को भूल जावे और कारागर से निकल कर पुनः ऐसे अपराध को न करें यद्यपि हम देखते हैं बहुधा बंदी कारागर से लौट कर भी चोरी करते हैं परन्तु उसका कारण केवल यह है कि प्रथम तो मनुष्य कृत गवर्नमैंट की यह शक्ति नहीं कि बुराई की जड़ मन को आधीन बना सके क्योंकि सर्व कार्य मन द्वारा ही होते हैं अतः यद्यपि गवर्नमेन्टने हाथ और पांव को रोककर उसको कायिक पापोंसे रोक दिया, परन्तु पापको स्मरण रखने वाली शक्ति उसके मन, को न रोक सकनेके कारण अर्थ सिद्ध नहीं हुआ । यदि गवर्नमेन्ट को यह शक्ति होती कि किसी प्रकार वह मन को आधीन बना सकती तो कोई भी बंदी कारागार से निकल कर चोरी नहीं करता । एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जितने मनुष्य चोर होते हैं, वह जितने कर्म करते हैं उनके पाप पुण्यके उत्तर दाता होते हैं ।

जैसे एक मनुष्य एक रुपया नित्य कमाता था चार आना नित्य व्यय करता है तो वह बारह आना नित्य बचा लेता है और यदि चार आना नित्य कमाता तथा एक रुपया व्यय करता है तो बारह आना नित्यका ऋणी हो जाता है परन्तु कारागार में इस के पूर्ण विपरीत दशा है—वहाँ न तो कोई बचा सकता और न आगामीके लिये एकत्रित कर सकता है और नाहीं ऋणी हो सकता है मानो वह ऐसी दशा है कि जिसमें आगे के लिये हानि लाभ करनेकी शक्ति नहीं इसके अतिरिक्त यह भी जानने योग्य है कि शरीर और आत्माका संबन्ध मकान और मकीन (स्वत्रभूत तथा स्वामी) का हैं आत्मा शरीर में रहकर तो कर्म-फल भोग करता है और आगामी के लिये प्रबंध करता है जिस प्रकार कोई जीव बिना घरके रह नहीं सकता और नाहीं काम कर सकता है इस प्रकार आत्मा भी बिना शरीर के कर्म--फल नहीं भोग सकता और जिस प्रकार कि संसार में दो प्रकार केघर हैं [१] वह जिनमें रह कर मनुष्य हानि लाभ करते हैं जैसे कोई कङ्गाल तो अपने कर्मोंसे धनी होजाता है और कोई धनवान अपनी मूर्खता एवं दुराचार के कारण कङ्गाल बन जाता है और (२) कारागार जिसमें केवल कर्म—फल भोगते हैं आगामी के लिये कोई प्रबंध नहीं कर सकते और जिसका समस्त सम्बन्ध वर्तमान समय से ही होता है—इसी प्रकार परमात्मा ने भी जीवोंके लिये दो ही प्रकारके घर बनाये हैं (१) वह जिन में बैठ कर जीव भले बुरे कर्म कर सकता है और उससे अपने भविष्य को बिगाड़ वा सुधार कर सकताहै और हर समय कर्म करनेमें स्वतन्त्र रहताहै इसीकोकर्त्तव्य योनि कहते हैं अर्थात् ऐसा शरीर जिसमें कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और (२) वह जो कारागारकी भांति है जो केवल बुराईकी बान को छुड़ाने के लियें तथा कर्म-फल भोगनेके लियें नियत है जिनमें कि बैठकर जीव आगामी के लिये कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता उसे भोक्तव्य योनि कहते हैं अब जिस प्रकार स्वतन्त्र मनुष्य पाप करके कारागार में जाते हैं और दण्ड का अभिप्राय सिद्ध होसकता है अन्यथा ऐसी दशामें दण्ड देना जब कि उसे पता ही नहीं कि उसने कौन कर्म किया था जिस के अपराध में यह दण्ड मिला न तो कुछ लाभकारी हो सकता है और नाहीं यह न्याय कहा सकता है इसका उत्तर यह है कि दण्ड का अभिप्राय उस कुटेव का भुला देना है कि जिसका दण्ड उसने भोगना है यदि उसे पापका स्मरण है तो उसके करने की रीतियाँ

भी स्मृतिमें होगी सुतराम जिस टेव के छुड़ानेके अर्थ दण्ड दिया गया था तनिक भी न छूटेगी और दण्डका अभिप्राय सिद्ध न होगा कतिपय मनुष्यों का यह आक्षेप है कि जिस प्रकार संसारी गवर्नमेन्ट प्रत्येक अपराधीको उसका अपराध समझाकर उसको दण्ड देती है इसी प्रकार परमेश्वरको भी अपराध बताकर दण्ड देना उचित है जिससे कि आगामीमें अपराधी उस पापसे बचे इसका उत्तर यह है कि मनुष्य कृतगवर्नमेन्ट अल्पज्ञ हैं और वह किसी अपराधको बिना साक्षीके सिद्ध नहीं करसकती अतः वह प्रथम अपराध लगाकर उसके संबन्ध में साक्षी आदि द्वारा अपना निश्चय दृढ़ करती है और दूसरे गवर्नमेन्टका दण्ड बहुधा भेदभी दिया जाता है क्योंकि बड़ा न्यायालय छोटे न्यायालय के अन्वेषण को सत्य नहीं समझता अतः अपराधीको अपना निर्दोष होना सिद्ध करनेके लिये उसके अपराधकी सूचना दी जाती है परन्तु परमेश्वरका न्यायालय सर्वज्ञ है अतः न तो उसको साक्षिओंकी आवश्यकता है और नाहीं उसका अपील[अभ्यर्थन] हो सकती है क्योंकि उसमें भूल नहीं होती और अपील या नजरसानी [पुनःनिरीक्षण) केवल भूलको दूर करने के लिये की जाती है यही कारण है कि मनुष्यकृत न्यायालयके बंदी कारागारसे मुक्त होकर भी उन्हीं पापों को करते हैं जिनके कारण कि वह कारागार गये थे क्योंकि जिन पापों की बान छुड़ाने के लिये गवर्नमेन्टने उन्हें कारागार में भेजा था उनकी स्मृति मन में विद्यमान है यद्यपि हाथोंमें उनकी टेव न्यून होगई परन्तु मनमें रहने के कारण पूर्णतया नष्ट नहीं हुई और मनको बंदी बनाना सांसारिक गवर्नमेन्ट कोशक्तिसे बाहर है सुतराम् जहां वह मन में पाप की स्मृति रखता है और उसके करने की

रीति को भी स्मृति रखता है वहां पाप के दंड को भी स्मृति रखता है, परन्तु परमात्मा ऐसी अपूर्ण शक्ति नहीं ? उनके कारागार अर्थात् पशुयोनि में जाते ही सब से प्रथम मन को आधीन किया जाता है और मन के आधीन होजाने से मन का सम्पूर्ण काम अर्थात् पुरानी बातों की स्मृति तथा उसके फल से आगे के लिये इच्छा करना पूर्णतया नष्ट होजाते हैं। सुतराम जब कि मन कोई कार्य नहीं करता तो आगे और पीछे का वृत्तान्त स्मरण रखना और सोचना किस प्रकार हो सकता है। जो बात पुनर्जन्म के आशय को पूरा करने वाली है उसको पुनर्जन्मके विरोध में रखना और उसके सहारे पुनर्जन्म न मानना उचित नहीं। स्मृति मनका कामहै, जीवात्माका नहीं अतः जिन अवस्थाओंमें मनका जीवके साथ संबंध नहीं होता उस समय कुछ भी स्मरण नहीं रहता जिसकी साक्षी सुषुप्ति

हमचुसब्ज़ा बारहा रोईदः ऐम ।
हफ्त् सदों हफ्ताद क़ालिब दीदः ऐम ॥

अर्थात् सात सौ सत्तर बार जन्म लिया है कतिपय लोग यह आक्षेप करते हैं कि पाप तो मनुष्य ने किया और दण्ड भोगें पशु यह तो अन्याय है परन्तु उनका यह विचार नितान्त असत्य है क्योंकि मनुष्य शरीर तथा पशु योनि केवल जीवात्मा के कर्मानुसार आनन्द और दुःख भोग के लिए दो घर हैं। संसार में ही देखाजाता है कि घर में पाप करते हैं और कारागार में दंड भोगते हैं परन्तु कोई इसे अन्याय नहीं कहता। क्योंकि कारागार या घर से कोई सम्बन्ध नहीं, संबंध केवल मनुष्यका है इसी प्रकार मनुष्य शरीर या पशुयोनिका कर्म और दंडसे कोई संबंध नहीं किन्तु दंड केवल जीवात्मा को कार्य करने में स्वतंत्रता का न होना है कतिपय मनुष्य जीवको शरीरसे पृथक् नहीं मानते जोकि स्पष्ट भूल है। क्यों कि शरीर तत्वों से बना हुआ है जो नाश होकर अपने स्वरूप में मिल जाता है परन्तु जीव प्रकृति का गुण वा गुणी नहीं क्योंकि जीवात्मा का गुण ज्ञान प्रकृति में नहीं, यदि ज्ञान को भी प्रकृति का गुण मान लिया जाय तो मृत्यु तथा सुषुप्ति का होना असम्भव होगा क्योंकि प्राकृतिक शरीर से ज्ञान, जो उसका गुण है किसी अवस्था में पृथक् नहीं हो सकता। एक इसलाम नगरी साहिब रघुबीरशरण नामी ने इसी पुस्तक तरदीदे तनासुख में यह लिख दिया कि ज्ञान बुद्धि का गुण है क्योंकि जो काम (ज्ञान) से सम्बन्ध रखते हैं वह बुद्धि से होते हैं अब प्रश्न यह उठता है कि बुद्धि प्राकृतिक है वा अप्राकृतिक यदि कहो कि प्राकृतिक है तो ज्ञान प्रकृति के गुणों में सम्मिलित हो जायगा और जब ज्ञान प्रकृति में होगा तो कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती और इसप्रकार जड़ चेतन का भेद उड़ जायगा क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति से बनी हुई है।

अब फिर प्रश्न यह होता है कि ज्ञान मूल तत्व का गुण है या मिश्रित का? यदि मूल तत्व का तो अग्नि आदिक में भी ज्ञान का पता नहीं मिलता। और यदि कहो कि मिश्रित में होता है तो निरन्तर असत्य है क्योंकि जो गुण मूल तत्वके भागमें न हो वह मिश्रितमें कहांसे आजायगा, जैसे बोस उष्ण औषधियों के मिलाने से कभी शीतलता नहीं हो सकती यावत् औषधि शीतल नहीं, क्योंकि समस्त विद्वान् और विज्ञानवेत्ता इस बात में सहमत हैं कि प्रकृति में गति नहीं। यदि प्रकृति में गति होती तो जिस गेंद को हम फेंकते हैं वह लगातार चली जाती, परन्तु होता इसके विरुद्ध है अर्थात् जहां तक हमारी

शक्ति से गेंद चल सकी चली गई और आगे जाकर रुक गई, अतः ज्ञान और गति प्रकृति के गुण नहीं और यदि बुद्धि को अप्राकृतिक माना जावे तो वह जीवात्मा का दूसरा नाम होगा। कोई लोग पुनर्जन्म के विरुद्ध यह युक्ति देते हैं कि संसार में मनुष्य से प्रथम पशु बने हैं, परन्तु यह बात भी अनभिज्ञता का प्रमाण है क्योंकि जिसप्रकार रात्रि दिवस का क्रम है कि रात्रि के पीछे दिवस तथा दिवस के पीछे रात्रि होती है और जिस भांति कि कृष्ण पक्ष के पीछे शुक्लपक्ष शुक्लपक्ष के पश्चात् कृष्णपक्ष होता है और जैसे कि दक्षिणायन के पश्चात् उत्तरायण तथा उत्तरायण के पीछे दक्षिणायन होता है यही क्रम प्रलय काल तक पहुंच जाता है एवं जिस प्रकार मनुष्य प्रातःकाल तक उठकर पिछले दिन के लेन देन के अनुसार कार्यारम्भ कर देते हैं इसी प्रकार सर्वदा सृष्टि के आरम्भ में पिछली सृष्टि के क्रमानुसार पशु तथा मनुष्यादि जन्म लेते हैं। यह भूल तो केवल वही मनुष्य करते हैं कि जिनके धर्म ग्रन्थ १३००, १६००, २६०० वा ३४०० वर्षके हुए बने हैं क्योंकि इनके पूर्व का वृत्तान्त ज्ञात नहीं परन्तु कुरान में भी कुछ पता पुनर्जन्म का चलता है देखो सूरए बकर पृष्ठ ७ मुनरज्जिम कुरान छापा नवलकिशोर कानपुर पञ्चम संस्कार पंक्ति। १३ ॥

तुम मुर्दे (मृतक) थे, जिलाया तुमको, फिर मुर्दा (मृतक) करेगा, और फिर जिलावेगा, फिर तर्फ उनके फिर जाओगे ॥

पाठकगण! पहिले मृतक कहने से स्पष्ट विदित होता है वह कभी मरे थे अब फिर जन्मे, फिर मरेंगे और फिर जन्म लेंगे, हमारे कतिपय मित्र इसका यह अर्थ करते हैं कि ईश्वर ने प्रथम अभाव से भाव किया अभाव का नाम मृतक होता है और जन्म लेना भाव का नाम है अब फिर अभाव कर देगा और फिर भाव करेगा। कतिपय मनुष्य इसे कयामत (प्रलय) के सम्बन्ध में बताते हैं, अर्थात् प्रथम ईश्वर ने मनुष्य को मृतक से जीवित किया, इस के पीछे मर जावेंगे और कयामत के दिन फिर जीवित होंगे परन्तु यह दोनों बातें टिप्पणी मात्र है, और वास्तविक अर्थ के नितान्त विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत्यु शरीर और जीवात्मा का वियोग है तो मानो पहिले शरीर और जीवात्मा पृथक थे खुदा ने उनको मिला कर जीवित किया फिर पृथक करेगा और फिर जीवित करेगा यावत् कि वह खुदा की ओर न फिर जावें अर्थात् मुक्ति न हो जावें ॥

कतिपय मुसलमानों का यह आक्षेप होगा कि मनुष्य के जीवात्मा का पशु शरीर में प्रवेश करना पुनर्जन्म है और इससे इस बात का कोई प्रमाण नहीं

मिलता परन्तु कुरान शरीफ में यह भी दिखाया है कि कौम (जाति) पर नाराज होकर खुदा ने आज्ञा दी कि वह सूअर और वन्दर हो जावें।

अब बहुत से लोग कहते हैं कि वह जीते ही बन्दर और सूअर होगये। प्रथम तो यह बात ही असत्य है परन्तु इस असम्भव को भी सम्भव मान कर हम कह सकते हैं कि मनुष्य जीवात्मा का कर्म फल भोग के लिये पशु योनि में आना कुरान से सिद्ध है।

संसारमें कोई मनुष्य पुनर्जन्मको माने विना ईश्वरके गुणोंको पूर्णतया सिद्ध नहीं कर सकता जितने आक्षेप पुनर्जन्म के विरोधियों की ओर से किये जाते हैं वह केवल अनभिज्ञता के कारण होते हैं, अन्यथा कोई भी बुद्धिमान पुनर्जन्म पर आक्षेप नहीं कर सकता।

पुनर्जजन्म के समर्थन में प्रकृति के नियम में पा २ पर उदाहरण विद्यमान हैं परन्तु कतिपय मनुष्य शरीर को जीवात्मा का निवासस्थान नहीं बताते किंतु जीव को शरीर का सार मानते हैं, इसी प्रकार और भूलें हैं जिसके कारण वे जीवात्मा का दूसरे शरीर में जाना उसके रूप का बदलना मानते हैं। समस्त झगड़ा जो पुनर्जन्म के विरुद्ध फैला हुआ है वह केवल प्रकृति और जीव को अनादि न मानने के कारण उत्पन्न हुआ है अतः प्रत्येक मनुष्य को प्रकृति और जीवात्मा के अनादित्व पर हमारे लेख प्रकृति का प्राचीनत्व (माद्द की कदामत) और जीवात्मा के अस्तित्व में प्रमाण देखना चाहिये और यदि इस पर भी शांति न हो तो रद्द तनासुख का उत्तर जो पादरी गुलाम मसीह के उत्तर में लिखा गया है देखना उचित है।

इति।

ओ३म्।

❀ श्राद्ध व्यवस्था ❀

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरुस्वाहा॥ यजुः ३२।१४

अर्थ—हे ज्ञानस्वरूप (अग्ने) परमात्मा! जिस मेधा नामक धारणावाली बुद्धि को देवगण अर्थात् विद्वान् लोग प्राप्त हैं और जिस को प्राचीन ऋषि मुनि प्राप्त थे आप उस धारणावती बुद्धि से हम को बुद्धिमान् कीजिये।

धर्माधर्म के विचारने में समर्थों! सत्यशीलो! वेदादि सत्य शास्त्रों को मा-

नने वालो! वर्णाश्रम धर्म के सहायको! आप लोग थोड़े काल के लिये संसार के संस्कारों को अलग करके सत्यासत्य विचार करने वाली बुद्धि की कसौटी को हाथ में लेकर अपने नित्य नैमित्तिक व्यवहारों को जांचो। और संसार की प्रणाली से जगतकर्त्ता की महिमा को स्वाभाविक गुणों के अनुसार खोज करो विचार कर देखो ईश्वर ने कैसे २ उत्तम नियम तुम्हें दुखों से छुड़ाने को बनाये हैं कैसी २ उत्तम २ वस्तुयें तुम को जगतरूपी शत्रु से बचने को दी हैं परमात्मा के नियमों को ध्यान दो परमात्मा ने जगत में जब जीवो को उत्पन्न किया तो साथ ही उस अल्पज्ञता को देख कर माता पिता के हृदय में प्रीति उत्पन्न करदी जिस से यह असमर्थ जीव सहायता पाकर समर्थ हो जावे। और भली भांति जानते हैं कि जो बीज भूमि में डाला जाता है वह बीज थोड़े दिनों के पश्चात् बहुत गुणा होकर मिलता है जड़ भूमि भी दिये हुये बीज का पलटा देती है और बीज के लगाने में जो कष्ट हुआ है उस के प्रतिफल में दिये हुये बीज से कई गुणा बीज लौटाया जाता है इसी प्रकार जो जल सूर्य की किरणों को भूमि समर्पण करती है सूर्य उस के पलटे में उसकी पुष्टि वृष्टि द्वारा करता है जिस पशु को मनुष्य अन्नादि से पालन करता है वह पशु उस की सेवा करके उस को पलटा देता है जिस कुत्ते को दो दिन टुकड़ा डाल दो वह उस के बदले उस के घर की रखवाली करता है इसी भांति संसार के जड़ चैतन्य पदार्थ पलटे के नियम से बंधे हुये हैं।

प्यारे पाठको! जब मनुष्य को माता पिता संसार में असमर्थावस्था से पालन कर के समर्थावस्था को पहुंचा देते हैं अज्ञान के गर्त्त से निकाल कर ज्ञान के शिखर पर बैठा देते हैं माता पिता स्वयम् लाखों दुःख उठा कर पुत्र को सुख देनेका यत्न दिन रात करतेहैं माता गर्मीके दिनोंमें जबकि आग बरसती है पुत्र को पंखा झुला कर सुलाती है शरदी के दिनोंमें जब बिस्तर पर बालक मूतताहै आप उस गीले स्थान पर लेटती है पुत्र को अच्छे स्थान पर सुलाती है यह क्या ही सच्चा प्रेम है गूढ़ दृष्टि से देखिये? क्या ही ईश्वर की माया का विचित्र चमत्कार है कि पिता अपने जीवन के कष्ट पाकर जो कमाता है वह बालक के पालन पोषण और संस्कारों के करने पढ़ाने विवाहादि कार्यों में खर्च कर देता है जो कुछ बच रहता है उस का भी पुत्र को मालिक बना देता है क्या ही मोहजाल है कि सारी आयु उस के निमित्त लगा देता है। क्या इस का पलटा मनुष्य को न देना चाहिये जब भूमि आदि जड़ पदार्थ संसार में पलटा देते हैं, तो मनुष्य को चैतन्य होकर पलटा न देना चाहिये? जब कुत्ते आदि नीच

योनि के जीव कृतघ्नता नहीं करते तो क्या मनुष्य को यह उचित है कि जिन माता पिता ने लाखो कष्ट उठाये हैं यह उनका पलटा न दे ।

यदि आप विचार करके देखेंगे तो अवश्य कहेंगे कि मनुष्य को अवश्य पलटा देना चाहिये।जैसे माता पिता प्रीति वश पुत्र का कष्ट मिटाते हैं, पुत्र को श्रद्धा से उसका पलटा देना चाहिये।भारतवर्ष के लोग जो सनातन से आर्य्य धर्म को मानते चले आते है यह आर्य्य धर्म ईश्वरीय विद्या अर्थात् वेदों के अनुकूल सदा से चला आता है वेदों में उसपलटे का ना। जो पुत्र को माता पिताओं के निमित्त करना चाहिये पितृश्राद्ध के नामसे कथन किया है। हे आर्य्यवर्त्त वासियो! आपके बड़े ऋषि मुनि सनातन से श्राद्ध करते हैं परन्तु भारत में मत विवाद के फैलाने से यह रीति कुछ पलट गई है अब इस छोटेसे पुस्तक में प्रश्नोत्तर में पौराणिक और आर्य्य समाजिक के विचार से इसका तत्व दिखलाते हैं।

एक रोज एक पौराणिक माहात्मा एक बनिये की दुकान पर बैठे स्वामी दयानन्द जी को बुरा भला कह कर बनिये को समझा रहे थे कि आर्य्यसमाजी पितरों का श्राद्ध नहीं करते मुंह से कहते हैं कि हम वेद मानते हैं परन्तु वेद में लिखे श्राद्ध को कभी नहीं करते यह नास्तिक हैं इनके दर्शन करने में पाप है इत्यादि। उस समय एक आर्य्य समाजिक भी आनिकले उन्होंने यह बातें सुनकर कहा क्यों महाराज! झूंठ बोलते हो? यदि आपको अपने पक्ष की सत्यता पर भरोसा हो तो शास्त्रर्थ करके निर्णय कर लीजिये। पौराणिक ने कहा अच्छा शास्त्रर्थ हो जाय; तुम कुछ पढ़े भी हो! इसके पश्चात् प्रश्नोत्तर होने लगे।

आ०-कहो महात्मा जी? पितृकर्म नित्य है वा नैमित्तिक?

पौ०-यह नित्य कर्म है।

आ-तो महाराज सब को रोज करना चाहिए?

पौ०-हां रोज करना चाहिये न बन पड़े तो वर्ष भर में १५ दिन पितृपक्ष के और जिस दिन पितर मरे हों॥

आ०-महाराज जिस के पितर जीते हों वह किस दिन करे?

पौ०-उसको करने का अधिकार नहीं वह न करे॥

आ०-तो महाराज जो मनुष्य के वास्ते पञ्चयज्ञ करना नित्य कर्म में लिखा वह न करे?

अवस्था है। यदि सुषुप्ति अवस्थामें जब कि मन कार्य नहीं करता कोई बात स्मरण रहती तो आक्षेप ठीक होसकता था। बहुत से मनुष्य यह आक्षेप करते हैं कि यदि पशु योनि में स्मृति न रहे तो मनुष्य शरीर में आने से पुरानी बातें याद आनी चाहियें। परन्तु उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि पशुयोनि में मन की स्मरण शक्ति के निकम्मा रहने के कारण उसकी ऐसी दशा होजाती है कि बिना ठीक संस्कार हुए स्मरण रखने तथा समझने योग्य नहीं रहती जिसका प्रमाण कि उन बालकों की शिक्षा से मिलता कि जो पशु योनि से नर योनि में आयें हैं जैसे कि एक कारीगर जब अधिक समय तक काम को न करे तो उसके हाथ की सफाई बिगड़ जाती है और थोड़े समय तक वह काम करने से फिर प्रकट होजाती है, इसी प्रकार मन की स्मरण शक्ति मनुष्य जन्म पाकर थोड़े दिनों में इस योग्य होती है कि वह स्मरण रख सकें। इसके अतिरिक्त मन में भी उस वस्तु के जिसके साथ कि उसका सम्बन्ध होता है संस्कार पड़ते जाते हैं और जो वस्तु निकल जाती है उसके संस्कार दब जाते हैं और जो वस्तु सन्मुख रहती है उसके संस्कार बने रहते हैं। तो इस प्रकार गई हुई बातों को स्मरण करने के लिये चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके नवीन विचारों से हटाकर प्राचीन विचारों को जानना पड़ता है। सुनराम जो मनुष्य योग के द्वारा प्राचीन विचारों को जानना चाहते हैं वह जान सकते हैं। उदाहरणार्थ एक कोठे में दो सौ मन गेहूं डाल दिये हैं तत्पश्चात् छः सौ मन चना डाल दिये। अब प्रकट में इन आँखों से गेहूँ नहीं देख सकते, यावत् कि उसके ऊपर से चनों को न हटाया जावे। इसी प्रकार प्राचीन संस्कारों को जानने के लिए मनको नवीन संस्कारों से पृथक् करने की आवश्यकता है, जिसका साधन सिवाय योग के दूसरा नहीं। योगी जन अपने पिछले हाल और जन्मों को भली भांति जान सकते है परन्तु सर्व साधारण नहीं जान सकते, इसी लिये योगिराज कृष्ण ने अर्जुन को गीता में कहा था।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानितवचार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परन्तप। गी० ४। ५

हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं जिनको तू योग विधि न जानने के कारण नहीं जान सकता और मैं जान सकता हूं। केवल हिन्दुओं ही में इसका प्रमाण नहीं मिलता किन्तु मुसलमान योगी भी जिन्होंने ईश्वरोपासना,

पौ०-और यज्ञ तो करले परन्तु पितृयज्ञ उसके पितादि कर लेंगे ॥

आ०-तो महाराज ? बाकी चार यज्ञ भी वही कर लेंगे ?

पौ०-नहीं बाकी जरूर करना चाहिये।

आ०-महाराज ! जब एकांश छोड़ने का दोष न होगा तो सर्वांश छोड़ने का भी दोष नहीं ?

पौ०-सन्ध्यादि कर्म करले बाकी माता पिता ने कर लिये ?

आ०-तो क्या पुत्र के किये पिता को और पिता के किये से पुत्र को फल हो सकता है ?

पौ०-हां भाई होता है तभी तो संसार करता है।

आ०—क्या महाराज पितरोंका मरे पर श्राद्ध हो, जीतेजी नहीं !

पौ०—हां भाई मरे हुए पितरों का मरे पर श्राद्ध होना चाहिये क्योंकि जीते जी तो वह स्वयम् खा पी लेते हैं जब मरने के पश्चात् पितृलोक में उनको भूख लगती है तो पुत्र का दिया अन्न उनको मिल जाता है इस कारण उन के मरने के पश्चात् ब्राह्मणों को खिलाये ॥

र्मा हो वा पापी सब एक स्थान में जावें यह अन्धार है और आप यह बतायें कि पितृलोक में पितर कब तक रहते हैं ?

पौ०—इस का काल तो ठीक ज्ञात नहीं पण्डितों से सुनते हैं सैकड़ों वर्षों तक रहते हैं।

आ०—जब आपको ज्ञान नहीं कि वह कब तक रहेंगे तो आप उनको बिना जाने क्यों माल भेजते हैं ?

पौ०—इस में कुछ हानि नहीं जब तक पितृलोग वहाँ रहेंगे उनको पहुंचेगा पश्चात् हमारा पुण्य होगा ॥

आर्य समाजिक—कहिये तो मरों के साथ जीवितों का सम्बन्ध बना रहता है ?

पौराणिक—हां सम्बन्ध बना रहता है।

आ०-तो मरनेके राज जो लोग तिनका तोड कर कहते हैं कि जिसने किया उसको मिले या जैसा करता है वैसा फल पाता है।

पौ०-यह संसार का व्यवहार है ॥

आ-महाराज ! पिता पुत्र वा सम्बन्ध जीव में रहता है वा शरीर में या. जीव और शरीर विशिष्ट में ?

पौ०-जीव और शरीर विशिष्ट में।

आ०—जब जीव और शरीर विशिष्ट में पिता पुत्र का सम्बन्ध रहता है तो जब शरीर नष्ट होगया जीव अलग हो गया उस समय संबन्ध तो न रहा, जब सम्बन्ध न रहा तो उसका नाम पितृश्राद्ध कैसे होगा ?

पौ०—क्या जो श्राद्ध वेदों में लिखा है वह झूंठ हो सकता है ?

आ० क्या वेदों में मरे हुये पितरों का श्राद्ध लिखा है।

पौ०-क्या जीते का भी श्राद्ध होता है ?

आर्य समाजिक-श्राद्ध तो जीतों का ही होता है और जीतों का ही संबंधहै।

पौ०—इस में क्या प्रमाण है ?

आ०-इस में ईश्वरका सृष्टि नियम और तुम्हारा तीन पीढ़ी के पितरोंका श्राद्ध करना ही प्रमाण है ?

पौ० इस में ईश्वर का सृष्टि नियम किस प्रकार से प्रमाण है ?

आ०-देखो बालपन में जब पुत्र असमर्थ था तब माता पिता ने पाला रक्षा की इसी प्रकार जब वृद्धावस्था में माता पिता असमर्थ होते हैं तब पुत्र अपने धर्म के अनुसार श्रद्धा पूर्वक उनका सेवन करे।

पौ०-क्या पितरों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करनेका नाम श्राद्ध है और वह जीते पुरुषों का होना चाहिये इस में क्या प्रमाण है ?

आर्य सामाजिक-तुम्हारा तीन पीढी के पितरोंका श्राद्ध करना औरों का न करना।

पौ०—इस से क्या जीते हुये पितरों का श्राद्ध सिद्ध होता है।

आ०-हां ठीक २ यह हमारे पक्ष को सिद्ध करता है।

पौ०-किस प्रकार करता है ? युक्ति तो बताओ।

आ०-देखो वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की लिखी है और २५ वर्ष तक न्यून से न्यून विवाह करना लिखा है तो कम से कम २६ वर्ष में पुत्र और ५२ में पौत्र ७८ में प्रपौत्र होसकता है अब जंल तक इन के पुत्र हों तब तक उसका प्रपिता मह अर्थात् परदादा मरगये इस का परपोता अपने पिता पिता महावृद्ध पितामह तीन पुस्त वालों का श्रद्धा पूर्वक सेवन करसकता है, और इस से पञ्चमहायज्ञ जो कि नित्य कर्म हैं सध सकते हैं और इस पर भी निश्चित प्रतीत

होता है कि जितने समय तक एक पुरुष अपने पितरों का सेवन कर सकता है इस में पितृ लोक में जो पापी और पुण्यात्माओं के एक संग रहनेसे ईश्वर के न्याय में दोष आता है वह भी न रहेगा ।

पौ०-तुम्हारी इन बातों से तो गरुड़पुराण झूंठा प्रतीत होता है क्या व्यास जी का बनाया झूंठा हो सकता है ?

आ० तुम्हारे गरुड़पुराण का मिथ्या होना तो उसकी बातों से स्वयम् सिद्ध ही है और कृष्ण जी की बनाई गीता और गौतम ऋषि के बनाये न्यायदर्शन के देखने से यह सर्वथा मिथ्या प्रतीत होता है ।

पौ०-क्यों कर मिथ्या है ? जरा कहो ?

आ०-सुनो तुम्हारे गरुड़ पुराण में लिखा है कि जब जीव मरता है तब यम के दूत उसको लेने आते हैं और फिर लिखा है वैतरणी नदी के किनारे तक पहुंचाते हैं जिस के पुत्र वैतरणी पार कराने को गोदान करदेते हैं वह पार जाता है नहीं तो नदी में डूब जावे । भला यदि कोई पूछे महाराज यम के दूत निकम्मे हैं क्या जिसको यमद्वार में लेजाने को वह आये थे वह नदी में डूबजावे तो फिर यम के दूत क्यों आये थे और जो यहां नदी में डूब जावे वह तो यम के दूतों के सङ्ग यमलोक जावे वैतरणी में डूब कर कहां जाना होगा क्योंकि जीव तो नित्य है और नदी आदि में शरीर डूबता है सो तो वहां फूंक दिया गया हमारे वहुत से भोले भाई यह कहदेंगे कि दश गात्र करनेसे दश रोज में शरीर तयार होजायगा परन्तु दश रोज तक जीव कहां रहेगा और जो लोग वन में मत्यु पाते हैं उनका दशगात्रादि कभी कुछ नहीं हुआ वह कहां जायेंगे ? हमारे पौराणिक भाई कहेंगे कि वह प्रेत होगा परन्तु उन से प्रेतभाव पूछाजावे तो वह योनि वतादेंगे परन्तु गौतम ऋषि के सूत्र से-

"पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभावः" ॥ न्याय दर्शने ।

यह सिद्ध होताहै किय प्रेत्यभावकाहै नामहैं इस सूत्रके व्याख्यानमें वात्स्यायन मुनि ने अच्छे प्रकार निर्णय कर दिया है और कृष्णचन्द्र महाराज गीतामें लिखते हैं ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणिविहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही गी० ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है इसीप्रकार पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरको धारण करता है। हे देशके सज्जनो! आप जीते माता पिताका सत्कार और सेवन कीजिये धर्म के सिवाय और सब पदार्थ देकर भी उनका मान कीजिये जहां तक बन पड़े उनको आज्ञा पालन करो कभी भी उनका अनादर न करो इसीमें तुम्हारा कल्याण है यही मनुष्य जीवन का फल है॥

॥ इति ॥

अकालमृत्युमीमांसा ॥

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

हम को इस "अकालमृत्युमीमांसा" नामक विषय लिखने की आवश्यकता इस लिये हुई कि जब यह विचार कि यदि हम विचार कर देखें तो सृष्टि के आदि से आज तक जितने भी प्रसिद्ध युद्ध वीर धर्माराधक पुरुष हुए उन में से यदि पूर्वज वीरों की ओर दृष्टि डालें तो एक महान् ही आश्चर्य प्रतीत होता है। वह क्या आश्चर्य है? यह कि पूर्व के यावत् पुरुष अर्जुन भीष्मादि पर्यन्त वीर हुये हैं उनके भीतर कौनसा ऐसा बल था कि जिस के भरोसे वे सैकड़ों सहस्रों नहीं २ लक्षों क्रोड़ों वीर मनुष्यों के संग युद्ध कर ने को सन्नद्ध हुवा करते और किंचिन्मात्र भी भय उनको नहीं होता था, यहाँ तक कि पुरु जैसे छोटे राज्य वाले राजा भी सिकन्दर जैसे बड़े बादशाह के साथ स्वयं सेना रहित, चारों ओर से सेना से घिरा हुआ होने पर भी सिकन्दर से यह पूछे जाने पर कि हे पुरु! बतलाओ अब तुम अकेले ही हाथी पर आरूढ हो, चारों ओर से सिकन्दर की महा बलिष्ठ सेना से घिरे हुये स्वयं सेना रहित हो ऐसी दशा में तुम्हारे साथ हम कैसा व्यवहार करें? वह तनिक भी भय को प्राप्त नहीं होता और उस बल के आश्रय कि जो उन की आत्मा में वर्तमान है यह उत्तर देता है कि मुझसे वह व्यवहार करो कि "जो बादशाह बादशाहों के साथ करते हैं" अपने को भी बादशाह ही समझना ऐसी दशामें किस बल के आश्रय है।

प्रियवर ! आजकल के वीरयुवों की पूर्व काल के वीरों के साथ यदि तुलना की जावे तो हंसी आती है नहीं २ शोक होता है कि हा ! भारत वसुन्धरा ! क्या ऐसे वीर पुरुषों की सवित्री होने के स्थान में सम्प्रति वन्ध्या ही होगई ? परन्तु आप जानते हैं कि 'कारणाऽभावात्कार्य्याभावः, इस ऋषि प्रोक्त नियम के अनुसार पूर्वार्जित आत्मिक बल अपने कारण के नष्ट हो जाने से ही नष्ट होगया आवश्यकता इस ग्रन्थ की यह है कि "आवश्यक है कि उस कारण को जो इतने बड़े भारी आत्मिक बल (जिस से पूर्व काल के ऋषि और राजाओं की कीर्ति जगत् में सुप्रकाशित हुई) का हेतु है अन्वेषण (जहाँ तक हो सके) किया जावे जिस से परमात्मा की कृपा से पुनः वैसे ही वीर पुरुष उत्पन्न होने सम्भव होसकें। उन अनेकशः कारणों में से जो कि मनुष्यों को महा भीरु (डरपोक) बनाने का हेतु है। एक यह भी हेतु है कि "अकाल मृत्यु का विश्वास होना,, इस सबब से वे मनुष्य जो कि बड़े भारी धर्मवीर होने सम्भव थे अधर्मात्मा बनगये इसी विश्वास ने जो बड़े २ युद्धवीर होने संभव थे महा भीरु बनाया। कहाँ तक लिखें इसी कारण से यह भारत वर्ष जिसको मनु जैसे महात्मा भी यह कहा करते थे कि:-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः

ऐसी दशा में गिरा दिया कि जिस से अन्य देशों की तुलना में साधारण से भीगिर गया। सत्य है कि "सत्य मेव जयते नानृतम्" सत्य ही का जय होता है न कि झूठका इस झूठे विश्वास ने मनुष्यों के आत्मिक बल का सर्वथा नाश कर दिया क्योंकि सचाई ही बल और जीवन है झूठ मनुष्यों को निर्बल बना देता तथा मार देता है। यदि इस पुस्तक से थोड़े मनुष्यों को भी पर्याप्तउपकार होगा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हुवा अन्यकार्य्य में प्रोत्साहित हूंगा।

प्रथम इस से कि हम अकाल मृत्यु के होने और न होने की परीक्षा करें सर्व साधारण को यह समझ लेना आवश्यक है कि जो मनुष्य अकाल मृत्यु को मानतेहैं उन का यह अकाल मृत्यु शब्द भी ठीक है अथवा नहीं। यदि हमरे भाई इस शब्द का अर्थ यह करें कि "बिना काल के मृत्यु का हो जाना" तो यह सर्वथा अयुक्त है क्योंकि चाहे कभी क्यों न मृत्यु हो वह किसी न किसी काल में

न । अवश्य होगी विना काल के मृत्यु का होना असम्भव है। महात्मा कणाद ऋषि ने कहा है—

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥ वै० द०२। २।९

अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमानादि लक्षणों वाले काल का नित्य पदार्थों में अभाव होता है और अनित्य पदार्थों में भाव होता है इसलिये काल कारण है जो पदार्थ नित्य होता है उसमें हुवा, होता है, होगा इत्यादि व्यवहार नहीं होते। क्योंकि वह नित्य है। इसी प्रकार जो पदार्थ अनित्य होता है उसमें हुआ होता है, इत्यादि व्यवहार हुआ करते हैं जिस लिये कि मृत्यु होती है, अतः अनित्य है अनित्य होनेसे उसके साथ हुई होती है होगी इत्यादि कालकका संबंध है। जब मृत्युके साथ कालका सम्बन्धाहै तो यह कहना कि"विना कालके मृत्यु होजाना—सर्वथा अयुक्त है॥

प्र०—हम इसका यह अर्थ करते हैं कि' ईश्वरने जितनी आयु यावत् प्राणियों की नियत करदी है उस नियत कालसे पहिले अथवा पश्चात् किसी विघ्न विशेष से पहिले अथवा किसी सुकर्म विशेष से पश्चात् मृत्युका होना अकाल मृत्यु कहलाती है। इसका उदाहरण यह है कि जैसे एक दीपक तैलसे परिपूर्ण हो जब तक उसमें तैल रहेगा तभी तक वह दीपक जलता रहेगा यहां तैल उस दीपककी आयु समझना चाहिये। बस जैसे तैलसे परिपूर्ण दीपक, तैलके समाप्त होनेसे पहिले वायु आदि के लगने रूप विघ्नोंसे बुझजाता है इसी प्रकार आयुके अधिक होने पर भी नाना प्रकारके सर्पका काटना आगसे जल जाना पानी में डूबना रूप विघ्नोंसे, प्राणी आयु की समाप्तसे पहिले ही मर जाते हैं इसीका नाम अकाल मृत्यु है।

उ०—प्रथम तुम यह बतलाओ कि ईश्वर ने जो प्राणियों की आयु नियत की है वह ईश्वर के ज्ञान में है वा नहीं अर्थात् ईश्वर को आयु नियत करनेसे प्रथम यह ज्ञान था वा नहीं कि इस प्राणीकी ऐसे२ कर्मोंके अनुसार इतने काल तक आयु होनी चाहिये यदि कहो नहीं था तौ उसने कर्मों के अनुसार (जितने जैसे कर्म किये हों) आयु कैसे दी ? यदि कर्मोंके विरुद्ध दी तौ वह न्यायकारी नहीं। यदि तुम कहो कि ईश्वरको ज्ञान था तो ईश्वर के सत्य ज्ञानी होनें से जैसा ईश्वरने जाना था वैसा ही आयुका काल होना चाहिये। न कि पहिले वा पीछे अर्थात् जैसे ईश्वरने किसी प्राणीकी सौ वर्षकी आयु नियत की

और ईश्वरको यह ज्ञान भी है कि यह प्राणी सौ वर्ष तक जीवित रहेगा अब यहां यदि वह मनुष्य सौ वर्षसे पहिले वा पीछे मरजावे तो ईश्वरको जो यह ज्ञान था कि यह मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहेगा मिथ्या होगया। जिस लिये कि ईश्वर मिथ्या ज्ञानी नहीं है किन्तु सत्य ज्ञानी है अर्थात् जितने काल तक ईश्वरने आयु नियत की है वह ज्ञान कर की है और ईश्वरने जैसा आयुका काल जाना है उसके विपरीत हो नहीं सकता इससे सिद्ध हुवा की आयुकी समाप्ति से प्रथम कोई प्राणी नहीं मर सकता इस लिये अकाल मृत्यु नहीं होती ॥

प्रश्न—यदि आप ऐसा कहेंगे तो ईश्वरके सर्वज्ञ होनेसे जैसा ईश्वर ने जाना है वैसा ही मनुष्य पाप पुण्य करेंगे यदि न करेंगे तो ईश्वर मिथ्या ज्ञानी होजायगा, यदि करेंगे तो मनुष्यों का पाप पुण्यके करनेमें परतन्त्र होनेसे अथवा वह पाप और पुण्य ही नहीं कहला सकते और न किसीके भविष्यत् पाप और पुण्य दूर हो सकते हैं इनसे पापोंसे बचना भी असम्भव होगा। यदि आप इसे नहीं मानते तो आप उसे भी न मानिये कि जो आपने पहिले दोष दिया था क्योंकि दोनों पक्ष समान हैं।

उत्तर—प्रियवर! क्या ईश्वरने जैसे आयु नियत की है (जैसे कि तुम्हारा भी पक्ष हुआ है) क्या इसी प्रकार प्राणियों के पाप पुण्य भी नियत कर दिये हैं यदि किये हैं तो क्या तुम्हारे पास इसका पक्षपोषक कोई श्रुति स्मृति अथवा युक्ति सिद्ध प्रमाण है? यदि कहो कि ईश्वर सर्वज्ञ है तो इस लिये हम पूछते हैं कि क्या ईश्वर सर्वज्ञ होने से अपना अन्त भी जानता है यदि जानता है तो ईश्वर के सत्यज्ञानी होने से अनन्त नहीं रहेगा यदि कहो कि ईश्वर का अन्त ही नहीं है इस लिये जो पदार्थ अभाव रूप है उसको ईश्वर भावरूप नहीं जानता क्योंकि ईश्वर मिथ्याज्ञानी हो जायगा तो ऐसे ही यहां भी समझो कि ईश्वर जीव के कर्मों को अव्यवस्थित ही जानता है अर्थात् यह ज्ञान नहीं है कि यह कर्म इस प्राणी के नियत हैं क्यों कि यदि अनियत को नियत जान जावे तो ईश्वर मिथ्या ज्ञानी हो जावे इस लिये तुम्हारी शंका ही भ्रम मूलक है क्यों कि अनियत कर्मों का अनियत होने का ज्ञानही सत्य ज्ञान है परन्तु तुम्हारा पक्ष तो यह है कि आयु ईश्वरने नियत की है इस लिये नियत आयुके ही नियत होनेका ज्ञान सत्य ज्ञान है न कि अनियत कर्मोंके नियत होनेका ज्ञान। इस से अनियत और नियत की परस्पर तुलना करना अयुक्त है।

यदि तुम यह कहो कि आयु भी नियत नहीं है तो किस अवधि से पहिले

मरने की तुम अकाल मृत्यु कहोगे क्योंकि अनियत होने की दशा में कोई अवधि ही नहीं रहता। दूसरे अनियत मानने में तुम्हारे [पहिले जो पक्ष किया गया था उस] पक्ष की भी हानि होगी इससे प्रतिज्ञा हानि नामक निग्रहस्थान से निग्रहीत होजाओगे तीसरे आयु के अनियत मानने में ईश्वर का नियम ही क्या रहेगा। आयु का मिलना किसी कर्म का फल न रहेगा क्योंकि कर्म का फल अनियत नहीं होता तथा—

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । यो० २ । १३

अर्थात् मूल कर्मों के विद्यमान होने से ही योनि आयु और भोग होते हैं इस महर्षि पातञ्जलि के वाक्य की क्या संगति करोगे क्योंकि जब योनि आयु और भोग तीनों विपाक हैं तो वात्स्यायन मुनि के कथनानुसार (जो कि आगे दिखाया भी जावेगा) सब कर्मों के पीछे के जन्मों में विपाक (फलदायक) होने से इस जन्म के कर्मों से अगाड़ी और पूर्व जन्मों के कर्मों से वर्तमान जन्म की आयु नियत होनी चाहिये और तुमने जो यह कहा था कि जैसे दीपक अपनी आयुरूप तैल के होते हुए भी निर्वाण (बुझा हुवा) हो जाता है ऐसे ही मनुष्य भी अपनी आयु से प्रथम मर जाता है। यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम तो दीपक की आयु जिसने नियत की है वह मनुष्य होने से सर्वज्ञ नहीं हो सकता इससे दीपक के (तैल की समाप्ति से पहिले) बुझ जाने से भी मनुष्य को जो यह ज्ञान था कि यह दीपक जब तक तैल रहेगा तब तक प्रज्वलित रहेगा यदि मिथ्या होजावे तब भी कोई हानि नहीं क्योंकि मनुष्य के ज्ञान में भ्रमादि दोष होना सम्भव है परन्तु यदि आयु के नियत कर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा के ज्ञान में भी दोष आजावे तो बड़ी भारी हानि है। क्योंकि सर्वज्ञ होने से उसमें भ्रमादि दोष का होना असम्भव है इससे अल्पज्ञ और सर्वज्ञ की तुलना करना बड़ा भारी अज्ञान है—दूसरे—तुमने जो यह दृष्टान्त दिया कि दीपक तैल समाप्ति से पहिले ही बुझ जाता है तो यहां यह सोचना चाहिये कि जैसे किसी प्राणी की आयु सौ वर्ष की नियत की गई यदि वह पचास वर्ष की आयु में तुम्हारे कथनानुसार अकाल मृत्यु से मर जावे तो अब उसका दूसरा जन्म होगा तो वह शेष आयु पचास वर्ष जीवेगा और पचास वर्ष की समाप्ति होने पर मर जावेगा उस मनुष्य के विषय में तुम तो यह कहते हो कि 'जिस लिये कि यह सौ वर्ष तक जीवित न रहा, किन्तु पचास ही वर्ष में मर गया इसलिये यह अकाल मृत्यु से मरा है यह कहना ठीक है अथवा, वह अपने आयु के अनुसार ही मरा है यह कथन ठीक है ? तुम्हारे निकट उन मनुष्योंके विषयमें कि जो सौ

वर्ष से पहिले ही मर जाते हैं क्या प्रमाण हैं कि जो यह सिद्ध करे कि अकाल मृत्यु से मरा है अथवा पूर्व जन्मों की भोगी हुई आयु से शेष रही आयु को को भोग कर। तीसरे—तुम्हारे पक्ष में मनुष्य की सौ वर्ष की आयु होने में कल्पना करो कि किसी मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है और जब वह एक वर्ष का हुआ तब किसी ने मार डाला इसी प्रकार जब वही दूसरे जन्म में एक वर्ष का हुआ तब भी मार डाला ऐसे ही तीसरे जन्म में प्रयोजन यह है कि अकाल मृत्यु के सम्भव होने से सौ बार ही यदि एक २ वर्ष का हो हो कर अकाल मृत्यु से मर जावे अब उसने अपनी आयु में जन्म मरण का दुःख सुख तो भोगा परन्तु उसे कर्म करने का अवसर ही न मिला क्योंकि एक वर्ष के बच्चे को धर्मा धर्म का अधिकार ही नहीं इससे मनुष्य योनि जो उभय योनि माना गया ह वह नहीं रहा केवल भोग योनि ही रहा न कि कर्म योनि भी-प्र०—कर्मयोनि, भोग योनि और उभय योनि इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उ०—त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभय-देहाः॥ सां०॥ ६। १२४

महात्मा कपिल जी कहते हैं कि व्यवस्था से योनि तीन प्रकार की है १-कर्म योनि, २-उपभोग योनि ३-उभय योनि। इन तीनों में से कर्म योनि वे ऋषि हैं कि जो सृष्टि के आदि में मुक्ति से लौटकर आते हैं उन्हें कर्म योनि इस लिए कहते हैं कि वे पूर्व जन्म के पाप और पुण्य के अभाव से दुःख सुख नहीं भोगते किन्तु कर्म ही करते हैं अच्छों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा फल उन्हें उस जन्म से अलग जन्मों में मिलता है और उनका वह जन्म पुनः तत्वज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त होने के लिये ईश्वर की दया से होता है परन्तु वे कर्म में स्वतन्त्र हा रहते हैं दूसरी योनि उपभोग योनि है वे ईश्वर के न्यायानुसार केवल दुःख सुख भोगने के अर्थ ही होते हैं पाप पुण्य करने के लिये नहीं जैसे पशु पक्षी आदि। तीसरे उभय योनि जो दुःख सुख भोगने और कर्म करने के लिये भी होती है जैसे मनुष्य स्त्री। बस जो मनुष्य सौ वर्ष की आयु को लेकर एक एक वर्ष का हो हो कर सौ बार मर जावे तो उसे कर्म करने का अवकाश ही नहीं मिला तो उभय योनि न रही। चौथे तुम्हारे पास इस विषय में क्या प्रमाण हैं कि मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है यदि नहीं है तो आयु की अवधि न होने से किसी अवधि से पहिले मरने को अकाल मृत्यु कहोगे?

३८—सौ वर्ष की आयु होती है इस विषय में शब्द प्रमाण है जैसा कि सन्ध्या वेदमें भी लिखा है।

जीवेम शरदःशतम्।

अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीवें। और दूसरा प्रमाण यह है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः
एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुः

अर्थात् ईश्वर उपदेश करते हैं कि जीव? तू (वह) इस जन्म अथवा जगत् में (कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत) कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे, कब तक? (शतं समाः) सौ वर्ष पर्य्यन्त, इससे क्या लाभ होगा! (एवम्) इस प्रकार से (त्वयि नरे कर्म न लिप्यते) तुझ नर में कर्म लिप्त नहीं होगा परन्तु (नेतोऽन्यथास्ति) इससे अन्य प्रकार से कर्म लिप्त होने से पृथक् नहीं हो सकता। यहां भी सौ वर्ष की आयु बतलाई है॥

परिहार—तुमने जो इन दो मन्त्रों से सौ वर्ष की आयु सिद्ध की है यह ठीक नहीं क्योंकि तुमने पहिला मन्त्र यह दिया है कि—

जीवेम शरदः शतम्॥

हम सौ वर्ष तक जीवें इससे तुम्हारा पक्ष यह सिद्ध नहीं होता कि आयु सौ वर्ष की होती है प्रत्युत यह मन्त्र प्रार्थना विषयक है इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है हम सौ वर्ष की तक उमर जीवें इससे सौ वर्ष की ही आयु है यह सिद्धान्त नहीं होता। क्या जब यह प्रार्थना, की जावे हे ईश्वर हमें चक्रवर्ती राज्य का सुख दे, तब क्या यह सिद्ध होता है कि सब चक्रवती राजा हैं सब मनुष्यों का चक्रवर्ती राजा होना असम्भव नहीं तो क्या है!

इसी प्रकार सौ वर्ष के जीने के लिये प्रार्थना किये जाने पर सब मनुष्यों की सौ वर्ष की आयु समझना ही अज्ञान है। वास्तव में प्रार्थना उस वस्तु की की जाती है जो अपनी जाति में सबसे उत्तम हो। जितने राज्य हैं उनमें सबसे बड़ा चक्रवर्ती राज्य है इसलिये उसकी प्रार्थना की गई इसी प्रकार जितने प्रकार की आयु हैं उनमें सब से बड़ी मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है इसलिये उसकी प्रार्थना की गई। योगियों की चार सौ वर्ष तक अधिक से अधिक रहती है इससे उसको चार सौ वर्ष तक जीने के लिये इच्छा की गई इत्यादि, दूसरी प्रार्थना उस वस्तु की कीजाती है जो अप्राप्त (प्राप्त न हुई) हो और

इष्ट भी हो, यदि हमें सौ वर्ष की आयु प्राप्त है तो उसकी प्रार्थना कैसी ?

प्र०- यदि हम यह मान लेंगे कि आयु तो सौ वर्ष की है परन्तु बीच में जो विघ्न आवेंगे उनके हटाने के लिये प्रार्थना की जाती है तब क्या कह सकोगे।

समाधान- जब तुम्हारी अकाल मृत्यु अवश्य होनी है तो क्या प्रार्थना करने से हट जावेगी ? अथवा क्या कहीं प्रार्थना का यह फल लिखा है ? यदि नहीं तो तुम्हारा कथन ही अयुक्त है और तुमने जो दूसरा मन्त्र यह दिया था कि-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥यजुः०॥

इस मन्त्र से भी यह सिद्ध नहीं होता कि आयु सौ वर्ष की है किन्तु इसमें यह आज्ञा दी है कि तू सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। क्या परमात्मा ने यहां यह आज्ञा दी है तू सर्व शुभ कर्मों को कर और अशुभ कर्मों को परित्याग कर। इससे यह सिद्ध होता है कि सब जीवों ने शुभ कर्मों को ग्रहण और अशुभ कर्मों का परित्याग कर रक्खा है । इसी प्रकार ईश्वर की सौ वर्ष तक जीने की आज्ञा होने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि सब मनुष्यों को सौ वर्ष की आयु है क्योंकि आज्ञा भी सौ वर्ष तक जीने वाले को ही सौ वर्ष तक जीने के लिये दी जाती है नहीं तो आज्ञा कैसी ?

पांचवें तुम अकाल मृत्यु के माननेमें इसका क्या उत्तर दोगे कि जो मनुष्य सौ वर्षकी आयु अपने कर्मानुसार प्राप्त होकर अकालमृत्युवश बीच में मरगया और पुनः दूसरे जन्ममें शेष सौ वर्ष की आयु को भोगा ऐसी दशामें उसको जो एक मृत्यु और एक जन्म का दुःख हुआ वह किस कर्म से हुआ ?

उस दुःखको तीनही प्रकारसे मान सकतेहो यातो कारणसे या विनाकारण। यदि कारण से मानोतो उस दुःख के दोही कारणहो सकते हैं अपने पाप अथवा अन्य के पाप से अन्य की मृत्यु। यदि कहो कि विना कारण तो यहां सोचना चाहिये कि जन्म मृत्यु और कार्य हैं क्योंकि किसी कारण से होती हैं और कार्य विना कारण होता नहीं इसमें प्रमाण।

कारणाभावात्कार्याभावः वै० द०

अर्थात् कारण के न होने से कार्य भी नहीं होता इसीलिये विना कारण कार्य, मृत्यु जन्म नहीं हो सकते। यदि कहोकि कर्मोंसे अर्थात् पापसे, तो इस जन्मके

अथवा पूर्व जन्म के कर्मों से ? यदि कहो कि पूर्व जन्म के कर्मों से तो अकाल-मृत्यु ही नहीं रही। क्योंकि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही तो मृत्यु हुई जैसी कि ईश्वर ने उसके कर्मों के अनुसार नियत की थी। "यदि तुम कहो कि इस जन्म के ही पाप से हुई" इस में प्रथम तो इस जन्म के कर्मों का फल इसी जन्म में नहीं मिल सक्ता जो कि आगे युक्ति वा प्रमाण पूर्वक निराग्रह पुरुषों को संतोष जनक सिद्ध किया जावेगा।

इस कारण प्रथम तुम यह बतलाओ कि इसी जन्म के कर्मों से ही अकाल मृत्यु और अकाल जन्म होजाता है (क्योंकि दुःख सुख कर्मों का ही फल है) तो बहुतसे मनुष्य एक, दो, तीन, चार, पांच वर्षके होकर भी मर जाते हैं अब बतलाओ कि उनके मृत्यु और जन्म के दुःख का क्या कारण है क्योंकि तुमने जो कहा था कि इस जन्म के पाप ही का कारण है यह तो रहा ही नहीं क्योंकि एक दो वर्ष के बच्चे पाप व पुण्य कर ही नहीं सकते जब कर ही नहीं सकते तो उनकी अकल मृत्यु किस कर्म से हुई।

प्र०—बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि माता पिता के कर्मों से ही उनके पुत्रा को दुःख और सुख होता है इस से उनके ही कर्म से अकल मृत्यु मानलें ता क्या हानि है ?

समाधान-यह बात सर्वथा अयुक्त है क्योंकि प्रथम तो अन्य के कर्मों का फल अन्यको नहीं होता जोकि आगे सिद्धकिया जावेगा। दूसरे यदि माता पिता के कर्मों से ही अकाल मृत्यु हो तो यह क्यों ? "कि एक पुत्र जीवित रहे और एक मरजावे" किंतु दोनों पर एकसा ही प्रभाव होना चाहिये।

प्रश्न-हम उस बच्चे की मृत्यु पूर्व जन्म के कर्मों से ही मानलें तो क्या हानि है ? क्योंकि हम पूर्व जन्म के और इस जन्मके कर्मों से भी दुःख सुख मानते हैं।

समाधान-हानि तो कुछ नहीं परन्तु यह स्मरण रहे कि तुम हमारे पक्ष का तो खण्डन कर ही नहीं सकते क्योंकि उसको तुमने मान लिया है कि पूर्व जन्म के कर्मों से भी इस जन्म में फल मिलता है इसका खण्डन करना तो अपना ही खण्डन करना है तुम्हारा पक्ष है कि इस जन्म के कर्मों का भी फल मिलता है इस विषय में तुम्हें प्रमाण देने की आवश्यकता है।

प्र०-यदि बिना कारण मानलें तो क्या और भी कुछ हानि है ?

स०-बिना कारण मानोगे तो तुम्हारा ईश्वर कैसे सिद्ध होगा क्योंकि यदि विना कारण कार्य हो सक्ता है तो बिना ही कारण सृष्टि, स्थिति, प्रलय भी हो

आयगी पुनः सृष्टि, स्थिति और लय के कारण रूप ईश्वर का अनुमान कैसे होगा ?

प्र०–जो मनुष्य पांच वर्ष से आगे पाप-पुण्य करने के अधिकारी होजाते हैं यदि हम उनकी सौ वर्ष से पहिले की मृत्यु को अकाल मृत्यु मान कर उसका कारण उसके वर्त्तमान जन्म का पाप विशेष मानलेवें तो क्या हानि है ?

स–प्रथम इससे कि तुम उसकी मृत्यु के कारण इस जन्म के पाप मानो यह विचारलो कि इस जन्म के कर्मों (पाप-पुण्यों) का फल इस जन्म में मिल सक्ता है या नहीं ? निसन्देह यह तुम्हारा अज्ञान है कि इस जन्म के कर्मों का फल इसी जन्म में मिलजावे॥

प्र०–तुम्हारे पास इस विषय में क्या प्रमाण है कि इस जन्म का फल इस जन्म में नहीं मिल सक्ता ?

स०–इस विषय में न्यायशास्त्र के आचार्य महर्षि गौतम जी अपने रचे हुवे न्यायदर्शन के चतुर्थाध्याय में बतलाते हैं कि फल इसी में जन्म मिलता है या दूसरे जन्मों में। हम यहां उस प्रकरणके सूत्रों को न्यायदर्शन से उद्धृत करके लिखते हैं और अपने भाईयों से प्रार्थना करते हैं कि ध्यान देकर अवलोकन करें। जैसा कि—

प्रेत्यभावानन्तरं फलं तस्मिन् । वा० भा०

भाष्यकार वात्स्यायन मुनि जी लिखते हैं कि न्याय के आत्मा आदि १२ प्रमेयों में प्रेत्यभाव के आगे " फल " प्रमेय है इस लिये अब फल की परीक्षा करते हैं—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ।
अ० ४ । आ १ सू० ४४ ।

अर्थात् पकाना आदि की क्रिया का फल शीघ्र (तत्काल) देखने आता है जैसा कि भोजन कृषि [खेती] आदि क्रियाओं का फल कालान्तर में देखने में आता है जैसे अन्नादिक। इन दोनों प्रकारों के देखते हुवे हमें हवनादि शुभ कर्म और हिंसादि अशुभ कर्मों के फल में यह संशय होता है कि वास्तव में पाप पुण्य रूप क्रिया का फल (दुःख सुख) भोजन की भांति पाप पुण्य करने के पश्चात् ही मिलता है अथवा दूसरे जन्मों में—

आक्षेप–इस विषय में वाद विवाद करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि

प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक मनुष्य चोरी करता है और पकड़ा जाता है इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्काल चोरी का फल तत्काल ही मिल गया इससे सिद्ध हुवा कि इस जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है अब क्या कह सकोगे, इसका उत्तर महर्षि गोत्तम जी देते हैं कि:—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ।

अ० ४, आ० १, सू० ४५

अभिप्राय यह है कि संसार में पकड़ा जाना आदि फल प्रतीत होता है वह इस जन्म के कर्मों का फल नहीं है किन्तु पूर्व जन्मों में जो कालान्तर में पाप किये थे उनका फल है इसी प्रकार इस जन्म में होने वाले सब दुःख सुखों का कारण पूर्व जन्म के कर्म समझने चाहिये ।

शङ्का-वाह जी वाह ! जब कि प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि चोरी की, और पकड़े गये और कहते भी हैं कि चोरी से पकड़ा गया । भला ऐसी प्रत्यक्ष सिद्ध बात का तुम कैसे खण्डन कर सकते हो ? उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति वाधितन्यायः ।

परिहार, प्रियवर ! तुम सोचो कि संसार में तीन प्रकार की दशा प्रत्यक्ष होती है प्रथम यह है कि एक मनुष्य चोरी करता है और पकड़ा जाता है, द्वितीय यह कि एक मनुष्य चोरी करता है परन्तु पकड़ा नहीं जाता अर्थात् बहुत से चोर बच जाते हैं, तृतीय यह कि एक मनुष्य चोरी नहीं करता परन्तु पकड़ा जाता है । अब यहां यदि कर्म का यह स्वभाव माना जावे कि वह वर्तमान जन्म में ही फल देता है तो सब को एक समान होना चाहिये अर्थात् यह न होना चाहिये कि एक मनुष्य पकड़ा जावे और एक नहीं क्योंकि स्वभाव बदला नहीं करता । यदि मानें कि ईश्वर न्यायकारी और सब के लिये समान होने से यह नहीं कर सकता कि एक के कर्म का फल अभी देवे और एक का अन्य जन्म में

प्र०-यदि हम यह मानलें कि जिसके पूर्व जन्म के पुण्य विशेष हों वह पकड़ा नहीं जाता और जिसके पुण्य विशेष नहीं वह पकड़ा जाता है तो क्या हानि है ?

उ०-मानना न मानना कोई मनमानी बात नहीं है जब तक कि कोई प्रमाण न हो, क्या तुम्हारे निकट इस विषय में कोई प्रमाण है ? यदि नहीं तो अप्रामाणिक सिद्धान्त का उत्तर ही क्या दिया जावे ।

प्र०--जो मनुष्य चोरी करके पकड़ा जाता है वह भिन्न काल भिन्न देश और भिन्न अवस्था आदि के कारण। ऐसे ही जो नहीं पकड़ा जाता वह भीभिन्न काल, देश और अवस्था आदि के कारण, इसका क्या उत्तर दे सकोगे।

उ०--क्या तुम्हें विदित नहीं कि देश कालादि दुःख रूप बन्धन के हेतु नहीं हो सकते। जैसा कि महर्षि कपिल जी ने भी अपने सां० द० में लिखा है कि

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्।

सां० द० १२

अत्र विज्ञान भिक्षु व्याचष्टेनाऽपि कालसम्बन्धनिमित्तकः पुरुषस्य बन्धः। कुतः? व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सदा सर्वावच्छेदेन सर्वदा मुक्तामुक्तसकलपुरुषसम्बन्धात्। सर्वावच्छेदेन सकलपुरुषाणां बन्धापत्तेरित्यर्थः।

अर्थात् पुरुष को जो दुःखरूप बन्धन होता है वह काल के सम्बन्ध से नहीं होता, क्योंकि काल के नित्य व सर्व व्यापक होने से सब को सर्वदा दुःख होना चाहिये अर्थात् मुक्त और अमुक्त इन दोनों के साथ काल का सम्बन्ध है यदि काल के सम्बन्ध से दुःख माना जावे तो मुक्त भी (मुक्ति की अवधि से प्रथम ही) बद्ध हो जायेंगे इससे सिद्ध हुआ कि काल से दुःख नहीं होता

यदि कहो कि देश के सम्बन्ध से? दुःख रूप बन्धन होता है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि—

न देशयोगतोऽप्यस्मात्। सा० द० १३।

देश योगतोऽपिन बन्धः। कुतः ? अस्मात् पूर्वसूत्रोक्तान्मुक्तामुक्तसर्वपुरुषसम्बन्धात्। मुक्तस्यापि बन्धापत्तेरित्यर्थ। वि० भिक्षुः॥

अर्थात् देश [जगह] के सम्बन्ध से भी दुःख का बन्ध नहीं होता क्योंकि जो पहले सूत्र में दोष दिये हैं वे यहाँ भी आजायेंगे अर्थात् देश भी सर्वव्यापक और नित्य होने से मुक्त और अमुक्त जितने भी जीव हैं उन सब के साथ सम्बन्ध रखता है इससे मुक्त जीव भी मुक्ति की अवधि से पहिले ही बन्धनमें आजा-

यंगे इस से देश के सम्बन्ध से सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि कहो कि अवस्था के निमित्त से बन्धन (दुःख प्राप्ति) होता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

नावस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः । सां० द० १४

संघातविशेषरूपताख्या देहरूपा याऽवस्था न तन्निमित्तकोऽपि पुरुषस्य बन्धः । कुतः ? तस्या अवस्थाया देह धर्म्मत्वात् । अचेतनधर्म्मत्वादित्यर्थः । अन्यधर्मस्य साक्षादन्यधर्मत्वातिप्रसङ्गात् ॥ मुक्तस्यापि बन्धापत्तेरित्यर्थः ॥ इति विज्ञान भिक्षुः ॥

अर्थात् बाल्य, युवा, और वृद्ध होनेप शरीरको नाना प्रकारकी अवस्था होती है अर्थात् शरीर के संघात विशेष (परमाणुओं का निस्सरण और प्रवेश) होते हुए अवयवों के घटने बढ़ने आदि से जो एक देह का समुदाय हो जाता है वह बाल्य, यौवन और वृद्धत्व में प्रकारान्तर हो जाता है । सो बन्धन नहीं होता क्योंकि वह अवस्था पुरुष [आत्मा] से भिन्नका धर्म है आत्मा न बालक है न युवा है और न ही वृद्ध है किन्तु शरीर की ही ये अवस्था हैं जिस लिये कि अवस्था शरीर का धर्म है इस लिये इस से पुरुष का बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि अन्य के धर्म्म से अन्य बद्ध नहीं हुआ करता । यदि यह मानलें कि अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन और मोक्ष हो सकता है तो अति प्रसङ्ग हो जावे अर्थात् किसी बद्ध जीव के धर्म से मुक्त जीव बद्ध हो जायगा और मुक्त जीव के धर्म से कोई बद्ध मुक्त हो जायगा । इस से क्या सिद्ध हुवा कि अवस्था से बन्धन नहीं होता ।

असङ्गोयं पुरुष इति । सां० द० १५ ।

इति शब्दो हेत्वर्थे, पुरुषस्यासंगत्वादवस्थाया देहमात्रधर्मत्वम् इति पूर्व सूत्रेणान्वयः । पुरुषस्यावस्थारूप विकारस्वीकारे विकारहेतुसंयोगाख्यः संगः प्रसज्येतेति भावः । असंगत्वे च श्रुतिः । स यदत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन

भवति असंगोह्ययं पुरुष इति। संगश्च संयोगमात्रं न भवति। देशकालसम्बन्धस्य पूर्वमुक्तत्वात् श्रुतिस्मृतिषु पद्मपत्रस्थ जलेनेव पद्मपत्रस्थस्यासङ्गतायाः पुरुषस्यासंगतायां दृष्टान्ततः श्रवणाच्च । इति विज्ञान भिक्षुः ॥

यह शंका थी कि यदि पुरुष का ही धर्म अवस्था माना जावे तब उस से बन्धन होने में कोई दोष नहीं। इस विषय में महर्षि कपिल जी समाधान करते हैं कि इस पुरुष का किसी वस्तु से भी संग नहीं है किन्तु यह पुरुष असंग है क्योंकि पुरुष की अवस्था विशेष रूप को पुरुष में विकार मानने में पुरुष में विकार का हेतु जो कि संयोग [जैसा कि दो परमाणुओं में होता] है वह मानना पड़ेगा, इस से पुरुष असंग नहीं रहेगा परन्तु श्रुति में यह लिखा है कि—

असङ्गो ह्ययं पुरुष इति—

क्योंकि यह पुरुष असंग है । यहाँ संग का अर्थ संयोग मात्र नहीं लिया क्योंकि पहिले सूत्रों में काल और देश का संयोग कह आये हैं अर्थात् संयोगमात्र तो पुरुष और कालादि का होता है परंतु परमाणुओं की भांति नहीं होता तिस पर भी श्रुति स्मृति के अनुसार जैसे कमल का पत्र [पत्ता] जल में रहता हुआ भी उससे सम्बन्ध नहीं करता ऐसे ही जीवात्मा कालादि से संयोग होने पर भी उससे सम्बन्ध नहीं करता किन्तु अविद्या से अपने को फंसा हुआ समझ लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि देश, काल, अवस्था आदि पुरुष के बन्धन के हेतु नहीं है, इस कारण तुमने जो हेतु माना था वह नहीं रहा। अब इस से आगे न्याय दर्शन में जो और परीक्षा की है वह भी सुनिये।

सूत्रों के लिखने से प्रथम सर्व साधारण को यह भी जतला देना आवश्यक है कि इन सूत्रों के जो अर्थ किये जावेंगे वे सब वात्स्यायन मुनि के भाष्य और पञ्चानन भट्ट कृत वृत्ति के अनुकूल किये जावेंगे। यदि किसी को इन अर्थों में कुछ भी सन्देह हो वह प्रशंसित पुस्तकों से मिलावें सब के सब मिल जावेंगे और शङ्का निवृत्त हो जावेगी निदर्शनवत् हम पूर्व के दोनों सूत्रों का अर्थ जो कि वात्स्यायन जी ने किया है वह लिखे देते हैं शेष सूत्र पाठक वर्ग भाष्य में स्वयं देख लेवें।

४४ वें सूत्र—सद्यः कालान्त०इत्यादि पर वात्स्यायन जी "पचति दोग्धीति सद्यः फल मोदन पयसी, कृषति वपतीति कालान्तरे फलं शस्याऽधिगम इति। अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग काम इति एतस्याः फले संशयः"।

इस को हमारे लिखे भावार्थ से मिलाओ तथा ४५ वें सूत्र न सद्यः कालान्त इस पर वात्स्यायन मुनि" स्वर्गः फलं श्रूयते तच्च भिन्नेऽस्मिन् देह भेदात् उत् पद्यते इति न सद्यो ग्रामादिकामानामारम्भफल मिति"।

इस को भी हमारे लिखे भावार्थ से मिलाओ ठीक अर्थ मिलजायगा। अगले सूत्रोंका अर्थ भी जिस की इच्छा हो मिलावे अब पूर्व पक्ष करते हैं कि—

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात्॥ ४६ न्या०द०

अर्थात् तुम्हारा जो सिद्धांत है कि कर्म का फल वर्तमान जन्म में नहीं होता यह ठीक नहीं क्योंकि कर्म दुःख और सुख का कारण है जब हम इस जन्म में कर्म कर चुके तो कर्म का नाश [अभाव] हो गया जब कर्मका अभाव होगया तो दूसरे जन्मों में फल किसका मिलेगा क्योंकि कर्म कारण है और दुःख सुख उस के कार्य हैं बस जब कारण अर्थात् कर्म का वर्त्तमान जन्म में नाश होगया तब दूसरे जन्म में कार्य दुःख कैसे हो सक्ते हैं क्योंकि कारण के नाश होजाने पर कार्य नहीं रहता यह उन मनुष्यों का पक्ष है कि जो इस जन्म के कर्मों का फल इसी जन्म में मानते हैं अर्थात् भोगवादी नहीं हैं इसका उत्तर महर्षि गौतम जी यह देते हैं कि:—

प्राङ्निष्पत्ते र्वृक्षफलवत्तत्स्यात्। न्या०द०४७

अर्थात् जैसे वृक्ष और फल का कारण बीज है परन्तु वृक्ष और फल तभी उत्पन्न होंगे कि जब बीज (लगाकर) नष्ट हो जायगा जब तक बीज नष्ट न हो जावे तब तक न तो वृक्ष उत्पन्न होता है और नहीं उस के फल उत्पन्न होते हैं बस जैसे कि बीज के (पहिले ही) नष्ट हो जाने से ही उस के फल उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार कर्मों [पाप पुण्यों] के नष्ट हो जाने पर भी जन्मान्तरों में दुःख सुख होते हैं इससे कोई भी दोष नहीं और जैसे बीज की विद्यमानता में वृक्ष फल उत्पन्न नहीं होते इसी प्रकार वर्त्तमान कर्मों का फल वर्त्तमान में नहीं होता।

प्रश्न-तो वैशेषिक का यह सूत्र कैसे सत्य होगा कि 'कारणाभावात् कार्याभावः

उ०—यहां उपादान कारण से अभिप्राय है जैसा कि घट के प्रति मट्टी अर्थात् कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है।

निमित्त कारण से प्रयोजन नहीं क्योंकि वर्त्तमान में देखा जाता है कि निमित्त कारण (कुम्हार) के नाश होने पर भी घट का नाश नहीं होता इससे दुःख सुख के निमित्त कर्मों के नाश होने पर भी दुःख होते हैं और ऐसे ही बीज के नाश होने पर भी वृक्षादिक।

प्रश्न—जैसे हम खेती आदि कर्म का फल इसी जन्म में प्राप्त कर लेते हैं यदि इसी प्रकार पाप पुण्यादि का फल इसी जन्म में लें तो क्या हानि है?

उ०—यह ठीक नहीं क्यों कि जैसे वृक्ष संबन्धी जितने भी काम किये जाते हैं बोना सींचना आदि उन सब का उद्देश्य वृक्षरूप फल की उत्पत्ति है बस इसी प्रकार प्राणिमात्र के जितने कर्म हैं वे सब सुख दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्तिरूप उद्देश्यको लेकर हैं जब तक हमें उसका फल न मिल जावे तब तक ही वर्त्तमान काल माना जाता है बस तुम ने जो वर्त्तमान की कृषि आदि क्रिया से वर्त्तमान कर्मों की तुलना की थी वह ठीक नहीं क्योंकि जैसे खेती आदि के आरम्भ से लेकर समाप्ति तक वर्त्तमान कालहै इसी प्रकार संपूर्ण कर्मों का भी फल प्राप्ति तक (चाहे जब हो) वर्त्तमान काल समझना उचित है इस पर वात्स्यायन मुनि जी ने भी कहा है कि।

आरब्धक्रियासन्तानो वर्त्तमानः कालः पचतीति।

अर्थात् आरम्भ से समाप्ति तक सब क्रिया वर्त्तमान काल की होती है, "जैसे पकाता है" यही पकाना रूप क्रियाके आरम्भ से लेकर पकाने की समाप्ति तक वर्त्तमान काल कहाता है क्योंकि भूत काल तब होता जब यह कहते हैं कि पका चुका अर्थात् क्रिया की समाप्ति हो गई और भविष्यत तब होता जब यह कहते कि [पकावेगा] यहां क्रिया का आरम्भ ही नहीं हुआ इत्यादि। बस इसी प्रकार पाप पुण्य के आरम्भ से लेकर समाप्ति अर्थात् उन के फल दुःख सुखादि की प्राप्ति तक वर्त्तमान काल समझो।

शङ्का—तुम्हारे इस कथन से भी हमारी शंकाका परिहार नहीं हुआ क्योंकि जब हम इसी जन्म में फल प्राप्ति मानेंगे तब पुण्य पापके आरम्भ से लेकर इसी जन्म में जब तक फल [दुःख या सुख] मिलेगा तब तक वर्त्तमान काल मान-लेंगे प्रयोजन यह कि तुमने जो न्याय दर्शन के सूत्रों से यह सिद्ध किया था कि दुःख और सुख रूप फल, पाप पुण्य के करने के काल (अर्थात् जब पाप पुण्य करें उसी काल) में नहीं हुआ करते, इस सिद्धान्तसे हमारे सिद्धान्तमें कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि जैसे कृषि [खेती] आदिका फल न तो तत्काल ही मिलताहै

और नहीं जन्मान्तर में मिलता है प्रत्युत इसी जन्म में कुछ कालांतर में मिल जाता है इसी प्रकार पापादि का फल भी अन्य जन्मों में नहीं मिलता, हाँ इसी जन्ममें कालान्तरमें मिलजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि आप कर्म फल की प्राप्ति को अन्य जन्म में सिद्ध न करके न्याय दर्शन से कालान्तर में सिद्ध करते हुए भी 'भोगवाद, को सिद्ध करना चाहें तो नहीं होसका, इसलिये यदि आप के निकट कोई न्यायदर्शनका ऐसा प्रमाण है कि जिससे कालान्तरही नहीं किंतु जन्मांतर में ही कर्म फल सिद्ध करे तो बतलाइये।

समाधान—आपने जो शंका की वह ठीक है अर्थात् अनेक मनुष्यों को यह भ्रम होसक्ता है कि कालांतर से अभिप्राय अगामी जन्म कैसे हो सकता है इस शंका का सामाधान महर्षि गौतम जी के सूत्रों से स्वयं होजाता है कि गौतम जी ने "कालांतर से अभिप्राय जन्मांतर ही लिया है" इस बात को हम आगे दिखा वेंगे परन्तु क्रमागत प्रकरण में वादी ने "भोगवाद" विषय में एक और शंका की है इसलिये प्रथम हम उस शंका का उत्तर बतला देवें।

वादी की यह शंका कि तुम्हारा जो यह सिद्धान्त है "पाप व पुण्य दुःख तथा सुख के कारण हैं" यह सिद्धांत तब सत्य हो जब आप संसार में कार्य कारण भाव अर्थात् कार्य और कारण का होना सिद्ध करदें क्योंकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि "न कोई किसी वस्तु का कारण है और न कोई वस्तु किसी का कार्य है।" यदि कोई कहे कि इस में क्या प्रमाण है तो इस विषय में वादी न्याय दर्शन का यह [पूर्व पक्ष का] सूत्र प्रमाण में देता है कि—

नासन्नसन्नसदसत्सदसतोवैधर्म्यात् , न्या० द० अ० ४ आ० १ सू० ४८

अर्थ-कोई पदार्थ किसी पदार्थ का कारण और कार्य नहीं क्योंकि कार्य कारण भाव मानने में इन तीन बातों का उत्तर नहीं होसकता। प्रथम यह कि कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है वह कार्य अपनी उत्पत्ति से प्रथम कारण में था यो नहीं? यदि कहो कि कार्य कारणमें नहीं था तो उपादान कारण का नियम नहीं रहे अर्थात् न तो बटके बीचमें वृक्षहै औरनहीं सर्षप[सरसों]के बीजमेंवृक्षहै। जब दोनों ही वृक्षसे रहित हैं तो वट (बढ़) के बीजसे बटका वृक्ष क्यों उत्पन्न हो। तथा सरसों के बीजसे सरसों का ही वृक्ष क्यों यदि कहो कि बढ़के बीजमें बट तथा सरसोंके बीजमें सरसोंका वृक्ष प्रथम ही था तोतुम्हारा यह सिद्धान्त नहीं रहा कि कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति से प्रथम विद्यमान नहीं रहता इस से

सिद्ध हुआ कि कार्य अपनी उत्पत्ति से प्रथम ही कारण में विद्यमान रहता है अब दूसरी बात यह है कि कार्य को यदि अपनी उत्पत्ति से प्रथम ही विद्यमान् माना जावे तो वह उत्पन्न ही नहीं हुआ क्योंकि उत्पन्न वह होता है जो पहिले न हो और फिर होजावे परन्तु कार्य उत्पन्न होनेसे पहिले ही रहता है तो न वह उत्पन्न हुआ और न कोई उसका कारण क्योंकि कारण भी उसी वस्तु का हुवा करता है जो अनित्य हो पस जो वस्तु उत्पन्न न हो वह अनित्य नहीं और न कोई उसका कारण है। तीसरी बात यह कि यदि कोई कहे कि हम कार्यको उसकी उत्पत्तिसे प्रथम विद्यमान् और अविद्यमान् भी मानलें अर्थात् कार्य उत्पन्न होनेसे पहिले होता भी है और नहीं भी होता यह भी ठीक नहीं क्योंकि किसी पदार्थमें दो विरोधी धर्म [स्वाभाविक] नहीं होते यदि हम कार्य का उत्पत्ति से प्रथम होना और न होना भी मानलें तो ये दोनों विरोधीहैं विरोधी होनेसे एकाधिकरण अर्थात् एककार्य में नहीं रहसकते, इससे यह सिद्ध हुआ कि न कोई किसी का कार्य है और नहीं कारणहै। जब यह सिद्धान्त हुवा तो पाप और पुण्य भी दुःख सुखादि के कारण नहीं जब यह सिद्धान्त हुआ तो पाप से दुःख और पुण्य से सुख कभी नहीं मिल सकता इस लिये तुम्हारा जो यह पक्ष था कि कर्मोंका फल दूसरे जन्मों में मिलता है यह नहीं रहा क्योंकि जब दुःख सुख के कारण ही पाप पुण्य नहीं हैं तो उनसे दुःख सुख कैसे होते, इस शंका का समाधान महर्षि गौतम जी इससे अगले सूत्र में करते हैं कि:—

उत्पादव्ययदर्शनात । न्या० द० । ४।१। ४९

अर्थ-महर्षि गौतम जी कहते हैं 'हमारा यह सिद्धान्त है कि कार्य अपनी उत्पत्तिसे प्रथम कारण में नहीं होता किन्तु उत्पन्न होताहै-क्योंकिसंसार में देखा जाता है कि पदार्थों की उत्पत्ति और नाश दोनों होते हैं यदि कार्य उत्पन्न होनेसे पहिलेही विद्यमान रहता है तो उत्पत्ति ही किसकी हो और जब किसी की उत्पत्ति न हो तो नाश ही किस का हो, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, अर्थात् प्रत्यक्षमें उत्पत्ति और नाश दोनों देखने में आते हैं इसलिये यह बात ठीक नहीं कि कार्य उत्पत्तिसे पहिले ही विद्यमान रहता है तथा च ।

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् । न्या० द० ४ । १ । ५०

अर्थ—यह बात बुद्धि से भी सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु सब पदार्थों का कारण नहीं होता क्योंकि यदि सब सब वस्तुओं का कारण होता तो जो मनुष्य आम का वृक्ष बोना चाहता है वह आमके ही बीजसे आम का वृक्ष बोने के लिये

प्रवृत्त नहीं होता, प्रत्युत आम के बीज से ही आमका वृक्ष बोने को प्रवृत्त होता परन्तु यह सब जानते हैं, आमके ही बीजमें ऐसी शक्ति है कि जो आमका वृक्ष उत्पन्न करे और में नहीं इससे सिद्ध हुआ कि कार्य कारण भाव सत्य ही है पाठकों को यह भी अवगत हो कि वादी ने जो यह कहा था, कि उपादान का नियम अर्थात् अमुक बीज से ही अमुक वृक्ष उत्पन्न हो, यह नहीं रहेगा यदि हम उस वृक्षको उत्पन्न होने से पहिले ही मानलें। इसका उत्तर उक्त समाधान में यह दिया गया है कि यद्यपि बीज के अन्दर वृक्ष नहीं होता क्योंकि वृक्ष के स्थूल होने से सूक्ष्म रूप बीज के अन्दर रहना असम्भव है तथापि प्रत्येक बीज में उसर वृक्षके ही उत्पन्न होने की शक्ति ईश्वरने रखदी है जिस कारण वह उसी वृक्षको उत्पन्न कर सकता है जिसका कि वह बीज है परन्तु यहां कोई ऐसी शंका करे, कि बीज के अन्दर यदि वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति है तो जब तक हम बीजको बोते नहीं तब ही क्यों नहीं वृक्ष को उत्पन्न करदेता इस से बीजके ही अन्दर शक्ति नहीं है। इस शंका का यह उत्तर है कि शक्ति ऐसा गुण है कि जो अनुद्भव दशा [जाहिर न होनेकी हालत] और उद्भव दशा (जाहिर होने की हालत) इन दोनों दशाओं में रहता है जैसे मनुष्य में बोलने को शक्तिहै परन्तु मनुष्य की इच्छा है कि वह बोले या न बोले अर्थात् जब बोलता है तब उस की शक्ति प्रकट हो जाती है और जब नहीं बोलता तब प्रकट तो नहीं होती परन्तु शक्ति रहती अवश्य है—इसी प्रकार बीज को बोना आदि उपयोगी कर्म करने से बीजकी शक्ति प्रकट होजाती है और जब तक नहीं बोया जाता तब तक यद्यपि बीजकी शक्ति प्रकट तो नहीं होती तथापि उस बीजमें रहती अवश्य है और यही कारण है कि प्रत्येक बीजसे सर्वप्रकार के वृक्ष फल, शाखा आदि उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उसमें सर्वप्रकार के वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। यही 'प्रत्येक कारण का सर्व कार्यों के उत्पन्न न करने' का कारण है। अब हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि 'हम प्रथम कह आये थे कि गोतमजी के न्या० द० के चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक में जो फल प्राप्ति (अर्थात् कर्मों का फल तत्काल मिलता है वा कालांतर में इस विषय की परीक्षा का प्रकरण) है वहां तत्काल का अभिप्राय इस जन्म का है और कालान्तर का अभिप्राय आगामी जन्म(इस जन्म के भिन्न अगले जन्मों)का है. इसी अभिप्राय को प्रकट करने वाले उसी प्रकरण के सूत्रों में. है कि:—

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ न्या० द० ४ । १ । ५

अर्थ—यह सूत्र पिछले सूत्र अर्थात् 'न सद्यः कालान्तरे०' इस सूत्र से लेकर 'बुद्धि सिद्धं तु तदसत्' इस सूत्र पर्यन्त सूत्र से आगे का पूर्वपक्ष सूत्र है। इस सूत्र में वादी 'महर्षि गौतम' के इस सिद्धान्त में कि 'जिस जन्म में मनुष्य पाप पुण्य रूप शुभाशुभ कर्म करता है, उसी जन्म में उस कर्म का फल नहीं मिलता किन्तु अगले जन्मों में मिलता है, यह शङ्का करता है कि तुम्हारा यह सिद्धान्त ठीक नहीं कि कर्म करें भिन्न जन्म में, और उसका फल मिले भिन्न जन्म में क्योंकि यह सिद्धान्त तुम्हारे दिये हुये 'वृक्ष' के ही दृष्टान्त से खण्डित हो जाता है अर्थात् तुमने जो यह कहा था कि जैसे वृक्षरूप फल का बीज कारण है अर्थात् बीज के बिना फल उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार बिना कर्मरूप बीज कारण के उसका फल दुःखादि उत्पन्न नहीं होता जैसे बीज के नष्ट होने (पृथ्वी में लग जाने) के अनन्तर ही कालान्तर में फल उत्पन्न होता है न तो बीज के नष्ट हुए बिना फल उत्पन्न होता और नहीं (नष्ट होने के अनन्तर) भी तत्काल अर्थात् उसी समय फल उत्पन्न होता। इसी प्रकार न तो कर्मों के नष्ट हुए बिना उनका फल होता और नष्ट होजाने पर भी तत्काल भी नहीं मिलता इत्यादि दृष्टान्त से ही तुम्हारा सिद्धान्त स्थिर नहीं रहता इसका कारण यह समझो कि तुम्हारे बीज, वृक्ष और फल के दाष्टन्त में बीज और बोना कर्म का उदाहरण है, फल दुःखादि का और वृक्ष शरीर का (क्योंकि जैसे बोना सींचना आदि कर्म और फल दोनों वृक्ष के आश्रय है इसी प्रकार पापादि कर्म और दुःखादि फल भी दोनों शरीर के आश्रय हैं अतः वृक्ष शरीर का उदाहरण है) यहाँ वादी यह कहता है कि जैसे सींचना आदि कर्म और (वृक्ष के) फल लगना आदि कर्म का फल दोनों का आश्रय एक ही वृक्ष है दो वृक्ष नहीं अर्थात् हम जिस वृक्ष को सींचते हैं उसी वृक्षसे हमको उसका फल मिलना है यह नहीं कि हम सींचे तो किसी वृक्षको फल मिले और वृक्षसे। इस से सिद्ध हुआ कि बोना, सींचना आदि कर्म उसका फल (वृक्षके आम्रादि फल लगते हैं वे) दोनों एक ही वृक्ष के आश्रय [सहारे] हैं परन्तु जो तुम्हारा दृष्टान्त [जिस कर्म फलादि के लिये वृक्ष का दृष्टान्त दिया था वह] है वहां दोनों अर्थात् कर्म रूप बीज का और दुःखादि रूप फल का एकही आश्रय नहीं है क्योंकि जिस शरीर में कर्म किया जाता है उसी शरीर में दुःखादि फल नहीं मिलता अर्थात् वृक्ष की भांति कर्म रूप बीज का और दुःखादि फल का एक ही आश्रय नहीं, इस लिये तुमने जो वृक्ष और बीज का तथा फल का दृष्टान्त दिया था उससे यह सिद्ध नहीं होता कि किसी और जन्म में फल मिले किन्तु यह सिद्ध होता

है कि कुछ काल में इसी जन्म में फल मिल जाता है। अब आप ध्यान दें कि यदि गत सूत्रों में आये हुए "कालान्तर" इस शब्द से गौतम जी का कदाचित् दूसरे जन्म का अभिप्राय न होता किन्तु किसी जन्म में कर्म करने के काल से भिन्न काल का ही अभिप्राय होता तो क्या वादी का यह सूत्र "जिसका अभिप्राय इस जन्म से नहीं किन्तु अन्य जन्म से है यह अति स्पष्ट है, इस विषय में शंका व्यर्थ है। क्योंकि शंका उसी पक्ष में की जाती है कि जिस को वादी मानता हो इस लिये कि वादी ने अन्य जन्म के कर्मों का फल अन्य जन्म में मिलता है इस जन्म में नहीं इस सिद्धांत में शंका की है इसलिये गोतम जी का यही सिद्धान्त समझना चाहिये और दूसरे इस शंका का उत्तर भी गोतम जी ने ऐसा ही दिया है कि जिस से कालान्तर से अभिप्राय जन्मान्तर स्पष्ट हो जाता है इसलिये पहिले जो कालान्तर शब्द आया है उसका अभिप्राय इस जन्म से नहीं।

वादी ने जो ५१ वें सूत्र में शंका की थी उसका व्युदास (परिहार अर्थात् खण्डन) ५२ वें सूत्र में यह लिखते हैं कि—

प्रीते रात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः । न्या० द० ४ । १ । ५२

अर्थ– वादी ने जो उक्त सूत्र में यह कहा था कि बीज, वृक्ष फलादि का दृष्टान्त जो कि कर्म शरीर और फल (दुःख सुख) के लिये दिया था वह ठीक नहीं क्योंकि बीज और फल का आश्रय एक ही वृक्ष है परन्तु कर्म और दुःख सुख का आश्रय एक ही शरीर नहीं है। इस शंका का समाधान महर्षि गोतम करते हैं कि हमारे सिद्धान्त में भी एक ही आश्रय है क्योंकि हम कर्ता और भोक्ता शरीर को नहीं मानते जिससे तुम्हारा यह कहना ठीक हो कि पाप और पुण्य का आश्रय अन्य शरीर है तथा दुःख सुख का अधिष्ठान (आश्रय) अन्य किंतु हम कर्ता और भोक्ता आत्मा को ही मानते हैं शरीर मन इन्द्रियादिक तो आत्मा के भोग के साधन हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे मूल (जड़) का सींचना आदि कर्म (जो कि उस वृक्ष का कारण है) और उस वृक्ष के फल (जो कि उस सेचन क्रिया का फल है ये दोनों) एक ही वृक्ष के आश्रित होते हैं, अर्थात् जिस वृक्ष को सींचते हैं उसी वृक्ष के फल लगते हैं न कि सींचें और वृक्ष को और फल लगें और वृक्ष के, इसी प्रकार यहाँ भी कर्म और दुःख सुख का आश्रय एक ही आत्मा है अर्थात् यद्यपि दूसरे जन्म में वे शरीर इन्द्रियादि नहीं रहते कि जिससे आत्मा ने पापादि कर्म किये थे किन्तु ईश्वरीय नियम से

अन्य शरीरादिक प्राप्त होते हैं तथा जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् कर्म करने और फल भोगने का आश्रय है वह तो एक ही है जिस आत्मा ने कर्म किये थे वही फल भोगता है अथवा जो आत्मा कर्म का आश्रय है वही दुःख सुखादि का। क्योंकि आत्मा नित्य है एक ही आत्मा पापादि कर्म करता है पुनः वही आत्मा जन्मान्तर में जाकर फल भोगता है, इसी से सिद्ध हुआ कि यदि महर्षि गौतम का यह सिद्धान्त होता कि कर्म और फल का आश्रय शरीर ही है तब वादी की शंका ठीक होती कि आश्रय भिन्न भिन्न है! अथवा कर्म और फल का आश्रय रूप जो आत्मा है वह भिन्न है, अर्थात् कर्म करने वाला आत्मा फल नहीं भोगता, और फल भोगने वाले आत्मा ने कर्म नहीं किये, या यह कहिये कि आत्मा अनित्य है इस सिद्धान्त के मानने पर गोतम जी का सिद्धान्त ठीक न होता परन्तु गोतम जी का इनमें से कोई भी सिद्धान्त नहीं इस लिये वादी का आक्षेप ठीक नहीं।

शंका— इस सूत्र पर वादी यह आशंका करता है कि तुम्हारा यह कथन कि दुःखादि फल, और तत्कारण पापादि कर्म का आश्रय एक ही आत्मा है जैसे कि उदाहरण में वृक्ष है— यह कथन ठीक नहीं क्योंकि इस का सत्य होना तब सम्भव हो जब तुम यह सिद्ध कर दो कि कर्मों का फल वास्तव में दुःख सुखादिक ही होता है अर्थात् जैसे वृक्ष का नियम है कि कर्म और फलका आश्रय एक ही होता है इस प्रकार यहाँ नहीं क्योंकि शास्त्रमें दुःख सुख मात्र को ही फल नहीं बतलाया किंतुः—

न पुत्र पशुस्त्री हिरण्यान्नादिफलनिदशात् न्या० द० अ० ४ आ० १ सू० ५३

अर्थात् श्रुतियों में पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद, हिरण्य (सुवर्ण) और अन्नादि को भी फल बतलाया है जैसा कि:—

पुत्रकामोयजेत

अर्थात्— जिसे पुत्रकी कामना (इच्छा) हो वह यज्ञ करें, इसमें यज्ञका फल पुत्र बतलाया है और॥

ग्रामकामोयजेत

जिसे ग्राम की अभिलाषा हो वह भी यज्ञ करे इस में यज्ञ का फल ग्राम को

बतलाया ह, ये दोनों तथा सूत्रपठित अन्य फल भी आत्मा के आश्रय नहीं हैं, इससे तुम्हारा यह कथन कि एक ही आश्रय होता है सत्य नहीं। इस का समाधान गोतम जी अगले सूत्र में करते हैं कि:—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः

न्या० द० ४।१।४५

इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि श्रुति में पुत्रादिको यज्ञका फल बतलाया है यह बात ठीक है तथापि उन श्रुतियों में पुत्रादि को "उपचार" से फल मान लिया है क्योंकि पुत्र स्त्री आदि पदार्थ सुख दुःखादि के साधन हैं अर्थात मनुष्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये ही प्रत्येक उपाय किया करता है जिन उपाय अर्थात् साधनों का एक भाग पुत्रादि समझने चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि पुत्रादि फल होना तो गौण अर्थात् कथन मात्र ही है किंतु पुत्र, स्त्री आदि के सम्बंध से जो आत्मा को सुखादिका अनुभव होता है वास्तव में वह सुख ही फल समझना चाहिये, बस जब यह सिद्ध हुवा कि दुःख सुखादिक ही वास्तव में फल हैं और पुत्रादि उनके साधन हैं इसलिये पुत्रादि में फल का व्यवहार उपचार मात्रही है तब वादी का यह सिद्धांत कि कर्म और फलका आश्रय एक ही नहीं है, असत्य सिद्ध होगया क्योंकि पुत्रादि सम्बन्ध अन्य (होने वाले) फल का आश्रय भी वही आत्मा है कि जिसने उसकी प्राप्ति के लिये कर्म किये थे। कदाचित् कोई यह कहे कि गोतम जी का यह सिद्धान्त है कि कर्म का फल इस जन्म में भी मिलता है और अन्य जन्मोंमें भी, बस यह सब शास्त्रार्थ उस पक्ष का समझना चाहिये कि जिस पक्ष में अन्य जन्म में फल माना। तो इसका उत्तर यहहै कि यदि गोतम जी का "इस जन्ममें ही इस जन्म के किये कर्म का फल मिलना रूप सिद्धांत मान लिया जावे तो इस सूत्रकी क्या सङ्गति करोगे।

न सद्यः कालन्तरोपभोग्यत्वात्। न्या० द० । ४ । १ ४५

यह सूत्र पहिले भी अर्थ सहित लिख चुके हैं। अर्थात् वर्त्तमान में जो दुःखादि फल दीखता है वह इस जन्म के कर्मों का भोग नहीं किन्तु पूर्व जन्म के कर्मों का भोग है इत्यादि अन्य अनेक दोषों के कारण यह विचार अयुक्त है।

विचारशील पाठको क्या अब भी आपको यह संदेह रहेगा कि 'अकालमृत्यु होती है, जब कि इस सिद्धातको "महर्षि गोतमजी" के साक्षात् सूत्रों से खण्डन

किया जावे, जब कि महर्षि कपिल कणादादि जैसे ऋषि (कि जिनकी उपमा संसार में नहीं मिलती, जिनके सिद्धांत ऐसे अटल हैं कि जिन का असत्य होना कालत्रय में भी सम्भव नहीं जिनके सिद्धांतों को महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी शिरोधार्य मान कर वैदिक धर्म को भूमण्डल में प्रसिद्ध किया) भी इस सिद्धांत को ठीक कहे जावें कि अकालमृत्यु नहीं होती तो भी यदि न मानें तो आप कौन हैं यह स्वयं विचार लेवें।

ऊपर के लेख से यह सिद्ध हो चुका कि वास्तव में ऋषियों के सिद्धांताऽनुसार तथा तर्क के द्वारा यह सिद्धांत ठीक नहीं कि "इस जन्म के कर्म का फल इस जन्म में मिलता या मिलसक्ता है'

एतेन भोगवादोपि व्याख्यातः ।

इससे, भोगवाद और अकालमृत्यु का होना ये दोनों व्याख्यात हुवे ।

पाठकों को स्मरण रहे कि हम पहिले कह आये हैं कि अन्य के कर्म अन्य को दुःख सुख पहुंचाने में कारण नहीं होते इस लिये हम उसकी सिद्धि में प्रमाण देते हैं। यहाँ प्रथम तो सांख्यदर्शन में भी कहा है कि।

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ सां० अ० १ सू० १६

इस सूत्र के भाष्य में विज्ञान भिक्षु लिखते हैं कि:—

"न हि विहितनिषिद्धकर्मणा पि पुरुषस्य बन्धः । कर्मणामनात्मधर्मत्वात् । अन्यधर्मेण साक्षान्यदस्य बन्धे च मुक्तस्यापि बन्धापत्तेरित्यर्थः ॥

अर्थात् विहित कर्म (जिनके करने के लिये आज्ञा दी है) और निषिद्ध कर्म [जिनके करने का निषेध किया है] इन दोनों प्रकार के कर्मों से आत्मा दुःख रूप बन्धन में नहीं आता क्योंकि कर्म करना चित्त का धर्म है आत्मा का नहीं और अन्य के धर्म से अन्य को दुःख रूप बंधन हो जावे तो जो मनुष्य बद्ध हैं उन के कर्म से मुक्त जीव [मुक्ति काल से प्रथम] बंधनमें आजावेंगे, तथा जो मुक्त जीव हैं उनके धर्म से बद्ध जीव मुक्त हो जावेंगे। इससे सिद्ध हुवा कि महर्षि कपिल जी के सिद्धांतानुसार अन्य के कर्मों से अन्य को दुःख सुखादि नहीं पहुंचते इसी प्रकार आगे भी सांख्यशास्त्र में कहा है कि—

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् । सां० द० अ० १ सू० ५२ ॥

कर्मणा दृष्टेनापि साक्षान्न पुरुषस्य बंधः। कुतः। पुरुषस्य धर्मत्वाभावात्। इति विज्ञानभिक्षुः॥

अर्थात् हिलना चलना रूप कर्म से भी आत्मा का बंधन नहीं होता क्योंकि वह आत्मा से भिन्न का धर्म है आत्मा का नहीं इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है।

इसी प्रकार' वैशेषिक, में भी बतलाया गया है कि अन्य का धर्म अन्य को दुःख सुखादि होने में कारण नहीं जैसा कि।

आत्मन्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्। वै० द० अ०३ आ० १ सू० ५

इस का आशय है कि आत्मान्तर अर्थात् अन्य आत्मा के किये हुए पाप पुण्यादि अन्य आत्मा के दुःख सुख रूप फलोपभोग में कारण हों तो कृत हानि और अकृताभ्यागम रूप दोष (जो कि ईश्वर के सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी होने से ईश्वर के न्याय में होने असम्भव हैं] आजोयंगे ऐसा ही अर्थ" वैशेषिक सूत्रोपस्कार,, रचयिता श्री शंकर मिश्र ने भी किया है वह हम उद् धृत करके लिखते हैं—

आत्मान्तरगुणानां यागहिंसादि पुण्यपापना मात्मान्तरे यौ सुखदुःखात्मकौ गुणौतयोरकार णत्वात्। एवं च प्रत्यात्मनियताभ्यामेव धर्मा धर्माभ्यां सुखदुःखे न व्यधि करणाभ्यामन्यथायेन यागहिंसादिकं न कृतं तस्य तत्फलं स्यादिति कृतहानिरकृताभ्यागमश्च प्रसज्येत,,

इसका अर्थ पूर्व कह आये हैं, विशेष" कृतहानि,, जिसने कर्म किया उसे न मिले और" अकृताभ्यागम,, जिसने न किया उसे फल मिल जावे यह समझना चाहिये।

इत्यादि अनेकशः प्रमाण हैं कि जिनसे' अन्य के कर्म से अन्य को फल न मिलना, सिद्ध होता है। परन्तु यह सिद्धांत प्रायः सब आस्तिकों को स्वीकृत है इस लिये अधिक लिखना व्यर्थ है।

पाठकों को अवगत हो कि यह पांचवें हेतु (जो युक्ति अकाल मृत्यु के न

होने में दी थी) का विस्तार है, अर्थात् अकालमृत्यु मानने वाले या भोगवाद, न मानने वाले न तो यह सिद्ध कर सक्के कि अकालमृत्यु और उस मृत्यु के पश्चात् जो जन्म है ये विना कारण हैं और यदि कारण से मानें तो दुःख सुखादि का कारण पाप पुण्य से अतिरिक्त हो नहीं सक्ता इस लिये कर्म से ही मानो। यदि कर्म से मान लें तो भी न इस जन्म के कर्म से सिद्ध कर सक्के और नहीं पूर्व जन्म के कर्म से, तथा नहीं अन्य जन्म के कर्म से सिद्ध कर सक्के। वास्तव में असत्य बात का कुछ उत्तर हो ही नहीं सक्ता इस लिये—

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जीने स्वनिर्मित सत्यार्थप्रकाशकी भूमिकामें लिखदिया है कि झूठ बात को छोड देना ही उत्तर है

प्रयोजन यह है कि वास्तव में अकालमृत्यु आदि विषय आर्ष ग्रंथों को न पढने, या न समझने अथवा उनपर विश्वास न होने आदि के कारण संसार में फैलगये, इसी से अधिक हानि हुई, हिंदुवों में जब यह सिद्धान्त देखने में आता है कि—

अकालमृत्यु हरणं; सर्वव्याधिविनाशनम्
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

अर्थात् विष्णु के चरण धोकर जो चरणामृत कहलाता है, यह अकालमृत्यु का हरनेवाला सर्वव्याधियों का विनाशक होता है, उस को जो मनुष्य पीलेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मुक्त होजाता है।

इस सिद्धांत का विश्वास हिंदुवों को तो था ही परन्तु आर्यों को भी अकाल मृत्यु का विश्वास देखने में आता है उसका कारण यह है कि संप्रति जितने आर्य नवीन हुये या होते हैं वे प्रायः अधिक हिंदू ही आर्य बनते हैं। बस वह विश्वास कि जो उन्हें आर्य होनेसे पूर्व था आर्य ग्रन्थोंके न विचारने न समझने आदि कारण से वैसा ही रहता है। परन्तु आर्य समाज का (जो कि सत् सिद्धान्त मानने वाला आर्य समुदाय है उसी का) इसमें क्या दोष है क्योंकि यदि कोई रोगी वैद्य के समीप जाकर रहे यदि वह वैद्य किसी कारण से उस का प्रतीकार करने पर भी वह रोगी तन्दुरुस्त नहीं तो क्या उस वैद्य का दोष है ? कभी नहीं।

हम पूर्व कह आये हैं कि महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगदर्शन के अन्दर के तीन कर्म विपाक हैं अर्थात् जाति (मनुष्य पशु आदि योनि) आयु और भोग [दुःख सुख] और विपाक सब के सब पिछले जन्म में होते हैं (कर्म करने के लिये जो जन्म हैं उस से अगले जन्मों में] इस बात को 'वात्स्यायन मुनि' जी ने भी 'न प्रवृत्तिः प्रति सन्धानाय हीन क्लेशस्य' इस सूत्र के भाष्य के अन्त में कहा है कि—

सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति॥

न्या० द० ४ । १ । ३४

अर्थात् सब कर्म पिछले जन्मों में विपाक को प्राप्त होते हैं, विपाक का अभिप्राय यह है कि जैसे बोया हुआ बीज कालान्तर में फल देने योग्य होता है, इसी प्रकार कर्म भी कालान्तर अर्थात् वर्त्तमान जन्मसे अगले जन्मों में ही फल दायक होते हैं पूर्व नहीं। कहां तक लिखें, अकालमृत्यु के मानने में कितनी हानि है अथवा "अकालमृत्यु, मानने में क्या २ दोष आते हैं और अकालमृत्यु मेंकिस किस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सकते, इस की संख्या विद्वान् ही समझ लेंगे, यहां ग्रंथ विस्तार भयसे सब नहीं लिखते। और यह जो कुछ लिखा है यह तो दिग्दर्शन मात्र अथवा निदर्शन मात्र हो समझना चाहिये इसीलिये 'स्वामी दयानन्द जी' महाराज जो कि अन्तिम ऋषि हुये हैं उन्होंने भी 'अकालमृत्यु' का न होना और भोगवाद, को होना मान लिया था जैसा कि उन्हों ने अपने मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश, जैसे उत्कृष्ट पुस्तक में भी लिख दिया है कि—

इस लिये पूर्व जन्म के पाप पुण्य के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

स० प्र० समु० ६ पृ० २६५

महाशयवृन्द ! क्या आप को अब भी सन्देह अथवा मिथ्याज्ञान रहेगा जो कि अकालमृत्यु के न होने में हिन्दुओं के लिये "गोतमादि" ऋषियों का कथन और आर्यों के लिये सब ऋषि तथा श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का प्रमाण है और अन्यों के लिये तर्क।

अब हम अकालमृत्यु के मानने वाले तथा भोगवाद न मानने वाले महाशयों से प्रार्थना करते हैं कि निष्पक्ष होकर इस प्रकरण को विचार कर तो देखें कि वास्तव में सत्य क्या है और असत्य क्या है ? यदि ये हेतु (दलीलें) असत्य हैं

तो इनमें असत्यता क्या है ? अथवा अकालमृत्यु के होने में कोई अन्य हेतु है या नहीं ? यदि नहीं। तो

सारं ततो ग्राह्य मपास्य फल्गु-
हंसैर्यथा क्षीर मिवाम्बुमध्यात् ॥

हिन्दुओं के मिश्रित (सच और झूठ मिले हुये) सिद्धांतों में से जैसे दुग्ध और जल में हंस अपनी विवेचन शक्ति से पृथक् २ करके दूध का ग्रहण और जल को त्याग देता है, इसी प्रकार तुम्हें भी उचित है कि सत्यासत्यमिश्रित सिद्धांतों में से सत्यका ग्रहण और असत्य का परित्याग करो।

हम सब को इस बात का चैलेंज देते हैं अर्थात् आह्वान करते हैं कि यदि किसी के निकट " अकालमृत्यु " के होने में कोई सद्धेतु हो तो वह बतलावे। अथवा हमारी बातों के असत्य होने में हो तो भी बतलावे। यदि न होने पर भी न माने तो स्वस्थिति स्वयं ही जाननी चाहिये।

बहुत से मनुष्य ऐसे दुराग्रही होते हैं कि जो कुछ बात उन के मुख से निकल जावे उसी की सिद्धि के लिये प्रयत्न करने लगते हैं, वे यह सोचते हैं कि यदि हम अपने मुख की बात को असत्य कहेंगे तो मनुष्य हमें मूर्ख अथवा असत्यवादी बतलावेंगे। परन्तु सोचना चाहिए कि यदि मनुष्य से कोई दोष (गलती) होजावे तो क्या यह आवश्यक अथवा उचित है कि वह सर्वदा उसी को सिद्ध करे, जब तुम बाल्यावस्था में कोई अयोग्य व्यवहार करते थे तो क्या यह उचित है कि सर्वदा वही व्यवहार किया जाओ ? बस जैसे यह अनुचित है वैसे ही यह भी। क्योंकि अज्ञ को भी शास्त्रकारों ने बालक माना है जैसे कि लिखा भी है।—

अज्ञो भवति वै बालः ॥ मनु०

अज्ञानी बालक होता है, प्रयोजन यह है कि मनुष्य को सर्वथा निर्भ्रान्त न होने से यदि कोई दोष वह कर भी दे तो उस को किसी प्रयोजन से मानते रहना अथवा सिद्ध करना मनुष्य स्वभाव से बहिः है।

' अकालमृत्यु ' के न होने और ' भोगवाद ' की सिद्धि में निदर्शन मात्र प्रमाण दिखलाये, आशा है कि यह विचारशील जनों को सन्तोष जनक होगा क्योंकि हमारे अर्थ के विरुद्ध न्या० द० आदि के अर्थ वात्स्यायन मुनि आदि किसी भाष्यकार ने नहीं किए, जिन्हें आप देख रहे हैं अब हमारे सिद्धान्त में

ओ दोष प्रतीत होते हैं उन सबका उत्तर देते हैं पाठक दत्त चित्त होकर विचार उनमें से प्रथम।

" आयु की वृद्धि और पक्ष का विचार "

है। इस का अभिप्राय यह है कि अकालमृत्यु मानने वाले प्रतिवादी अकालमृत्यु न मानने वालों के प्रति यह दोष देते हैं कि यदि तुम्हारा यह सिद्धांत है कि न आयु घटती और न हीं बढती है तो शास्त्रों में लिखा हुआ यह सिद्धांत, आयु घटती और बढती है कैसे ठीक सिद्ध होगा, क्योंकि यदि तुम घटना बढना मानोगे तो तुम्हें अकालमृत्यु भी माननी पड़ेगी यदि न मानोगे तो इसका क्या उत्तर दोगे ?

पाठकों को अवगत हो कि यह विचार पहिले भी आया है इस से हम उस से अधिक कुछ नहीं लिखेंगे क्योंकि वह इस विषय में पर्याप्त है हां जो प्रकरण यहां का उपयोगी है इस लिए हम प्रसङ्ग वश उसे लिखे देते हैं।

इति।

इससे आगे अगला भाग देखो !

नोट—४६ वें फार्म में जल्दी के कारण पेजों में उलट पुलट होगये हैं पाठक सुधार कर इस प्रकार पढ़ें।

छपा है	चाहिये
३४८	३६३
३६३	३६४
३६४	३६५
३६५	३६६
३६६	३६७
३६७	३६८

नोट—पृष्ठ ३६३ (शुद्ध किये हुए) के सबसे नीचे दो पंक्तियां छूट गयी हैं। द्वारा चित्त की वृत्तियों को एकाग्र कर लिया है, इस बातको मानते हैं कि हमारे बहुत से जन्म होचुके हैं देखो मौलाना रूम लिखते हैं।